श्रीमदाचार्यश्रीनिवासशास्त्रिकविनाथान्नविरचित

चन्द्रमहीपतिः

पार्वतीविवृतिसहित

कमला

प्राक्कथनलेखक

श्रीनरहरि विष्णु गाडगील

समालोचकौ

पं० श्रीहनुमत्प्रसादशास्त्री (संस्कृतभाषायाम्)

डा० श्रीशतकोटिमुखर्जी (आङ्ग्लभाषायाम्)

वाणी ममैव सुरसा यदि रञ्जयित्री न प्रार्थये रसविदामवधानदानम् ।
सायन्तनीषु मकरन्दवतीषु भृङ्गा किं मल्लिकासु परमन्त्रणमारभन्ते ॥

*　　　*　　　*

दानार्थिनो मधुकरा यदि कर्णतालैर्दूरीकृता करिवरेण मदान्धबुद्ध्या ।
तस्यैव गण्डयुगमण्डनहानिरेषा भृङ्गा पुनर्विकचपद्मवने वसन्ति ॥

निर्माणकाल १९९१ वैक्रम
प्रथममुद्रणकाल २०१६ वैक्रम

प्रकाशक
श्रीनिवासशास्त्री
११८ अमहर्स्ट स्ट्रीट
कलकत्ता ६

मूल्यम् रूप्यकपटकम्

पुस्तकप्राप्तिस्थान

(१) जावो १७ शिवतल्ला स्ट्रीट कलकत्ता ७
(२) भारद्वाज ट्रेडिङ्ग कम्पनी ५४ इजरा स्ट्रीट कलकत्ता १
(३) बम्बई पुस्तक भण्डार १९५।५ महात्मागांधी रोड कलकत्ता
(४) चौखम्बा संस्कृत सिरीज आफिस। चौखम्बा विद्या भवन चौक वाराणसी।
(५) भारद्वाज भवन राजगढ़ पो० सादुलपुर राजस्थान।
भारत के समस्त प्रख्यात पुस्तक विक्रेताओं के निकट।

वैयाकरणकेशरिणां

पूज्यजनक-
श्रीनवरङ्गरायशास्त्रिणां

करारविन्दयोः समर्पणम्

आराध्यदेव !

श्रीचरणसान्निध्ये समधिगतं शास्त्रज्ञानमयं-जगतो विभीषिकान्धतमस विलुम्पति । तस्य क्षीयमाणज्ञानप्रकाशस्य कतिपयानवशिष्ट-शब्दाणूनवचित्य न्यास एष सम्भालयितुम-शक्यः सम्भाव्यमानः श्रीमद्भ्य एव सादरं सश्रद्धं सलज्जञ्च प्रत्यावर्त्तमता समर्प्यते-

— श्रीनिवासेन

श्रावणी पूर्णिमा १९९१ वैक्रम.
भारद्वाजसदनम्,
राजगढ़, बीकानेर
(राजस्थान)

जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवाञ्जायते। तत्र—

ऋणं देवस्य यागेन ऋषीणां पाठकर्मणा।
सन्तत्या पितॄलोकानां शोधयित्वा परिव्रजेत्॥

इति हि धर्मशास्त्रकाराः समामनन्ति। तत्र ऋषीणां पाठकर्मणेतिवचनस्य तात्पर्यमिदमेव यदृषिभिः प्रज्ञानेत्रेण विलोक्य यद् ग्रन्थेषूपनिबद्धं तत्साभिनिवेशमनुशीलनीयं तदनुरूपा नव्याश्चापि ग्रन्था विरचनीया इति। एवमेवर्षिप्रतिपादितं रिक्थं परिरक्षितं परिवर्द्धितञ्च स्यात्, ऋषि ऋणञ्च निर्यातितं स्यात्। अधन्यतया पुनरस्माकमद्यत्वे खलु निरल्पतमा एव ऋषिऋणविनयाय प्रयासमातिष्ठन्ति, सुविरलतमाश्च तत्र साफल्यमधिगच्छन्ति। एष्वेव च सुविरलतमेष्वन्यतमः श्रीश्रीश्रीनिवासशास्त्रिमहाभागः। साहित्यव्याकरणादिविविधशास्त्रेषु कृतश्रमेण विपश्चिदपश्चिमेन शास्त्रिमहाभागेन रसभरनिर्भरेण गद्येन चन्द्रभूपतिकथा समुपनिबद्धा। "ओजः समासभूयस्त्वमेतद् गद्यस्य जीवितम्" इत्युपदेशमनुपालयतापि शास्त्रिमहोदयेन लेशतोऽपि प्रसादो न परित्यक्तो न वा माधुर्यमुत्सारितमित्यहो सुवर्णेऽपि परमामोदः। प्रमादा अत्र वर्तन्ते केचन, परं चारुतरतरुण्याः कपोलकज्जलवन्न प्रभवन्ति ते कथागतमुत्कर्षमपहन्तुम्। अवश्यमेव समास्वादनीयः कथाया अस्या रसः सहृदयैः। प्रतिविद्यालयं प्रतिमहाविद्यालयं प्रतिपुस्तकशालञ्च रक्षणीयमिदम्। पुस्तकस्यास्य कृते शास्त्रिमहोदयो राष्ट्रकर्णधारैः पारितोषिकेण संवर्द्धनीय इति नः प्रतिभाति।

अत्र पद्यान्यपि भूयांसि विलसन्ति। तेषु च कानिचन ग्रन्थकृत एव, अपराणि च तेषां तेषां कवीनाम्। सर्वाण्येव सरसानि मनोहराणि च। इतरकविषु च प्रतिवादिद्विरदपञ्चानने पण्डितराजजगन्नाथे शास्त्रिमहोदयस्य बहुमानो दृश्यते। शास्त्रिमहाभागस्य गद्ये पद्ये च सममेव नैपुण्यं परिलक्ष्यते।

चिरञ्जीवतु शास्त्रिमहोदयश्चिरञ्च समलङ्करोतु सुरसरस्वतीमौदृशीभिः सुमनोमालाभिरिति शिवम्।

८, भूपेन्द्र बोस एवेन्यू
कलकत्ता
२१।४।५६.

श्रीक्षितीशचन्द्रचट्टोपाध्यायः
मञ्जूषासम्पादकः

चन्द्रमहोपति



वैयाकरणकेशरी श्रीनवरङ्गरायशास्त्री



राजभवन
चण्डीगढ़।

पञ्जाबराज्यपाल महामहिम श्रीनरहरि विष्णु गाडगील महोदय का
प्राक्कथन।

मनुष्य प्रातःकाल उठ कर अपने शरीर के कार्य करता है, फिर अपने बान्धवों के, फिर मित्रों के, फिर दूसरों के। यह सब पहलुओं में लागू होता है। कुछ स्वयं बन कर राष्ट्र को बनाने का उद्देश्य उत्तमपुरुषों का सभी राष्ट्रों में रहा है। उन्हीं सब कार्यकलापों के एक प्रणालीबद्ध निरूपण को उस पुरुषोत्तम के द्वारा या बाद में एक वाद का स्वरूप मिलता है। इसी उद्देश्य से विश्व में विश्वहित के लिये विभिन्न वाद देखे जाते हैं। वाद के प्रणेता एवं उसके अनुगामी उस अपने वाद को ही सर्वाधिक विश्वजनहिताय मानते हैं। परन्तु इन सब वादों से ऊपर उठ कर इनकी वास्तविकता देखने से सभी अपूर्ण से दिखाई पड़ते हैं। यही कारण है कि अनेकों वाद विश्वमंच पर आये और विलीन हो गये। परन्तु सर्वोदय एक ऐसा समन्वयात्मक वाद है जिसमें स्थायित्व की क्षमता है। लेखक ने सर्वाभ्युदय का प्रयोग विशेष उद्देश्य से किया है और व्याख्या की है...'सर्वैः' 'सब मनुष्यों द्वारा' 'सर्वस्मिन्' 'सब काल और स्थितियों में' 'सर्वस्मै' 'सब के लिये' 'सर्वस्मात्' 'सब उपायों से' 'सर्वेषां' 'प्राणिमात्र का' अभि='समन्तात् उदय' सर्वाभ्युदयः।

इससे उसकी व्यापकता म और चार चाद लग जाते हैं, सबका उत्कर्ष और वह भी सर्वतोभावेन। लेखक की दृष्टि में यह कोई वाद नहीं अपितु स्वभाव है और वह स्वभाव मानव में सृष्टि के आदि से है।

सर्वे भवन्तु सुखिन सर्वे सन्तु निरामया ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दु खभाग् भवेत् ॥

यहा सब के लिये कल्याण और सुख की कामना है, बहुजनो के लिये नहीं। यह पुरातन ऋषि का सर्वप्रथम आशीर्वाद है, सकल्प है। यह कोई हवाई किला नहीं अपितु विश्वरोगों की व्यवहरणीय अव्यर्थ महौषध है। इसकी आधारशिला है आध्यात्मिक अद्वैत। समन्वय, सामञ्जस्य, सामरस्य इसकी प्रणाली है। यह वस्तुत जीवनमात्र के लिये जीवनामृत है। यह मानवनिर्मित वैषम्य को दूर करता है और प्राकृतिकवैषम्य को घटाता है। यहा प्राणिमात्र के लिये समादर प्राप्त है। इसमें स्वामी और नौकर का, मिलमालिक और मजदूर का अन्तर नाममात्र का रहता है। यदि घर में कोई नौकर कार्य करता है तो वह कृपा करता है कि अपना कार्य छोड कर हमारा कार्य करता है। अत उसके लिये हम हेय भाव नहीं रखना चाहिये, अपितु समादरभाव रखना चाहिये। "भोजन जीवनस्तरश्चाधिपतिसम स्यात्।" इसी प्रकार व्यापारिक प्रतिष्ठानों में काम करने वालों का अधिपति के समान स्वत्व होना सर्वाभ्युदय का उद्देश्य है। दस बीस आदमी मिल कर काम करें तो वह साझेदारी का काम है अगर उसमें कोई अधिक हड़पना चाहे तो वह बेइमानी है तथा चोरी है।

सर्वाभ्युदय का उद्देश्य है दूसरों के लिये जीवो, एसा समाज निर्माण जिसमें व्यक्ति को सर्वविध विकास का अवसर प्राप्त हो। इसमें न अमीर न गरीब, फिर भिक्षुक का तो प्रश्न ही नहीं।

आज श्रमी को श्रम का मूल्य नहीं मिलता। किन्तु यथाकथञ्चित् जीवनधारण के लिये कुछ मिलता है। शेष वह साझेदार हड़प जाता है जिसे आज की पूंजीवादी भाषा मे "स्वामी" कहा जाता है। इस हराम की कमाई का निराकरण सर्वाभ्युदय के लिये परमावश्यक है। यन्त्रों का उपयोग मानवविकास

के लिये हो, धनसंचय के लिये नहीं। आज मानवता संकट में है और उससे त्राण पाने का एक मात्र रास्ता है "सर्वाभ्युदय"।

हमारा इन शताब्दियों का इतिहास पूंजीवाद से प्रभावित होकर स्वार्थ-नीति से नितान्त दूषित रहा है। हममें से ही कुछ ने विदेशीय शक्तनायियों को भारतविदलन के लिये बुलाया। हमारे भीतर विद्यमान स्वार्थों के बल पर ही उनका शासन चला। मनमाने अत्याचार हुये और अन्त में भारतमाता के गाड हुये। आज भी यत्र, तत्र, सर्वत्र राजनीति, व्यापार और सम्प्रदाय में यह स्वार्थ ही सर्वोपरि है। सरकारी नौकरियों व व्यापारिक प्रतिष्ठानों में ऊँचे पदों में स्वार्थ व पक्षपात ही दृष्टिगोचर होता है। तिकड़मी स्वार्थी समानशील अधिकारियों से सांठगांठ कर भ्रष्टाचार फैलाते हैं। ऐसे अक्षम मनुष्यों से न तो समाज की रक्षा होती है न उत्थान। धनार्जनके अतिरिक्त इनका कोई उद्देश्य नहीं होता। इस प्रकार की धनलोलुपता से पतन अवश्यंभावी है। इन तथा समाज में व्याप्त अन्य समस्त दोषों के लिये सर्वाभ्युदयवाद अमोघ औषध है। आइये, हम स्वार्थपूर्ण इतिहास को उज्ज्वल बनाने के लिये कटिबद्ध हों।

हिमालय के समान उज्ज्वलधवल, आकाशके समान विशाल, वायु के समान व्यापक एवं सूर्य के समान सप्रभ संस्कृत वाङ्मय में गद्यग्रन्थों की अल्पताका कारण उस समय के रसिकों की रुचि का अभाव ही प्रतीत होता है। उस समय छन्दोबद्ध विषयों का ही जनता रसास्वादन करती थी। और विशेषतः पद्यात्मक रचना ही कविता मानी जाती थी। यही कारण रहा होगा कि इस वाङ्मय में गद्यग्रन्थ अगुलगणनीय ही रहे। अब इस ओर विद्वानों का ध्यान जायेगा तो अवश्य ही उसकी पूर्ति हो जायेगी। आधुनिक काल में साहित्य की श्रीवृद्धि में अधिक हाथ गद्यग्रंथों का ही रहता है। अन्य भाषाओं का साहित्य गद्यग्रंथों के ही आधार पर समृद्ध हुआ है।

क्रान्ति लाने में सबसे प्रथम काम साहित्य का है। उद्बुद्ध मनुष्यों के मस्तिष्क पर प्रभाव डालने वाला साहित्य ही भविष्य में क्रान्ति लाने की क्षमता रखता है। आज भी हम रावण का पुतला जलाते हैं और राम को पूजते हैं तथा कृष्ण को प्रणाम करते हैं और कंसको गाली देते हैं, विभिन्न

तीर्थस्थानों की यात्रा करते हैं। यह सब साहित्य के कारण हुआ और हो रहा है। अत उत्तम साहित्य ही राष्ट्रके स्थायी स्तंभ हैं।

कवि समय का प्रतिनिधि होता है, उसकी रचना यद्यपि इतिहास नहीं होती पर उस समय का ज्ञान अवश्य कराती है। यह बात प्रस्तुत लेखक की कृति के अन्दर सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। लेखक ने जिस विषय को चुन कर जो सर्वथा मौलिक अभिनवकृति साहित्य को दी है वह सामयिक तो है ही पर भावासौष्ठव से अभिराम व मोहक भी है। सम्भवत सस्कृतसाहित्य में यह सर्वप्रथम पुस्तक है जिसमें लेखक ने सर्वाभ्युदय की स्थापना की है।

पुस्तक का बाह्य कलेवर भाषा है। सर्वप्रथम उसी की ओर पाठक का ध्यान जाता है और वह आकर्षित होता है। भाव या उद्देश्य तक तो धीर गम्भीर बुद्धि वाले ही जा पाते हैं। प्रस्तुत पुस्तक की भाषा की छटा बहुत आकर्षक है जो लेखक को प्राचीन कवियों की श्रेणी में उपस्थित करती है। वर्णन में छोटे छोटे पदों के कारण सुगमता होवे हुए भी कहीं कहीं बाण और दण्डी के जैसे दण्डक भी हैं। यदर्थ लेखक ने अन्तमें लिखा है कि—न्यासि क्वचन कचन प्रीत्यै विदुषा मया नु काठिन्यम्।
नीरजमृदुला तन्वी कुचयो कठिनैव सम्भाति॥

प्रकृतिवर्णन

लेखक प्रकृतिवर्णन में अद्भुत योग्यता रखता है। पाठकों को इन मनोमोहक अशों का आनन्द अवश्य लेना चाहिये। लेखक इसी तरह आधुनिक शैली के प्रयोगमें भी सफल हुआ है।

उद्देश्यनिरूपण

यद्यपि पुस्तक के अन्तमें लेखक ने प्रतिपाद्य वस्तु का सर्वाङ्गनिरूपण किया है किन्तु पुस्तक के प्रथमपद में ही उसकी झलक प्रतीत होती है। सूर्यप्रभा के साथ प्रथम आलाप, स्वतन्त्रता सग्राम के मुकदमे का वर्णन, दुर्भिक्ष, बाढ और दुर्घटना आदि के विवरण में उसका प्रयत्न अनुष्ठान दिखाया गया है।

समस्त पुस्तक में लेखक के विविध विषयों के ज्ञान की स्पष्ट छाप स्थल स्थल पर दिखाई देती है, जिसके कुछ उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं। जीवन में प्रतिदिन व्यवहरणीय भोजनों तथा यन्त्रशस्त्रों व वैज्ञानिकतथ्यों का समन्वय साहित्यमयी भाषा में करके पाठकों के लिये एक अद्भुत उपयोगी कोष दिया है। यथा—

"प्रोढमनोरमेव कुचमर्दनेन सङ्कुचितशरीराभवद् यामिनी, विप्राश्च शब्दरत्नैर्भैरवीत्वं जहु विभावर्याः"। "नेत्राणीति सूत्रमिव आनार्यगुप्ति.", "व्याप्ति लक्षणमिव प्रभूतनिवेशभासमानः, खण्डनखण्डखाद्यमिव खण्डितानेकशासनः, शब्देन्दुशेखर इव सिद्धान्तव्याख्याता"। 'मुग्धगास्यो मधुरिरिव धार्त्रं शोऽलाकृतिः।'

'रसगुणगलितगरितारदस्वेवन क्षीणक्षयः साक्षाच्चन्द्र इवालक्षि'। 'स्वर्णाद्रिगिरिगुहायामामकनीयं रसायनमास्वचोर', 'प्रदर नाशयितुं पुष्पानुगमिव सेवमानायामनुपेयाभिर्दुग्धधाराभिरिव सिच्यमानायां वसुमत्यां", "त्रिविधकन्या सविमाना सासवा समस्तचूर्णा चरकसंहितेव वमी होलिका। सुश्रुता वाग्भटेन केनाप्यनुत्तरेण नावतस्थे।" "अस्या वाणी भगवद्भक्तिरिका कवितेव सरसा गाङ्गप्रवाहवत् स्वच्छा, दिग्गुहासवत् सरला, पतञ्जलिभणितिरिव भावपूर्णा सुबोधा च विद्यते।"

"चन्द्रस्तु न नाऽऽञ्जरूकौफकिंकासहकारमञ्जरीपीयूषपानपीनमधुरस्वरः", "आयुर्वेदधाममिव लक्ष्मीविलासभागी", 'प्रियवालमनोरमस्थानवर्ग इव', 'कामेश्वरमोदकमुदिता', 'रम्याणि चित्राणि पुण्यश्लोकानां सर्वांदोनां सर्वनामानि चाङ्कितानि सन्ति', 'रचितवृहन्न्यासो वररुचि, यामघरिःदैत्यारिः श्रोदो विग्गुदयो होतृकारः', 'मयूर इव मुखरमज्जायमानस्तनया', 'सोऽयं वारणार्थानामोप्सितः कालो वर्तते,' यत् कुङ्कुमेनाप्तकिनोऽविनोऽकुण्ठितः शास्त्रेषु गुम्फितो गुणरत्नैः, "अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः" इव सोदाहरणो राजा राजते।

कुछ ऐसे वाक्य हैं जो जीवन को उपदेश देते हैं, चमत्कृत करते हैं। यथा—

"स्मर! स्मर्तव्यः क्वाऽसि पुरभिदाऽशेषे जागर्ति जगति"। "दर्पेऽपि विषं भवति सौन्दर्येऽपि गरलम्", "अपटनोपपटनापटीयसः पाटवं खाटपाटस्य को जानीते", "अनुरागमिः कान्तारमन्तयन्ति", "दैवदत्तेन दृष्टः शान्तिलयेऽपि शिवमन्दिरेऽपि मुक्तो न तिष्ठति", "वस्तुतो रत्नं स्थान एव राजते", "पुमानुत्ते सर्वं विस्मरति", "महामदो लक्ष्मीविषम्," "आर्त्तवत्सलो भगवान् स्वतः सर्वं साधयति", "लिप्तकलङ्केन विधारमलिना सन्ध्या दाम्यां भेजे",

"भोजनप्रिये विप्र मनस्वितेव नेष्यते स्माह्लाद", "सुभिक्षे वणिगिव दुर्दश्यदशमासीन्नगरम्", "वैयाकरणकाव्ये रसानुभूतिरिव क्वचन क्वचन प्रेक्ष्यते स्म जनावस्थिति", "परतन्त्रताया घृतादनात् स्वतन्त्रताया घासादन गरीय", "मरुमणि प्रनावो घासमेव जघास", "स्वाधिनो देश्या वा स्युर्विदेश्या वा स्वार्थे लुण्ठतां रक्त शोषयता धनिना वा नान्तरम्", "कुशाग्रबुद्धि-रुद्योगशील सद्य साफल्यमश्नुते", "मृत्युमुख विशता कोऽवसर उत्सवस्य", "समुद्र शुष्कोऽपि मानस सरस्तिरस्कर्तु प्रभवत्येव", "दृढप्रतिज्ञ साहसिनं नर प्राकृतिक्यो बाधा निश्चितपथान्न निवारयितु शक्ता", "साधनाविरहित कथ प्राप्नुयान्मानवोऽभीप्सितम्", "मम प्रासाद साधनास्थल न भोगभूमि ","दोषा देव! भावनाश्रया ","मात्सर्य भोगभूमाविव भवति न साधनास्थले", "आप्रियमेलन प्रेयसीनां दु खम्", "प्रज्ञावता प्रज्ञायास्तदेव सुकर्म येनानाडम्बरमप्रदर्शन जगतो विराजो भगवतोऽफलाभिलाषमर्चन भवेदिति", "अहिंसा प्रेम च मानवस्वभाव", "वित्तच्छायायां नरो विवेकविच्युतो भवति ।"

अन्तमें सर्वाभ्युदयस्थापना मे महाकवियों के पद्यरत्नोंके गुम्फन ने इस स्वर्णपुस्तक को हीरकमण्डित सा कर दिया है। मैं चाहता हूँ कि इस प्रकार के सदग्रंथों का समाज मे अधिकाधिक आदर हो। और सद्य प्रचार की दृष्टि से इसका परीक्षाओं में सर्वत्र सन्निवेश हो, ताकि संस्कृतसाहित्य की श्रीवृद्धि को प्रोत्साहन मिले।

अन्तमें आधुनिक भाषा की इस उत्कृष्टतम कृति के विद्वान् लेखक कविराज श्रीनिवास शास्त्री को भूरि भूरि धन्यवाद के साथ आशीर्वाद देता हुआ परामर्श देता हूँ कि वे संस्कृतसाहित्य के विशाल भवन में इसी प्रकार के अन्य ग्रन्थ भी दें।

अत्यन्त आनन्द और स्नेह के साथ

चण्डीगढ

दिनाङ्क १९ ३ ५९

अभ्यस्तानेकदेशभाषोऽनल्पलिपिज्ञः कलिकाताविश्वविद्यालयस्य तुलनात्मक-भाषाशास्त्रे सम्मानिताध्यापको भारतशासनसङ्घटितसंस्कृतायोगस्य भूतपूर्वाध्यक्षः पद्म-भूषणो डा० सुनीतिकुमारचट्टोपाध्यायः M.A. (CALCUTTA), D.LIT. (LONDON)



সভাপতি	Chairman	सभापति
বিধান-পরিষদ্	Legislative Council	विधान-परिषद
পশ্চিমবঙ্গ	West Bengal, Calcutta	पश्चिमबङ्ग
কলিকাতা।	December 2, 1958.	कलकत्ता ॥

I have gone through the Sanskrit work in both prose and verse "CHANDRA MAHIPATI" which has been composed by Kaviraj Shri Shriniwas Shastri of the Shri Visuddhanand Saraswati Marwari Hospital in Calcutta This is a work of a new type in which he has sought to give in simple sanskrit prose, with verse stanzas in different metres occasionally interpersed, an exposition of the Sarvodaya ideal, in the form of a story. The Author has a very remarkable facility in the use of Sanskrit and he is a true poet to whom Sanskrit Versification in different Styles comes most easily. I am sure, a book like this will be very much appreciated by those who can read Sanskrit, and it should be useful for students of Sanskrit who want some good reading matter outside of the classical texts which they have to study.

I wish a wide publicity for this Book and I TRUST ON ITS OWN MERITS it will be accepted by our sanskrit Scholars all over the country.

Suniti Kumar Chatterji



GOVERNMENT SANSKRIT COLLEGE

Calcutta, the 14th January, 1959.

No. 2339/A1

I have gone through the book entitled "CHANDRA MAHIPATI" by Pt. Shriniwas Shastri, It has given me very great pleasure to notice that even in present time a Scholar can write sanskrit Prose with much ease and flexibility of style. I would only wish the book a wide publicity.

Dr. GAURINATH SHASTRI,
Principal
Sanskrit College, Calcutta.

Judge High Court



Calcutta

36, Ballygunge Park,
Calcutta-19.

I have read with great pleasure and interest CHANDRA MAHIPATI a sanskrit work of Kaviraj Shriniwas Shastri of S.V.S M. Hospital, 118, Amberst St, Calcutta-9. The book is well written. The Story rings true to the universal ideals of the Hindu Sanatan Dharma. The author has done a distinct service First, to the ideals of such Dharma and Secondly, to the cause of Sanskrit. It is a Commendable endeavour.

Dated Monday the 9th day of February, 1959

(Sd) P. B. MUKHARJI
(Honourable Justice High Court Calcutta)
President, Bangiya Sanskrit Shiksha Parishad.



MINISTER
Law Deptt. and Local Self-Government
and Panchayats Department
Government of West Bengal.
६ २-५९

मैंने पं० श्रीनिवासजी शास्त्री का "चन्द्रमहीपति" नाम का उपन्यास संस्कृत भाषा मे पढ़ा। शास्त्री जी ने इस उपन्यास को अत्यन्त सुन्दर रूप से लिखा है। इसके भाव और भाषा दोनों ही सराहनीय हैं। यह पुस्तक संस्कृतज्ञों के लिए पठनीय है। इस सफलता के लिए मैं पंडितजी का अभिनन्दन करता हूँ।

ईश्वरदास जालान

विश्वविख्यातश्रीसरआशुतोषमुखर्जीमहोदयज्येष्ठपुत्रस्य, लोकनायकस्य मुक्तात्मनोऽमरकीर्त्तेः श्रीश्यामाप्रसादमुखर्जीमहाशयस्याग्रजस्य न्यायसिन्धुरमाप्रसादमुखोपाध्यायस्य—

Phone ४८-१८९१ ७७, आशुतोषमुखर्जी रोड, कलकत्ता-२५

कविराजश्रीनिवासशास्त्रिविरचितं कथाकाव्यमालोक्य परां प्रीतिमाप्तवानस्मि। प्रशंसनीया पदविन्यासपरिपाटी, आधुनिकविभिन्नविषयाणामनुशीलनशैली, भारतीयसंस्कृतावनुपमानुरक्तिश्चास्य काव्येऽस्मिन् मया समवलोकिताः। व्याकरणसाहित्यायुर्वेदादिषु वैदुष्यमुपेयुषः शास्त्रिणः काव्यकलानैपुण्यं मनीषिमनःप्रीणनहेतुतामर्हति।

परमेशप्रसादात् श्रीनिवासस्य कवेः काव्यमिदं यशसेऽर्थकृते शिवेतरक्षतये चास्तु इति मे शुभाशंसा।

श्रीरमाप्रसाद मुखोपाध्याय न्यायसिन्धुः

कविचक्रचक्रवर्तिनश्चक्रवर्त्तिनो महामहोपाध्यायस्य श्रीकालीपदतर्काचार्यस्य कविकाव्यप्रशस्तिः —

श्रीश्रीनिवासशास्त्रिग्रथितं नानागुणैः समाश्लिष्टम्।
चन्द्रमहीपतिकाव्यं गद्यनिबद्धं मया दृष्टम् ॥१॥
गद्यं सहृदयहृद्यं कविगुणनिकषं चिरं वदन्त्यार्याः।
बाणसुबन्धुप्रमुखाः कवयो यत्र श्रिताः कीर्त्तिम् ॥२॥

संस्कृतकाव्यविभूतिं क्रमशः क्षीणां वसुन्धरापृष्ठे ।
दृष्ट्वा जनयति तापं सुचिरात्तत्रानुरक्तानाम् ॥३॥
पद्यं कथमपि हृद्यं बहवः कवयः सदा निबध्नन्ति ।
सम्प्रत्यपि सन्तोषं विदधति यत्नैरनायासैः ॥४॥
किन्तु न गद्यनिबन्धे भाति बहूनां विपश्चितां यत्नः ।
अथवा सत्यपि तस्मिन् स्वल्पजनानामिहोत्कर्षः ॥५॥
श्रीश्रीनिवासशास्त्री व्यरचयदेतद् यदुत्तमं काव्यम् ।
सुघटितगद्यमयं तत् सुखयति चित्तं सचित्तानाम् ॥६॥
वृत्तं बहुरसवित्तं निर्वृतचित्तं स्वया धियोपात्तम् ।
कवितोत्कर्षात् सत्यं प्राकृतमप्राकृतं भाति ॥७॥
नूतं कल्पनरत्नं कविना यत्नाद् वृतं परं चित्रम् ।
बाणप्रमृतिकवीनां स्मरणं येन प्रसिद्धानाम् ॥८॥
शक्तिः कापि समृद्धा स्वभावसिद्धा मतिर्नयाविद्धा ।
सुकवेरत्र समिद्धालङ्कृतिशास्त्रे तथा श्रद्धा ॥९॥
ललितालङ्कृतिरम्यध्वनिपदसुभगा कृतिर्यथा योषा ।
विलसत्सुरसविशेषा रसयति चेतो रसज्ञानाम् ॥१०॥
शब्दपयोनिधिपारं न किमयमाप्तः कवीश्वरो बाढम् ।
येन विवक्षितभावा विवृताः सर्वे स्फुटाकारम् ॥११॥
क्वापि सुरम्यं गीतं क्वापि सुपद्यं प्रसज्ञतो नद्धम् ।
सारस्वतगतिभेदे कथयति निखिले कवेर्दाक्ष्यम् ॥१२॥
प्रोच्छ्वसदच्छतरङ्गा रिङ्गति गङ्गा यथा निरासङ्गा ।
प्रसरति ललितोल्लासा तद्वत् सुकवेरितो भाषा ॥१३॥
एष हि काव्यनिबन्धः सुमधुरबन्धः प्रसाधितानन्दः ।
सुकवेरस्य किल स्याद् विजयपताका जगत्यस्मिन् ॥१४॥
दवयतु दैवतवाणीमृतिपरिवादं जनैः कृतोन्मादम् ।
मानरहितमहिमानं वहतु किलासौ ससम्मानम् ॥१५॥

श्रीश्रीनिवासशास्त्री सुकवियशोभि सुशोभयन्नाशा ।
रसिकविशेषानेव रमयतु नियत सरस्वत्या ॥१६॥

आमयविरहितमायुश्चिरसमयमीशाद्यावशाद्वातु ।
एव ललितनिबन्धैरान्ध्य जगतस्तथा छिन्द्यात् ॥१७॥

ईदृशकाव्यविचारात् विबुधा मुग्धा इह विबुध्यन्ताम् ।
सस्कृतभाषामसमा राष्ट्रियभाषापदे येग्याम् ॥१८॥

जयति कविकुलश्री श्रीनिवासो नवीन
सुमधुरसुरवाणीगद्यविद्याप्रवीण ।
जयति विबुधवाणी तेन दत्ताभिमाना
जयति भरतभूमिस्तद्गुणैरेधमाना ॥

१३६१ वङ्गाब्दीय सौरमार्गशीर्षस्य नवोदशदिवसीया लिपिरेषा । } महामहोपाध्यायश्रीकालीपदतर्काचार्यस्य ।

म० म० डा० श्रीयोगेन्द्रनाथतर्कसाङ्ख्यवेदान्ततीर्थानामाशीर्वाद —

कविराजश्रीनिवासशास्त्रिप्रणीतचन्द्रमहीपतिनामक सन्दर्भो मया साद्यन्त मवालोकि । सन्दर्भोऽयमधुनातनीं समस्या स्पृशन्, इदानीन्तनीं प्रणालीं व्यवहरन्, प्राचीनकवीना मनोज्ञमधुरा रीतिमप्यतिशयानो बाणस्य प्रबन्धसौन्दर्यम्, कालिदासस्य स्वाभाविकताम्, दण्डिन पदलालित्यम्, भारवेरर्थगौरवम् माघस्य पाण्डित्यम्, हर्षस्य वर्णननैपुण्यम्, त्रिविक्रमभट्टस्य श्लेषम्, शङ्करस्याद्वैतगिरातत्त्व पुन पुन स्मारयति । मन्ये सस्कृतसाहित्येऽयमपूर्वो विषयो लेखकेन साधिकार निबद्ध । अनेनास्य प्रसीदन्नह सस्नेहमाशिषा सयोजयामि ।

म० म० डा० योगेन्द्रनाथतर्कसाङ्ख्यवेदान्ततीर्थ डि० लिट्,
दिनाङ्क २७-२-५६

सत्यं परं धीमहि

महामहोपाध्यायमहाकविभारताचार्यश्रीहरिदाससिद्धान्तवागीशमहोदयानामाशीर्वचनं बङ्गाक्षरं देवनागरीलिप्याम्—

श्रीश्रीनिवासशास्त्रिप्रणीतं चन्द्रमहीपतिकाव्यमवलोक्य नितरामानन्दितोऽस्मि। येन हि पदे पदे अनुप्रासालङ्कारझङ्कारेण काव्यमिदं स्मृतिपथमानयति महाकविश्रीहर्षकृत महाकाव्य नैषधीयचरितम्। स्थाने स्थाने भावगाम्भीर्य्यं माधुर्य्यमातनोति। प्रायेण नानाविधा अर्थालङ्कारा नितरां प्रीणयन्ति हृदयम्। तन्मन्ये काव्यमिदं काव्यरसरसिकेषु पण्डितमण्डलेषु सर्वथा समादरं लप्स्यते इति।

श्रीहरिदाससिद्धान्तवागीशशर्मा

तारिख २२-७-१३६५

महनीयमहिम्नोः श्रीजीवन्यायतीर्थश्रीनारायणचन्द्रस्मृतितीर्थयोः—

गद्यपद्यरचनानिपुणश्रीश्रीनिवासकृतकाव्यविशेषम्।
चन्द्रभूपतिविचित्रचरित्रं शीलयन्नतुलमोदमुपैमि॥
शक्तिप्रकाशकुतुकी कविरेष नव्यं काव्यं परैरपरिशीलितमार्गगामी।
निर्माय निर्मलमतिः सुमनोमनस्सु सानन्दसान्द्ररससौरभमातनोति॥

भट्टपल्लीवास्तव्यश्रीश्रीजीवन्यायतीर्थशर्मणः

अत्र ममापि सम्मतिरस्ति प्रीतिमाशीर्वचोऽपि वितरतो भट्टपल्लीवास्तव्य-श्रीनारायणचन्द्रस्मृतितीर्थशर्मणः।

कलिकाताविश्वविद्यालयाध्यापकशास्त्ररत्नाकरविद्यासागरमीमांसा-न्यायसाहित्याचार्यश्रीपी०एन०पट्टाभिरामशास्त्रिणाम्—

पण्डितवरैः श्रीश्रीनिवासशास्त्रिभिर्विरचितं 'चन्द्रमहीपति'-नामकं मधुरं गद्यकाव्य-महमवालोकयम्। संस्कृतवाङ्मये गद्यकाव्यानां सत्यपि वैशिष्ट्ये तद्विरचने लोकानां प्रवृत्तिर्दुष्प्रायैव। तत्रापि सरसानां सरलानाञ्च गद्यानां वैरल्यमेवेति कथनं नासङ्गतमिव। तदिदं वैरल्यं श्रीशास्त्रिणोऽसहमाना इव ग्रन्थमिमं रचयाम्बभूवुरिति ते नितरामभिनन्दनीया

एव। अस्मिन् काव्ये न केवलं कथावस्तु सहृदयानां मनांसि रञ्जयति, वर्णनाचातुर्यम्, सरलानामेव पदानां गुम्फनम्, प्रायो दीर्घसमासराहित्यम्, शैल्या मधुरिमा आमूलचूल प्रसादगुणप्रवाहश्चेति नूनं हृदयान्यावर्जयन्ति। स्वतन्त्रेऽस्मिन् भारते शिक्षाधिकारिण इमं ग्रन्थं शिक्षाक्रमे संयोज्य साकं निलिम्पवाण्याः प्रचारेण श्रीशास्त्रिणः पुरस्कुर्युरिति विश्वसिमि।

६।१।५९ पट्टाभिरामशास्त्री

अधिगतमस्माभिरान्तमधीतञ्च जयपुराभिजनेन श्रीमता श्रीनिवासशास्त्रिणा विरचितं चन्द्रमहीपतिरित्याख्यमुपन्यासग्रन्थम्। एतादृशे मनोऽभिरामे वस्तुनि रम्यमिति नैकान्तत उच्चैर्वादः। पठितुं प्रवृत्तस्यारामाप्य त्यक्तुं खिद्यते पुरोवर्तिवृत्त-विज्ञानोत्सुकं चेतो जनस्य। सलीलापि सरलापि ललितबन्धशालिनी भाषेति यत् सत्यं सुवर्णे गन्धसम्बन्धोऽयम्। क्रमोत्कर्षमारोहन्ती विचित्रा घटनापरम्परा उत्कण्ठा-कण्टकितानि करोति पठतां चेतांसि। एतस्य परिच्छेदाः प्रत्येकमेकनिश्वासदसमाप्यतया निश्वाससञ्ज्ञामलभन्त। तत्र तत्र वर्णिता वनशैलकालादिरूपा प्रकृतिरपि वृत्तावर्त्त-पतितस्य संस्थापनामिव विदधाति मानसस्य। न केवलं गद्यनिपद्यायां पद्यद्रव्यामपि दृश्यतेऽस्य कवेर्महार्हं पण्यजातम्। एतानि च पद्यानि न केवलं सहजकवित्वसर-सान्यपितु विदग्धकविप्रतिभाभासुरैः श्लेषयमकचित्रादिभिर्भूषितानि चिन्ताशस्युन्मेषेऽपि किमपि साहाय्यकं विदधति पाठकानाम्। खलता खल्वधिगुणेष्वल्पभाषणमपीति विदन्नपि प्रसङ्गादिपर्यालोचनयानैव विरमन् नवीनस्यास्य कविप्रकाण्डस्योत्तरोत्तरोन्नति-मीशसकाशो मुहुरमाशासे इति शुभम्। साङ्ख्यतीर्थस्य श्री उपेन्द्रमोहनदेवशर्मणः।

१८८० शकीयसौरमाघस्य पञ्चमदिवसीयम्। | मुनीन्द्रविद्यायतनम् ४, आनन्द लेन, कलकत्ता।

सम्मतिरत्र श्रीनगेन्द्रनाथशास्त्रिणः, ईश्वरचन्द्रशास्त्रिणश्च।

श्रीबालाजीमन्दिरचान्दोदवडोदास्थश्रीधर्मचन्द्रोन्यपीठाधीश्वर
वेदान्तशिरोमणिश्रीमदनिरुद्धाचार्यवेङ्कटाचार्याणाम्—

सरलया सरसया संस्कृतभाषया सुन्दरतमं सरसमेकमुपन्यासं चन्द्रमहीपतिनामकं श्रीनिवासशास्त्रिणो निबबन्धु। यस्मिन् वर्त्तमानकालिको जनसमुदाचारः समुपन्यस्तः। काव्यरसिका कथारसिकाश्चैममवलोकेरन्नत्याग्रे इयाम। स्वतन्त्रया शैल्या कविः स्वाभिप्रायानाविष्करोति। अधिकरोति चोपनिबद्धा तेषु। ग्रन्थस्य कर्त्रे वेदोक्ता आशिष आशासाना वयं ग्रन्थस्य प्रथनमभिलषाम, इति शम्।

कलकत्ता—दिनाङ्क २८ १ ५९ अनिरुद्धाचार्यवेङ्कटाचार्य

ता० २५ २६ २७ दिसम्बर १९४० में प्रथम बीकानेरराज्यसाहित्य-सम्मेलन, डा० श्रीदशरथ शर्मा एम० ए० के सभापतित्वमे हुआ था। उसमें चन्द्रमहीपति को प्रथमश्रेणी का प्रमाणपत्र निर्णायकों ने दिया था, एवं नीचे लिखी सम्मति दी।

मैंने पण्डितवर श्रीनिवासजी शास्त्री द्वारा रचित चन्द्रमहीपति का कुछ अंश देखा एवं पढ़ा है, प्रयास वास्तव में स्तुत्य है। लेखक महोदय ने चरित्र एवं संस्कृतज्ञान दोनों का ही अच्छा परिचय दिया है। आपके चित्रालङ्कार वास्तवमें अपने ढगके बहुत अच्छे नमूने हैं। आशा है कि आप नवीन ढगसे कुछ नवीन उपन्यास एवं आख्यायिकाओं को लिखकर संस्कृतसाहित्यसंसार को अवश्य उपकृत करेंगे। आपने कथानक को पर्याप्त रोचक बनाया है प्रकृतिवर्णन की भी कमी नहीं। हम आशा है कि संस्कृतसाहित्य के विद्वान् इनकी कृति को अपना कर लेखक महोदय की उत्साहवृद्धि एवं संस्कृतसाहित्य की श्रीवृद्धि करेंगे।

२७।१२।४० (डा०) दशरथ शर्मा

बीकानेरराज्यसाहित्यसम्मेलनप्रधानसभापति।

डूगर कालेज, बीकानेर के हिन्दीविभागाध्यक्ष ख्यातनामा श्रीस्वामी नरोत्तम दासजी—

श्रीमान् पंडित श्रीनिवासजी शास्त्री की अभिनव अनुपम कृति चन्द्रमहीपति के कई अेक अंश मैंने देखे और सुने। यह ग्रन्थ पंडितजी की काव्यशक्ति का सुन्दर परिचायक है। वर्णना की निराली छटा के साथ साथ अलंकारादि का तथा व्याकरणविषयक विविध बातों का मनोहारी सौन्दर्य ग्रन्थ में सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। पंडितजी की यह रचना सर्वप्रकारेण अभिनन्दनीय है। आशा है अिस प्रकार की अनेकानेक सुन्दर रचना से पंडितजी अमरवाणी के भंडार को भरते रहेंगे।

पौषवदि १४ सं० १९९७ नरोत्तमदास स्वामी एम० ए०

सप्रमोदमिदमावेद्यते यद्राजस्थानीयविद्वन्मणिमालायामभिनवगणनीयमानस्य श्रीमत श्रीनिवासशास्त्रिण आयुर्वेदाचार्यस्याभिनवा कृति "चन्द्रमहीपति"—नामक सत्स्तोम्यायग्रन्थोऽद्यत समालोकि। इत प्रागपि कियाश्चिदशोऽस्य दृशो गोचरतामनायि। महानय हर्षावसरो यदधुनापि संस्कृतविदुपामुर्वराशक्तिसम्पन्न मस्तिष्कमीदृशि सर्वविधगुणसम्पन्नानि काव्यानि निर्मातुं प्रभवति। काव्यस्यास्य भाषा, भाव, रीति, गुणालङ्कारादियोजनं चेति सर्वमेव मनोहारि। अन्थरत्नमिद माधाय सूक्तिभिर्नुमंगवती भारती प्रसीदतामिति निर्मापयन मनसाऽऽशासे—

हनुमत्प्रसादशर्मा (साहित्याचार्य)

	विद्यावारिधि	प्रधानाध्यापक
सरदारशहर	विद्याधरशास्त्री एम० ए०	एच्० आर० संस्कृत कालेज
पौ० कृ० १३	संस्कृतविभागाध्यक्ष —	रामगढ (सीकर)
वै० सं० १९९७	डूगर कालेज, बीकानेर	राजस्थान

शब्दरत्नभाण्डागार इव ललितहास्यरसविसमन्वित संस्कृतभाषाविकासहेतुत्वादध्येतव्य सामयिकश्चायं श्रीनिवासशास्त्रिणश्चन्द्रमहीपति रमलानामको ग्रन्थ।

वृद्धिकामस्त्रिकालदर्शी तीर्थराजमिश्रज्योतिषी।

श्रीनिवासशास्त्री का चन्द्रमहीपति देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। वर्णनशैली, भाषा प्रवाह विशेषरूप से उल्लेखनीय है। मानसिक भावों का संघर्ष उपन्यास के तत्त्वों में प्रधान गुण माना जाता है जिसे सुन्दर रूपसे सन्निविष्ट किया है।

रामकृष्ण भारती, शास्त्री, बी० ए० साहित्यरत्न

सरदारशहर, २६।१२।४० सरस्वती कालेज, लाहौर

Sri Bhandarakere Mutt Udipi, (South Kinara)

Dated 2 2 1959 Camp कलकत्ता।

स्वस्तिश्रीमत्परमहंसपरिव्राजकत्वाद्यनेकबिरुदाङ्कितवैदिकाद्वैतमतप्रतिष्ठापकजगद्गुरुश्रीमन्मध्वाचार्यशुभसम्प्रदायप्रवर्त्तकश्रीमदुडुपिभण्डारकेरिमठाधिपतिश्रीविद्यामान्यतीर्थ-स्वामिपादाश्चन्द्रमहीपतिनामकग्रन्थकर्तृभ्य श्रीनिवासशास्त्रिभ्यो नारायणस्मरण पूर्वक निवेदयन्ति—युष्माकं चन्द्रमहीपतिनामको ग्रन्थ सर्वाभ्युदयायात्युपयुक्त प्रतिभासते, मनोहरकथाप्रसङ्गेन जनाना चित्त कर्षक इति मन्यामहे। अस्मिन् ग्रन्थे सर्वे जना आदर करिष्यन्तीति वयमाशास्महे, इत्यनेकनारायणस्मरणानि।

[वेदविद्याप्रयतमानमानस
कलिकाताख्यो व्यापृतवैश्यिर
श्रीकालीप्रसादखेतान]

Naurang
6 South End Park
P O Rash Behari Avenue.
Calcutta 29
22nd March 1959

The publication of CHANDRA MAHIPATI by Kaviraj Shriniwas Shastri is a very interesting event in the field of modern Indian literature It is a n vel written in modern Sanskrit The style is Composite partly of the old and partly of the new Ingenious forms of grammar and of descriptions of nature alternate with coined scientific expressions and modern political and social topics I must state frankly that all the translations of the scientific words are not likely to be accepted by the public But that does not affect the merit of the book It is a bold attempt to employ Sanskrit once again as a medium for popular literature What is more is that the book is bound to prove to be a source of inspiration to writers in Sanskrit even including himself .. . .

(Sd) Kali Prasad Khaitan



लेखकस्य द्वित्राः शब्दाः

युगद्वये व्यतीते पञ्चविंशतिं सम्प्राप्तो युवेव चन्द्रमहीपतिमञ्जूषातो निःसृत्य मृन्पूर-निरुद्धो बीजाङ्कुर इव श्रीमतां समक्षं समायात एव ।

सर्वत्र राष्ट्रे स्वातन्त्र्यपूरे प्रवहति, प्रत्येकस्य मानसे सुखेन समृद्धया च युक्तं राष्ट्रं द्रष्टुं व्याकुले, विदुषां संसारे विभिन्नभाषासु सत्स्वप्यनेकेषु ग्रन्थरत्नेषु "सर्वोऽप्यर्थो बुधैः स्पृष्टो यद्यपीह तथापि मे । सत्सन्दर्भा शब्दितता ममता केन वार्यते" । इति हृयुं कदिशा दुःसाहसेन मयैष निबद्धः । परं संस्कृतलेखकानामार्थिकी स्थितिर्भीषणा, प्रकाशनमतिदुष्करम् । अधुनैतत्प्रकाश्यते—इति विचार्यैवाहं प्रसीदामितमाम् ।

विंशे वयसि यौवनोचितया निरनुभवतया स्वेच्छाचारितया, अबहुज्ञतया, अनदूरदर्शितया च सह लेखनवचनाभ्यासः शैशवसुलभा पण्डितम्मन्यता चासीत् । अतः सन्दर्भेऽस्मिन् तत्सुलभमौद्धत्यं क्वचन क्वचन विद्यते । परिग्रहफल्गुत्वमपि शिशोः प्रमोदास्पदम् । तद्विदन्नप्यहं तथाविधमेव मुद्रापयितुं निरदिशम्, यतो बालकवेर्मानसस्य परिचयः पाठकैर्यथावल्लभ्येत । प्रौढकवीनां मकरन्दस्यन्दिन्यः पीयूषमाश्च्योतयन्त्यो हार्दकमय्यो रचना भवद्भिरनेकश आस्वादिताः, सम्प्रतीमां बालकाकलीमप्याकलयन्त्विति ।

पदार्थस्याभिव्यक्त्यै सन्धिनियमे क्वचन क्वचन शैथिल्यमवलम्बितम् । तदर्थं पूज्यान् धृष्टतायै क्षमापये ।

उपमानोपमेये समानलिङ्गवचनतायाः शास्त्रीया परिपाटी विद्यते, परम्, "नोपमा दूषणायालं यत्रोद्वेगो न धीमताम्" इति दण्डिनः काव्यादर्शस्याश्रयेण तां विद्वत्सह्यं परिवर्त्तितवानस्मि ।

महनीयमहिममण्डिताः कुन्दकुमुदविलसत्सत्कीर्त्तयस्तपोमूर्त्तयो मान्याः ! पुरा भारते भारवाहा अपि संस्कृतां वाचं भाषन्ते स्म । परमद्य तु कतिपय एव तत्र शक्ताः । यद्येवमेवाभविष्यत्तदा संस्कृतग्रन्थाः पुरातत्त्वविभागसंस्कृतागारस्य सम्पत्स्वरूपा एवाभविष्यन् । समस्तमस्तकमणुचिता अस्मदादिभिर्जीवद्भिरपि पुत्रैरुपेक्षिता जननी शोचनीया दयनीया चेदिद महद् दुःखावहम् । किं भवद्भ्य एतदेव रोचते ?

अवधार्यताम्, कथमद्य हिन्दी एधते ? नवोदितैषा कथ राष्ट्रभाषासिंहासन-मध्यास्ते ? कथमस्याः साहित्यश्रीरैधिष्ट ? तत्र कारणमासीद् यन्नवीनानामल्प-ज्ञानामपि रचना जनैरादृताः । विशेषतो न गणनीया अपि रचनाः परीक्षासु स्थानं

प्रापिता । एकशः आसन्नविंशानि संस्करणानि तेषां भूतानि । स्वल्पज्ञाना अपि लेखका कण्ठमधुरिम्णा मध्वमापूर्य तत्तुकान्तपदैर्यशो धनञ्चापु । फलतो नवीनाया अपि अल्पज्ञकोकबाहुल्येन लोकप्रियतामुपेताया हि या राष्ट्रभाषात्वं भूतमेव ।

पर संस्कृतम् ? प्रथमतो लेखका एवाङ्गुलिगण्या, तेऽपि दीना जीवनयात्रायां व्यपृता वीतरचनानैपुण्या विरचय्यापि प्रकाशयितुमकल्पा प्रकाशितेऽपि च क्रेतॄन् न लभन्ते । संस्कृतजीविनोऽपि संस्कृतग्रन्थान् क्रीत्वा न पठन्ति । संस्कृतपरीक्षा सञ्चालका विश्वविद्यालयेषु पाठ्यनिर्धारयित्रीसमिते संस्कृतसदस्याश्च नवीना रचना परीक्षासु न सन्निवेशयितुं गृहीतशपथा इव प्रेक्ष्यन्ते । केवलं प्राचीनानि घृष्टपिष्टानि पुस्तकानि निवेश्यन्ते । अस्यां स्थितौ कथं सम्भाव्येत संस्कृतोन्नतिः ?

परम्, सत्स्वपि विघ्नकष्टेष्वस्माभिः प्रतिज्ञातव्यम्, समस्तभाषाजनन्या आद्य भाषाया उन्नत्यै चेष्टितव्यञ्च । नवीनलेखकानां संवर्द्धने, स्वप्रभावेण नवीनरचनानां परीक्षासु सन्निवेशने लेखनप्रकाशनविक्रयणे च सोत्साहैरस्माभिर्भवितव्यम् । ग्रन्थ विक्रेतॄन् गत्वा नवीना कृती क्रेतुं जिज्ञासितव्यम् येन ता क्रय्यास्तिष्ठेयु । विद्यालये पठनाय वा एता कृतीरुपहर्तु प्रेरयितव्यञ्च । भवादृशानां विदग्धानां संस्कृत प्राणानां विदुषामाशीर्वचनैरेव दुरूहेऽस्मिन् पथि सानन्दं प्रयातुं पार्यते ।

देववाण्या अनन्योपासका अप्रतिमप्रतिभावन्तस्तस्यै सोत्साहमिदं विधास्यन्तीत्याशासानो विरमामि । अथवा मामकीन श्रमस्तु श्रीमतां करारविन्दयोराधानानन्तरं सुपरमति साम्प्रतमिमकर्त्तव्ये श्रीमन्त प्रणमाम् ।

एतावत्सरसिजकुडमलस्य कृत्य
भित्वाऽम्भः सरसि विनिर्गमो बहिर्यत् ।
आमोदो विकसनमिन्दिरानिवास-
स्तत्सर्वं दिनकरकृत्यमामनन्ति ॥

पुस्तकमिदं श्रीमतां समक्षमेव, करकङ्कणाय दर्पणं किम् ? प्रथमधीयतां श्रीमतां विचारान् ज्ञातुमहमुत्सुक ।

रामनवमी,
२०१६ वैक्रम
११८, अमहर्ष्ट स्ट्रीट
कलकत्ता ९
१७।४।५९

श्रीः

"चन्द्रश्चन्द्र इवातन्द्रः"

(समालोचना)

लेखकः—कविराजः श्रीहनुमत्प्रसादशास्त्री, साहित्याचार्यः, आयुर्वेदाचार्यः, विद्याभूषणः, विद्यावागीशः, संस्कृतार्णवः, जामनगरस्थे आयुर्वेदीयस्नातकोत्तरशिक्षणकेन्द्रे मौलिकसिद्धान्तविभागस्याध्यक्षः।

'वाग्जन्मवैफल्यमसह्यशल्यं गुणाद्भुते वस्तुनि मौनिता चेत्।'
नैवाद्रियन्ते बहुभाषिणं तु दुर्गे पथि प्रक्रमणं मदीयम् ॥

अयमुदयतेऽभिनवोऽपि परिपूर्णः, सकलकलोऽपि निष्कलङ्कः, सनिश्वासोऽप्यमन्दानन्दप्रकाशः, कथाकाव्यबन्धं बन्धुरयन्, उपन्यासावकाशं भासयन्, रसिकजनमनांसि चन्द्रयँश्चन्द्रमहीपतिः। इतो विंशतेर्वर्षेभ्यः प्रागयं काश्चित्कला एवादीदृशत्, अधुना स्वकिलाभिस्ताभिर्मध्येगगनं मोदमानो नभो द्विचन्द्रं चरीकर्ति।

यद्यपि भाषान्तराणां वाङ्मयानि गद्यैरेव तुन्दिलयन्ति वपूंषि, स्वल्पान्येव तेषु पद्यानि प्रचकासति। परन्तु संस्कृतवाङ्मयस्य कथैवान्यथा। इह तु वेदाः पद्यमयाः, पुराणानि पद्यात्मकानि, स्मृतयः पद्यगताः, आयुर्वेदोऽपि पद्यैः सुवेदः, आस्तामन्यत्, कोषोऽपि न पद्येषु निर्जीर्णः। छन्दोऽनुरोधादस्वच्छन्दा अपि तस्मिन्नेव पथि स्वैरं प्रासरन् कवय इति तु मन्ये देशस्यास्य आनन्दैकतानताया गानैकाभिव्यङ्ग्यताप्रसृत सद्गुणैरेव माहात्म्यम्। यद्यपि "नैकमोजः प्रसादो वा रसभावविदः कवेः" इतिवत् 'नैकं पद्यं न गद्यं वा रसभावविदः कवेः" इत्यपि वक्तुं शक्यम्, अन्वसरंश्च तमेतमाभाणकं बाणदण्डिसुबन्धुसदृशा महाकवयो निबबन्धुश्च ते निरवद्यैर्गद्यैरपि श्राव्याणि काव्यानि, तथापि ते सन्त्यङ्गुलिगणनीयाः।

अभून्नातिचिरातीतायां शताब्द्यामपि राजस्थानगौरवगीष्पतिः, नानाविधगद्यपद्यनिबन्धबन्धनैकविधिः, जेगीयमानावधानविधानावदानः, घटिकाशतकोपाधिः, श्रीमानम्बिकादत्तव्यासो नाम महाकविः, यदीयं 'शिवराजविजय' नाम गद्यकाव्यं सौष्ठवेन, सारल्येन, भाषाव्युत्पत्त्या, विषयनिरूपणपरिपाट्या चातीव प्रशस्यते मनीषिभिः। पुनरयमतति रङ्गभूमौ राजस्थानीय एव महाकविः श्रीनिवासो नाम वस्तुतः

सारस्वनीनिवासो विद्वन्मूर्धन्यश्चन्द्रमहीपति प्रकाशयन्नद्वितीयानपि महाकवीन् सद्वितीयान् विदधच्च ।

यद्यपीद युगमस्ति तुलनात्मकसमालोचनाया, तथापि कस्यचिल्लघनेन कस्यचिच्च महत्तेन बुद्धिभेदापादन पूर्वेषा कृतिकीर्तिविलोपनञ्च न रुचिर मन्यन्ते नीरागरोषा मनीषिण । नैव नासस्तादृशा अपि चाटुकारा केवलकवय कपयो ये दिनैकपर्या प्ताहारलाभपरितुष्टा पचग्रामाधोशमपि 'त्वमर्कस्त्व सोम' इति स्तुवन्तो वाच विग्लापयानासु, परन्तु न सर्वेऽपि तादृशा, न वा सर्वे कुचकचनयनवदनेऽम्रियन्त । यैर्हि राष्ट्रम् समाजम्, धर्मम्, संस्कृतिञ्च समुज्जीवयितु कृतो वाचो देव्या वरदानस्य श्लाघ्य सदुपयोग, वस्तुतस्ते त्रिकालवन्दनीया सर्वस्य जगत । श्लाघ्यताया अयमेव परीक्षानिकषो यज्जनसेवा सर्वाभ्युदयकामना च ।

प्रस्तुतमभिनव चन्द्रमहीपतिनामधेय काव्य परीक्षमाणा सर्वथा निर्दोषमेतदा कलयाम । इह कांश्चिद् दृष्टिकोणान् पुरस्कृत्यैव समालोचन विदध्म, ते चेमे क्रमश —

(१) लक्षणानुसरणेन यद्यपि कथाकाव्यमिद व्यपदेष्टु शक्यम् कादम्बर्यादिवत् वासवदत्तादिवच्च, कल्पितनायकादिमत्त्वात्, तथैवारम्भे बहुभि श्लोकैर्मङ्गलादिविमाच रणाच्च, तथापि तत्रैवात्र कथासम्बद्धाना नायकनायिकादीनां देशनगरादिपरिचय पूर्वमेव न दीयते, अपि तु घटनाक्रमेणौत्सुक्यमुत्पाद्य तदनु तदुपशान्तिरुपजन्यते । संस्कृतवाङ्मये सर्वथैवाभिनवोऽय पन्था आङ्ग्ल्यादिषु नवलकथावत्, हिन्द्यादिषूपन्यासवच्च कांचिदपूर्वा छटां विच्छुरयतीति उपन्यासकाव्यमिदमिति कथनमधिकमुचितं भाति । कल्पिततत्त्वेऽपीतिवृत्त तथात्र सुश्लिष्ट सुसङ्गत च यथा तस्य क्रमिके हृदयोपारोहे न मनागपि श्रमानुभव स्यात् । पाठक सकृत्पुस्तकं हस्ते कृत्वा लालसमानसोऽग्रेऽग्र वृत्तरसमास्वादयस्तत्परिचयाय त्वरमाणश्च समाप्ति यावत्तन्न जिहासति ।

(२) युवकाना युवतीनां चापि शृङ्गाराद्यभिव्यञ्जनावसरेऽपि न क्वचिदुच्छृङ्खलता नग्नता वाऽवलम्बिता, प्रत्युत "अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम्" इति नियमानुरोधेनौचित्यरक्षणाद् रसनीयता सर्वत्रैवाव्याहता लब्धु शक्या। ततश्च कुमाराणां कुमारीणां यूनां वृद्धानाञ्च सर्वेषां हस्ते निर्विचिकित्सं निर्विशङ्कञ्च दातुमर्हमिदम् ।

(३) काव्यैकप्रणयिनो रसिका यथेह समुचितेन, अलङ्कृतेन, सगुणेन, ललित

ललितेन बन्धसौष्ठवेन रसभरं निपीय मोमुदति, तथैव हि वैयाकरणा इदम्प्रथमतया निगुम्फितसूत्रसिद्धान्तादीनां काव्याङ्गतामनुभूय प्रसन्नान्तःकरणा भवन्ति, नैयायिकाः स्वनयेषु मनो नयन्तो नैपदपि तद्बुद्धिमतां निनीषन्ति, साङ्ख्याः स्वतत्त्वानि सङ्ख्याय सर्वथैतद् विविक्षापयिषन्ति, वेदान्तिनोऽप्यत्रानिर्वचनीयां शान्तिमनुभवन्तो न नोपसीदन्ति, बालकबालिका ललल्लीलारसालसाः स्युः, नैतिका नीतिवित्ताः, समाजोद्धारकाः सुधारधोरणीधीराः, सेवाहेवाकिनस्तत्प्रकारपरिचिताः, सभासमितिसंसद्राजदरबारव्यवहारनैपुणीप्रणीतमनसश्च तत्पटवः स्युः, किं बहुना, काव्यपुराणदर्शनायुर्वेदज्योतिषविज्ञानादिविविधविषयविशेषविपक्वचित्ताः सर्व एव स्वस्वपरिचितविषयोचितां सामग्रीमिह सम्प्राप्य सम्प्रमोदेयुः। अत एवोक्तं कविना—

वित्तो व्याकरणेषु काव्यनिपुणः पौराणिकेष्वग्रणी-
र्गण्यो दर्शनवेदिनां व्यवहृतौ सम्प्राप्तसम्पाटवः।
आयुर्ज्योतिरधीतिनां सुकुशलो विज्ञानविज्ञो मती
राष्ट्राचारविदां वरो वरमतिः स्पृश्यादिदं पुस्तकम्॥ इति।

इदृग्गोपस्तानिष्ठुरो नास्मिन् पुस्तके हस्तमपि दद्यादिति नैव निषेधे तात्पर्यमास्थेयम्, अपि तु किं किमत्र पुस्तके श्रमेण निगुम्फितमस्तीति स एव ज्ञातुं शक्नुयाद् यो ह्येतावद्योग्यतासम्पन्नः स्यात्, स्पृशेद् दृशेरिव ज्ञानसामान्यार्थवाचित्वादिति सर्वं समञ्जसम्।

(४) स्थलविशेषेषु निरुढाप्रतीताप्रयुक्ततया भासमाना अपि केचन शब्दा न केवल तज्ज्ञेन कविना प्रयुक्तास्तज्ज्ञेषु गुणायैव सम्पद्यरन्, प्रत्युत विकसति नवनवे ज्ञानविज्ञानप्रचारप्रसारे विगोलति चैककुटुम्बिनामिव देशदेशान्तराणां पारस्परिके विविधे व्यवहारेऽभिनवशब्दरचनायै गीर्वाणवाणीमुखमेव प्रेक्षन्ते सर्वे इति शब्दशास्त्रे व्यावहारिकशब्दभाण्डागारमपि पूरयेयुरेव, एतादृशशब्दरचनायै मार्गमपि दर्शयेयुरेव च।

(५) इह कविना हृद्यानि पद्यान्यपि तत्र तत्र व्यरच्यन्त प्रायुज्यन्त च, "गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति" इति परीक्षानिकषे तु तदीयानि निरवद्यानि गद्यान्येव सर्वथा निर्मलाभां रेखामिव समङ्कितान्युद्वयन्ति काञ्चन चमत्कृतिं चेतस्सु। अस्मिन् विषये कविरयं सर्वथा साफल्यमवाप्तवानिति निर्णीय निगद्यते। किं च शिशुपाल-

वधकाव्यनिर्मातृमाघवत्, शिवराजविजयादिकाव्यनिर्मातृश्रीमदम्बिकादत्तवत्, नानाकाव्यादिनिर्मातृहरिद्विजवच्च कविरयं श्रीनिवासशास्त्रिप्रवरोऽपि राजस्थानीय । अनेकेषां पावनचरित्राणां राज्ञां महाराजानामिव, पण्डितप्रकाण्डानां वैज्ञानिकधुरन्धराणामिव च राजस्थानस्य पुण्यभूमिरेतादृशानां कविपुङ्गवानामप्युर्वरा प्रसविनीति सदा प्रेम देरन्वेव गुणैकपक्षपातिनो निर्मत्सरा मार्मिका ।

(६) इह हि नानाशास्त्राणां मनोरमसमन्वयवत्, नवप्रभाभास्वराणां जीवनोपयोगिनां समस्तानां यानादिसाधनानाम्, शस्त्रास्त्राणाम्, यन्त्राणाम्, वादानाम्, व्यवहाराणाञ्चापि तथा नाम चेतोहारी सन्निवेशोऽक्रियत, यथा नाम कवेरस्य सर्वत्र बहुज्ञता बहुदर्शिता च प्रस्फुटं प्रतिभासते । विरला एवैतादृशा कवयो व्युत्पन्ना विद्वांसश्च ।

(७) इह सूर्याचन्द्रमसोरुदयास्तमया, नक्तंदिनस्यावस्थापर्याया, शरद्वसन्तहेमन्तादीनामृतूनां प्रवृत्तय, वनोपवनरम्यहर्म्यनदनदीसरित्समुद्रपर्वतदरदादिसंनिवेशानां वर्णनानि च चेतश्चटुलयन्ति तथा सजीवानि सन्ति, यथा द्रष्टु पुरस्ताच्चित्रमिवाञ्चयन्ति । सहृदिरमृत्यात्मानं मुग्धो विदग्धो जनोऽलौकिके कस्मिंश्चनानन्दापारपारावारे चिरं निमज्जत्येव, यावदुन्मज्जति तावत् परं कश्चनानन्दौघ पुरः प्रसर्पन्नात्मनि विलीनयति सहृदयम् । नेमानि कथञ्चिदपि हीयन्ते कादम्बर्यादीनां वर्णनेभ्य इति मुक्तकण्ठं वक्तुं शक्यते ।

तदेतदत्र पर्याप्तं निर्व्यूढं रस्यते रसिकैः मुमुक्षुमाध्ययनेनामन्दानन्दसन्दोहपरम्पराः परिप्राप्य।

(१०) सर्वतोऽप्यधिकं यदेतत्काव्यसम्बन्धे वक्तव्यं तदिदम्—"भारतीयस्यादर्शभूतस्य समाजस्य स्वरूपं यथात्र विशदम्, सजीवम्, मूर्तम्, उज्ज्वलञ्च निबद्धमस्ति यदितोऽन्यस्मिन् साहित्ये प्रायो दुर्लभमेव। प्राचीनार्वाचीनादर्शयोरयं समन्वयप्रकारोऽभूतपूर्वः सातिशयमुदारश्च। श्रीश्रोत्रियासव्यतिरिक्तोऽन्यः कश्चिद् विद्वानिदं कर्तुमहार्यत्न वेति सन्देहं तु भविष्यन्नेव कालो निराकरिष्यति। कृतिरियं कविना श्रीशास्त्रिणा तरुणे वयस्येवाकारि, येयमिदानीं दृशोर्गोचरतां प्राप्य सुरसरस्वतीसेवैकरसिकानां सहृदयानां मनांसि सदैव मोदयिष्यति। कवित्वशक्तिरिमञ्जन्मजातेति सुच्यते। तावति तारुण्ये मन्ये स्वल्पा एव सुश्लिष्टसुसम्बद्धकाव्यनिर्माणे विशिष्टप्रतिभानवन्तः स्युरिति।

यस्य समाजवादस्यादर्शरूपं चित्रितं कविना, सोऽयं रामलीनेन महात्मना गान्धिना 'सर्वोदय'—नाम्ना व्यपदिश्यते स्म। अस्मिन् काव्ये तु तस्य नाम 'सर्वाभ्युदयः' इति निर्दिश्यते कविना। सर्वाभ्युदयशब्दस्तु "सर्वेण = समाजधर्मानुयेण, सर्वस्मिन् = काले, सर्वस्मै = मानवाय, सर्वस्मादुपायात्, सर्वस्य प्राणिजातस्य अभि = समन्तादुदयः सर्वाभ्युदयः" इति व्युत्पत्तिं पुरस्कृत्य कविना कृत इति संस्कृतभाषाया व्युत्पत्तिनिर्वचनादिविषयःऽर्थप्रतिपादनेऽद्भुतां कामदुघां शक्तिं सूचयति। कवेश्चापि तत्र मर्मज्ञतामाविष्करोति। सर्वाभ्युदयवादस्यास्यातीव सजीवं दार्शनिकं पाण्डित्यपूर्णञ्च विवेचनमिह लप्स्यन्ते भावुकाः, अनुभविष्यन्ति च दार्शनिकीमनुभूतिं स्वैरम्।

(११) प्राचीनादर्शानां सर्वेषां हीनतानुभावके, तत एव च विषमविषमयज्वालावलीविलीढदुःखौघनिपातदुःसहे निर्मेहेऽस्मिन्नेहसि कान्दिशीकानामितस्ततश्च विद्वतां भागधिकानां जीवानां भारतीया संस्कृतिरेव समुद्धारायालं भविष्णुः। तस्याः संस्कृतेः प्रकाशश्च केवलं सस्कृतविदुषामेव कृतिसाध्यः। परन्तु—

> बोद्धारो मत्सरग्रस्ताः प्रभवः स्मयदूषिताः।
> अबोधोपहताश्चान्ये जीर्णमङ्गे सुभाषितम्॥

इति द्विसहस्रवर्षपूर्वमुदीरितेन भर्तृहरिवचसा, न जाने, कति कति वसुन्धरारत्नभूतास्तादृशा विद्वांसः स्युर्येषां रचना दरिद्रतावशात्प्रकाशमनासाद्य स्वाङ्ग एव जीर्यन्ति, न केवलं

ता एव, अपि तु तद्रचनाकर्तारोऽपि स्वाङ्गेषु जीर्णां अहरहर्जीर्यन्ति च। परन्तु व्यतीत तद् वैदेशिकपरतन्त्रतापाशपारवश्य दुरितोदर्कं दुर्गमम्। सम्प्रत्यभ्युदितो युगान्तरकारी स्वातन्त्र्यसूर्य । केन्द्रीयशासने प्रान्तीयेषु शासनेषु चानेके महामहिमशालिनो मन्त्रिणो राज्यपालाश्च, राष्ट्रसर्वस्व राष्ट्रपतिश्च निखिलभुवनैकधात्रीं तामेताममरभारतीं हृदयेना भ्युदिता कामयन्ते। सा चेदियमात्मगौरवोचिते सिंहासने भूयोऽपि प्रतिष्ठाप्येत, तर्हि न दवीयस्तद् दिन यत्र शान्तिसुधाधारा सर्वाभ्युदयाय सर्वत्र नि ष्यन्देरन्। मातृभूमिगौरव सरक्षणजागरूकै समाजनेतृभिर्विषयेऽस्मिन्नौदासीन्य विहाय जागरितव्यम्। पुरस्करणीया राष्ट्राभ्युदयायैव न, अपितु, विश्वाभ्युदयाय जाग्रत सस्कृतविद्वास, विशालैन सङ्घटनेन प्रकाशनीया प्राचीना सारभूता ग्रन्था । सर्वासां वैज्ञानिकीनां प्रवृत्तीना चिरजीवनाया भिनवा विरचनीया शास्त्रसन्दर्भा । भूयोऽप्यत्र चिरविलुप्त सारस्वत स्रोत प्रतिदिश प्रवहन् पावयेन्निखिला वसुधां वसुन्धराम्। अभ्युदेतु च सर्वोऽपि लोक । ये सन्त्यधुनापि कतिपये प्राचीना विद्वांसस्तत्साहाय्यमवश्यमिहोपयोज्यम्।

कविरपि चाय द्विनै शब्दैवाच्यो यद् युगेनानेन परिवर्तितान् प्राचीनादर्शान् प्रतिष्ठा पयितु स्वनिर्माणकौशलेनान्यानपि समुत्साहयेत्, परस्परसहयोगेन च न केवल भारते वप एव, अपि तु, विश्वस्मिन् भुवने भारतीयसस्कृतेरादर्शान् प्रचारयितु नेतृत्वमालम्वतामिति। सर्व समाजोऽप्यत्र सर्वात्मना सहयोग विदध्यादिति च।

काव्यमिद हृदयेन प्रशस्य भूयोऽपीदमाशासे—

'गद्य कवीना निकष वदन्ति' रेखोज्ज्वला तत्र च याऽद्भुताऽभूत्।
सा श्रीनिवासस्य कवे सदा स्यात् सर्वत्र सर्वाभ्युदयैकधात्री ॥ इति ॥

२६।३।५९ }
गुरौ }

A Review

By **Dr Satkari Mookerjee,**
Director, Nava Nalanda Mahavihara
Nalanda (Patna)

Chandra Mahīpati—a modern novel in Sanskrit by Kavirāj Śri Śrinivasa Sastri, price Rs 6/ only.

Nobody could imagine that in modern times a scholar endowed with an extra ordinary poetic skill and a wonderful mastery of the Sanskrit idiom could write a novel in faultless Sanskrit in the manner of the Classics written by the novelists of Europe and India It proves that Sanskrit is still a living language and can evolve unwonted modes of expression embodying the charming features of Banabhatta's *Kadambarī* together with the modern realistic approach. It is a *tour de force* of talent and scholarship A Sanskrit scholar will be really surprised by the novel nuances of expression which while reminiscent of Classical beauty of the romances composed by Subandhu Banabhatta and Dandin are examples of modern realistic pictures of the current state of things Apart from the plot the author's melodious language is sure to grip the attention of the lovers of poetry The author has coined new expressions which faithfully and effectively represent modern ideas Those who are steeped in the terms of the old Sanskrit Classics, whose number, however, is extremely fewer than the modern output, will be thrilled with pleasant surprise to find that the work under review makes a happy departure from the ancient style and manner without forfeiting the attractiveness of Classics Though on several occasions the difficulties caused by unfamiliar expressions may be felt by modern students accustomed to easier expressions he will be amply recompensed by the labour undergone in mastering a rich vocabulary In the general course of this story, the style of

the author is simple direct expressive and effective and the reader will not feel the jerks and jolts which are frequent in the celebrated classics The work is thus remarkable for its combination of the old and the new styles

As is the case with modern novels it contains dialogues and conversations in a style which will not allow the interest of the reader to flag or flop Of course it is pre supposed that the reader is possessed of a modicum of knowledge of Sanskrit in order to be able to appreciate the beauty of this achievement I am optimistic enough to believe that in India and outside where Sanskrit is cultivated the present adventure will not fa l to win the approbation of a large number of connoisseurs This is in brief my evaluation of the author s language and style which ought to be regarded as setting up a new genre

The author ha ls from Rajasthan wh ch is noted for its multitudinous episodes of chivalry and romance The love and admiration of the chivalry of the mediaeval knight errants has been imbibed by him from the milieu and the tradition of the Brahmanical family devoted to the cultivation of the poetry and scientific discipl ne of the old in which he has been nurtured In the present day when men are accustomed to the drab commonplaces of struggle for existence the story of love adventure thrills and narrow escapes may strike a modern reader as unrealistic and romant c But with a little imagination and sympathy the reader will get to the core of the human interest unfolded in it It must be acknowledged that the author believes with Bernard Shaw in recent times and Mammata Bhaṭṭa of the 12th Century that the poet has a mission and a philosophy of life which he teaches for the edification of his readers He is not purposely didactic and has skilfully shunned the boring effects which a pedagogue produces on his auditors The author is not

slavishly chained to the ideas of the old order of kings and knights and has faith in the inherent rights of the average run of men and women to the good things and opportunities of the world. The story he has spun, underlines the transition from aristocracy and plutocracy to real democracy.

The communistic philosophy is now extending its sway over the undeveloped countries of the world. This philosophy is based on the hatred of classes and seeks to root out the inequalities in the distribution of wealth by violence. It ends in Dictatorship which ironically enough thrives on the enslavement of the mass. It seeks to conciliate the mob by providing food and drink and shelter in exchange of hard labour in factories. The author is keenly alive to the misery and degradation of poverty. He pleads for the liquidation of this debasing state of things in which a few men and women fatten on the drudgery of the mass. But his method is entirely different In this novel, the author demonstrates the way in which this position of affairs can be radically reformed by a philosophy of love. He believes that, if persons who hold position and power are trained in the philosophy of love to develop a cultured and sensitive mentality, they will ungrudgingly share their wealth with their fellow beings. He calls it 'Sarvābhyudaya' which he prefers to 'Sarvodaya' This philosophy of life has been preached by Mahatma Gandhi and is going to receive a concrete shape under the leadership of Binoba Bhave with his able lieutenants as Sri Jayprakash Narayan and the like.

The author has made his hero Chandra Mahipati, a king who gives up all his wealth to his subjects. The king feels supreme joy and satisfaction in denuding himself of his superfluity of the material possessions. This was the ideal of Rāmachandra and also of Mahatma Gandhi who craved for

the establishment of 'Rama Rajya' in India after the departure of the British rulers Our present author shows that this is not an unattainable utopia He develops his plot with consummate skill and makes the transition from monarchy and aristocracy to democracy a natural process and eventuality

Now the monarchial state of things has come to an end in India India has adopted the parliamentary system of of Government which is in vogue in Great Britain and America But the high officials from Governors and Ministers down to the humble officers of the state are threatening to form an order of aristocracy which tends to widen the cleavage between the rulers and the ruled This condition can be remedied and reformed if the love of superfluous wealth is shown to end in self stultification The horrors of poverty accentuated by foreign rule of nearly one thousand years have produced an unhealthy reaction Our people are becoming egocentric and individualistic It is necessary that they should learn the lesson of History that the poverty of the majority and the wealth of the minority can not go uncombatted A new philosophy of life is to be evolved in which nobody should exploit the poverty and greed of the people If abundance cannot be secured we must all elect of our own free accord to share the privations with our fellow men and women I trust that the work of Śrinivās Śastri will prepare the ground for this consummation

The present novel proves the truth of the maxim of Bhāmaha the ancient author of Sanskrit poetics that there is no art or science which does not contribute to the making of a poet's work Our author is a versatile scholar He has showed his capacity to utilize his knowledge of Panini, classics and systems of Indian philosophy in the constitution of a work art With suitable instructions even a beginner will be

able to appreciate the propriety and beauty of these gems constituting a mosaic of uncommon excellence.

It is encouraging to find that the persons who are placed in high positions are now realizing the necessity of preserving and fostering the cultivation of the Sanskrit language and the age old treasures of wisdom and science for the emergence of a united Indian nation. Sanskrit was the cultural language of entire India. Centuries of foreign rule have not succeeded in putting Sanskrit out of vogue. Sanskrit can still claim to be the universal language of India. It is not more difficult than English. With wise modification in pedagogy and curriculum, it can be made the official and cultural language of India as before. It is almost impossible to hope that a provincial language will become the all India language. Sanskrit can be made easy. It is only imperfection of knowledge which is responsible for imperfection of sympathy. We have had enough of lip-homage rendered to Sanskrit. It is now time to get down to brass tacks. The Sanskrit Commission has recommended the universal culture of Sanskrit in our schools and colleges. Our author has showed that Sanskrit possesses an unlimited power for evolving new words and expressions for representing the modern concepts of science, politics and law etc. No other language in India can approximate to this perfection of Sanskrit. Only if the modern universities can take courage to make Sanskrit the universal language of culture in India and give rightful encouragement and patronage to modern writers like the author of the book under review, the aspiration will attain fruition and fulfilment.

13-1-59

Satkari Mookerjee

Institute of Asian African Relations
108 Raja Basanta Roy Road, Calcutta-29

Director

Dr KALIDAS NAG, M.A. (Cal), D Litt (Paris)
Visiting Professor of Asian Civilisation, Hill foundation, St Paul Minnesota, U.S.A

President : Indo Middle East Association, Calcutta
Chairman Tagore Centenary Committee Calcutta
Member Indian Council for Cultural Relations, Ministry of Education New Delhi Phone 46 4315

Dated 25 January, 1959

Kaviraj Shriniwas Shastri is not only a Vaidya for the human body but aspires to cure the mortal diseases of our Body Politic as depicted by our master Dharmashastrins like Manu and Yajnavalkya With full faith in the efficacy of Hindu Juristic ideas, Kaviraj Kavi Shriniwasji has composed an original upanyas in Sanskrit where he shows mastery in forceful Prose and charming Poetry The plot is worked out as in our age of transition from individual monarchial state to socialistic welfare state "Sarvodaya" as outlined by Mahatma Gandhi, the father of Indian freedom.

I offer my deep appreciation to the learned author for his literary and moral ideas which should inspire men and women of free India

So I recommend the excellent book 'C H A N D R A M A H I P A T I" to the Schools and Colleges where simple Sanskrit language as the spiritual language of Bharat is being taught and cultivated. I wish the author every success.

Dr Kalidas Nag
Ex Member Raj Sabha,
Life member Viswa Bharati
Santiniketan

सुप्रसिद्धमेव सुरभारत्या कल्पान्तरस्थायि नवयौवनवैशिष्ट्यम् । आसृष्टेर्जगत्या कियत्यो भाषा समुत्पन्ना कालेनाकाले कवलिताश्च । प्राकृतमागधीपालीसाहित्यावलोकनाच्चिरप्रचलिताना साम्राज्यमनुमातु शक्यते परम्, “सर्वं यस्य वशादगात् स्मृतिपथं कालाय तस्मै नम ” इति स्मृत्वैव दीर्घं नि श्वसन्ति तद्भक्ता । परमिमा चतुर्दशविद्याना चतु षष्टिकलानाञ्च प्रसवित्रीं प्रतिनिमेष नवनवायमानामविकृतामविकलाङ्गीमनुक्षण लोकोपकारि साहित्य सृजन्तीमाद्या देवभाषामालोक्य कमपि नव मोदमुद्वहाम । सर्वदैवानया यथाशक्य जगत्सेवानत निरलसया निरूढम् । आस्तिकनास्तिकसिद्धान्ता , दर्शनानि, विविधा वादाश्चास्या सम्यङ्निबद्धा इति को नाम विपश्चिन्नाङ्गीकुयात् । नात्र स्तनीयान् संशयलेशोऽपि यदधुना सातिशय लोकप्रियतामुपेते सर्वोदये साम्यवादे च नवीनेन कविना भिषग्वर्येण श्रीनिवासशास्त्रिणा प्राञ्जलसंस्कृतेनोपनिबद्धोऽतीवमनोहरश्चन्द्रमहीपतिरुपन्यास कादम्बरीदशकुमारचरितशैलीमनुकुर्वन्नतिशय प्रमोदोत्सवमावहति । कविरत्र विषयवस्तुप्रतिपादनेऽतीव सफल । आधुनिकै प्रचारित साम्यवादो निरीश्वर केवल भौतिकोऽतो न भारतीयविदुषा प्रमोदावह । पर कविनामुना सेश्वरो वैदिको भारतीयो मनुव्यासादिसम्मत साम्यवाद प्रतिष्ठापित । (यावद् भ्रियेत जठर तावत् स्वत्व हि देहिनाम् । अधिक योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति ॥ योऽसद्भ्यो धनमादाय स शुभ्य सम्प्रयच्छति । स कृत्वा प्लवमात्मान तारयेत्तावुभावपि) किमस्मादप्यधिकमुत्क्रामक वचो विद्यते मार्क्सवादेऽपि ?

भारतीय साम्यवाद ईश्वर धर्म परलोकञ्च सम्यङ् मन्वान साम्यमभिलषति प्राणिनाम् । तच्चन्द्रमहीपतेर्भाषणे नवमनि श्वासे सम्यगालोचयन्तु विचक्षणा । भारतीयविद्यालयेष्वस्याध्यापन छात्राणा संस्कृतिवैमुख्य निरुन्धत् वैदेशिकसाम्यवादादुत्तम साम्यवाद शिक्षयिष्यतीति मे मति । आशासे चेयं कृतिरत्रास सम्मानमाप्स्यतीति—

दिनाङ्क ६ ४ ५९ काव्यसाङ्ख्यस्मृतितीर्थ कविराजहरिवक्षजोशी

प्रकाशक का नम्रनिवेदन

यह काव्य आप के हाथों में देख कर प्रसन्नता है। कलकत्ते में मुद्रण व्यय अधिक है और संस्कृतज्ञ कम्पोजिटरों प्रूफरीडरों की अल्पता अथ च संयुक्ताक्षरों की न्यूनता भी। मुद्रापण का यह प्रथम प्रयास था और प्रूफ शोधन एक कला है, जिससे जानकारी न थी, अतः पुस्तक में यत्र-तत्र बहुत अशुद्धियाँ रह गइ, कुछ अंश छूट गये तथा कुछ उलट पुलट छप गये ये सब अब द्वितीय मुद्रण में ठीक होंगे। फिर भी जिन श्रद्धास्पद मान्यमित्रों ने अपने व्यापृत जीवन के अमूल्यकणक्षण देकर इस कार्य को बहुत सरल बना दिया, उनके नाम हम बड़ी श्रद्धा के साथ स्मरण करते हैं—

(१) कामेश्वर औषधालय, नोहर (राजस्थान) के प्रधानचिकित्सक—
श्रीसत्यनारायण शास्त्री साहित्याचार्य आयुर्वेदाचार्य।

(२) श्रीकृष्णाचार्यजी मिश्र, व्याकरणाचार्य, साहित्याचार्य।

(३) श्रीतिलकधारीजी पाण्डेय, साहित्याचार्य, एम० ए०।

इनके अतिरिक्त श्रीहनुमत्प्रसादजी शास्त्री साहित्यायुर्वेदाचार्य, संस्कृति एवं संस्कृत के प्राण संस्कृत मासिक पत्रिका 'मञ्जूषा' के यशस्वी सम्पादक श्रीक्षितीशचन्द्र चट्टोपाध्याय ने इसमें सर्वतोमुख सहयोग दिया। गुप्तप्रेस के सुयोग्य परिचालक श्रीसमीरकुमार वसु एवं वहाँ के विभागीय कर्मचारियों ने भी बड़ी धीरता एवं लगन के साथ इस कार्यका सम्पादन किया।

पञ्जाब के महामान्य राज्यपाल महोदय ने अपने व्यापृतजीवन में समय निकाल इस पर प्राक्कथन लिखा, डा० श्रीशतकोटि मुखर्जी, डायरेक्टर, नव नालन्दा महा विहार, नालन्दा ने अंग्रेजी समालोचना तथा पोस्ट ग्रेजुएट ट्रेनिङ्ग सेन्टर इन आयुर्वेद, जामनगर के सीनियर प्रोफेसर, साहित्यावतार क० श्रीहनुमत्प्रसादजी शास्त्री ने संस्कृत में समालोचना लिखने की कृपा की। इन सभी महानुभावों ने अपने संस्कृत-भाषाप्रेम के कारण अपना कर्त्तव्य पालन किया है, धन्यवाद वा आभारप्रदर्शन से इनके कार्य की महत्ता को लघु करना सङ्गत नहीं। प्रार्थना है कि सभी संस्कृतज्ञ इसी प्रकार अपना कर्त्तव्य पालन करें।

विनयावनत—प्रकाशक

श्रीमदाचार्यश्रीनिवासशास्त्रिकविताकान्तविरचितः

चन्द्रमहीपतिः

स्वोपज्ञपार्वतीसमाख्यया विवृत्या विवृतः

—*—

कमला

प्रथमो निःश्वासः

समरमृदितदैत्याऽऽदित्यहर्षप्रकर्षा
ललितवदनमालाद्विसवत्स्वेदवृन्दा ।
विगलदमृतबिन्दोर्बिभ्रती कान्तिमिन्दो-
र्जयति विहतविघ्ना कापि सा भक्तिनिघ्ना ॥१॥

महार्हरत्नाचितरक्तशाटीसुवीतमध्याद्भुतकन्त्रकान्तेः ।
जयन्ति फुल्लन्नलिनायितानि प्रशान्तनेत्रान्तनिरीक्षितानि ॥२॥

कार्तस्वराभास्वरवस्त्रभासो भुवेन्द्रसम्मानपरम्परस्य ।
श्रियां निवासस्य विदां वरस्य प्रियप्रियायाः कमलालयायाः ॥३॥

प्रत्यूहपूराहतिदिघ्नरेणवः शिवे ! शिवात्त्वत्पदपद्मरेणवः ।
जयन्ति साष्टाङ्गपतत्पुरन्दराः किरीटभाभानुजुषो विकस्वराः ॥४॥

वनायनि यन्द्विरभिज्ञसिद्धैः प्रासोदद्दलं विपुलार्चनेन ।
दिरयाद्विपद्मद्गमनङ्गभङ्गो भर्गो विनार्यामनुकूलभूतः ॥५॥

तदन्वये धन्वनि धान्यधन्ये सखेतडीरक्षितलाम्बिपल्लयाम् ।
निश्शेषवेदान्तविशुद्धबोधो हनूतरामो व्रतिना विरामः ॥१७॥

भूपालमौलिमणिशाणितपादपद्मः
सत्पात्रदत्तधनराशिविधूतपापः ।
तापव्रतप्तजगतो नवनीरदाभो
लेभे प्रभां विपुलबुद्धिवरो वरेण्याम् ॥१८॥

वाग्देवता मण्डलमण्डनस्य प्रकाण्डवाग्विचगाहिनोऽस्य ।
स्वयं भवन्ती समुपस्थिताऽरं मातेव कार्यं सकलञ्चकार[1] ॥१९॥
विवेकविद्याजलपूरपूर्णाः सत्तन्त्रमीनाश्चितचेतसोऽमी ।
सत्पूरुषाम्भोदचयैर्निपीता जयन्ति सज्ज्ञानपयोनिधानाः ॥२०॥
इन्द्रो यथा कश्यपतेजसोऽजनि स नारदोऽप्यात्मभुवो यथाऽजनि ।
तथाऽजनि श्रीमदमन्दमोदकः श्रीभानुरामो महसा निधिस्ततः ॥२१॥

---

१ जयपुरराज्याधीनखेतडोराज्यान्तर्गतलाम्बीवासिनो हनूतरामस्य शिष्यो निकटस्थ-पचेरीग्रामाधिपः क्षत्रियो नरहत्यापराधे आजन्मकारावास प्राप । तद्बन्धुभिरानम्य हनूतरामो निवेदितः । एतैरुक्तं मोक्ष्यते भगवतीप्रसादात् । ततस्तैश्चण्ड्याः पाठ आरब्धः । आवताह नोत्तस्थुर्न जक्षुर्न चोचुः, किम्बहुना आसनपरिवर्त्तनमपि न चक्रुः । यस्मिञ्जीर्ण-तृणोटजे देवीमस्तौत्तदकस्माद्दारित्यं भेजे । तदैव पचेरीतो रथ आगत्य उपराजमातृ एतान्निनाय । तत्र किलकारसिंहमुखाज्ज्ञातं यदद्य केनापि महसा जयपुरकारातो निःसार्य स्वग्रामसीम्नि निगडमोचं पातितः, इति । ताभिरवनताभिरुक्तं याच्यतां यथेष्टम् । परन्तैर्नयाचि, केवलं पचेरीवासिविप्राणां विवाहकरमोचनाय न्यवेदि । ताभिश्च प्रतिज्ञातम् । श्रूयते तद्दुर्गेऽन्तःपुरे रुद्धभावात्तेषां निष्ठ्यूतचिह्नं भित्तिलग्नं दृष्ट्वा अन्तःपुरस्था आरुदन् । सुधालिप्तेऽपि सौधे तत्स्थानमलिप्तमेवास्त । अष्टादशशताब्द्या नवतितमे वर्षे वृत्तमदः । एवंविधाः शतशश्चमत्कृतयस्तेषां गीयन्ते । पञ्चोत्तरैकोन-विंशतिशततमेऽब्दे ते देहं तत्यजुः ।

पार्श्वस्थपौरव्रजपूजितो यो रेजे दधच्चन्दनपुष्पमालाः ।
माहेश्वरध्यानपरायणस्य यस्यास्ति हस्तामलकं त्रिलोकी ॥२२॥

भवन्ति सत्यामृतवर्षिणो भवे रहोजुषस्तथ्यपुषो विपश्चितः ।
क तादृशाः संसरणस्वभावके भवन्ति चेत्ते विरला वनौकसः ॥२३॥

ततोऽभवत् पण्डितमण्डनाग्र्यः कुशाग्रबुद्धिः श्रुतपारदृश्वा ।
सन्तुष्टिदारः श्रितशास्त्रसारो विद्याधनो नान्यकरामसञ्ज्ञः ॥२४॥

धैर्ये धरा तेजसि चित्रभानुं क्रोधे यमं वाचि गुरुं सुराणाम् ।
जित्वाऽमृताग्निप्रतिभाप्रसन्नश्छन्त्रे ऽर्चयामास सुरान् सुरं यः ॥२५॥

तस्मात् सुपुत्रौ निपुणावभूतां मन्दारकल्पाववनौ द्विजानाम् ।
ज्येष्ठो बुधेन्द्रो नवरङ्गरायः पत्न्यन्तरोऽन्यो गणरायनामा ॥२६॥

ज्येष्ठो वरिष्ठैरथ जुष्टनिष्ठैः षट्शास्त्रवार्धेरवगाढवित्तैः ।
संसेव्यमानः कविभिः समास्तेऽसौ पण्डितेन्द्रो नवरङ्गरायः ॥२७॥

यत्पाठिवारछात्रमर्चर्चिका अलं प्रकाण्डसत्त्वाः प्रथिता मनीषिषु ।
अधीतविद्याः प्रतिवादिभीषणाश्चरन्ति चर्याचकितीकृताचलाः ॥२८॥

तपःसुपुष्पा शुचिकीर्त्तिवल्लरी षट्शास्त्रसौगन्ध्यवती क्षमाफला ।
आशासु येषां विततातिशोभना छात्रालिसङ्गीतगुणा क्षरद्रसा ॥२९॥

अयातयामागमदीप्तकान्तेः शान्तात्मनस्तोपधनस्य यस्य ।
कात्यायनीकान्तकृपाकटाक्षैर्हेमद्युतेः पञ्च सुताः स्तुताः स्मः ॥३०॥

ज्येष्ठश्च वादीन्द्रवितीर्णमुद्रात् प्रशस्तशास्त्रौघवृहत्समुद्रात् ।
अभूद् बुधः केशरनामिकाया विद्वद्विनेयः करुणात्मिकायाम् ॥३१॥

बालोऽल्पदर्शी श्रुतविश्रुतेभ्यः शब्दागमे प्राप्य मनाक् प्रवेशम् ।
अज्ञानरुद्धेन्द्रियचापलोऽयं स श्रीनिवासो विदुषां विधेयः ॥३२॥

येनायमद्धा सुकुमारसंविदा सच्चिद्घनानन्दमभीप्सता भुवि ।
अनष्टमोहाविलया विमुग्धया धिया विनोदाय बुधां निबध्यते ॥३३॥

— : ० : —

कथारम्भः

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्ध्रिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः । सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामेनिकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम् ॥ शु० य० वे० अ० २२।२२ ।

अयमाद्यो राष्ट्रियः सर्वाभ्युदयभावः । हे ब्रह्मन् ! राष्ट्रे ब्राह्मणः=विप्रः (ब्रह्म अधीते वेद वा) ब्रह्मवर्चसी=ज्ञानप्रकाशित आजायताम्—सम्यक् प्रकारेण भवतु । राजन्यः=क्षत्रियः, शूरः=पराक्रमी, इषव्यः=इषुप्रयोगकुशलः, अतिव्याधी=अतिक्रान्तं शत्रून् वा विध्यति सः, महारथः=योद्धा, आजायताम् । ब्राह्मणो ज्ञानप्रधानः क्षत्रियश्च कर्मप्रधानः । तयोः सम्यग्योगादेव राष्ट्रस्योन्नतिः, परिवारस्य दम्पत्योरिव । वैश्यशूद्रयोः सेवकयोः पूर्वद्वयप्रेरितत्वेन न पृथङ्निर्देशः । धेनुर्दोग्ध्री, अनः=शकटं वहति सोऽनड्वान् वोढा=वहनक्षमः, सप्तिः=अश्वः, आशु=शीघ्रगामी जायतामिति सर्वेषामन्वयः । सर्वे पशवोऽपि स्वस्वकर्मणि नैपुण्यभाजः स्युः । अत एवैष सर्वाभ्युदयः । योषा=स्त्री, पुरन्ध्रिः=परिवारपालनकुशला स्यात् । अस्य यजमानस्य=देवानां गुर्वादीनां सत्कर्तुः सज्जिनामपोषणशीलस्य च युवा वीरो जिष्णुः=विजयी, रथेष्ठा=योद्धा, सभेयः=सभ्यघटनशीलो जायताम् । नः=अस्माकं राष्ट्रे पर्जन्यः=मेघः, निकामेनिकामे=या परितोषपर्यन्तं वर्षतु । ओषधयः=ओषध्यः फलपाकान्ताः, अनेन सर्वधान्यानामपि ग्रहणम् । फलवत्यः=प्रशस्तफलयुक्ताः (प्राशस्त्ये मतुप्) पच्यन्ताम्=पक्वाः स्युः, देहे क्षेत्रे च । नः=अस्माकं योगः=अलब्धलाभो योगः, लब्धरक्षणं क्षेमश्च, कल्पताम् ।

विकलयति कलाकुशलं हसति शुचिं पण्डितं विडम्बयति ।
अधरयति धीरपुरुषं क्षणेन मकरध्वजो देव ॥ त्रिविक्रमभट्ट ।

स्वस्वव्याप्तिमग्नमानसतया मत्तो निवृत्ते जने
चञ्चूकोटिविपाटितार्गलपुटो यास्याम्यहं पञ्जरात् ।
एवं कीरवरे मनोरथमयं पीयूषमास्वादय-
त्यन्त सम्प्रविवेश वारणकराकार फणिग्रामणी ॥ पण्डितराजजगन्नाथ ।

"प्रवर्षणधौता इव साभा ककुभो व्यपगतरजस कलाजुष प्रासादा प्रसादपन्नप्रभा पादपा कृष्णोज्ज्वला वल्मीक प्रविविक्षव सर्पा इव सरन्त्य विदूरगामिनो लोकपथा श्रावस्थ मन प्रसादयन्ति देव ! । प्रियदिदृक्षाहर्षविधुतविवेका महो कालाद्वियुक्तेव सन्नन्तुमुत्त्वरा वक्रगत्या मार्गलाघव रचयन्ती, अष्टकेलिं कुर्वती सायन्तन्या सौरीप्रभया रक्ताम्बरावृतेव नवयौवनोल्लसिता वप्रमिव विधित्सन्ती तुङ्गोर्मिभि, स्वयमुल्लासवाद्य वादयन्ती मुधा मधुरै कलकलैरानन्दमेधयमाना उच्छलत्तरङ्गैरवगुण्ठनमपनीय प्रियप्राप्तिमिव प्रेक्षमाणो न्नतग्रीवा मदिरेक्षणा परिणतयौवना नदी मानिनीव रूपगर्विता दूरेऽक्षिपथाल्लुप्ताऽन्तर्हिता । यत्र जनसान्निध्ये तस्या महद्धैर्य वीक्ष्येव मूढा उन्मत्ता इवासङ्गता छिन्ना दूर प्रेक्ष्यन्ते पादपा ध्यानमग्नेव शान्ता धरित्री च । चलत्तरङ्गभङ्गाया पीतभङ्गाया इव घूर्णमानाया नद्यास्तट उत्फुल्लकमलामोदऽमलवारिणि हारिणि कृत्रिमेऽवकोकिले सरसि मृदुमृणालिनी मुकुलशय्याशायिभि प्रजोपवननिकुञ्जशोभिनो मञ्चा मुक्ता इदानीं व्यञ्चा शनैश्शनै पूर्यन्ते । येषु महार्हवाससामाकर्षिका विकसितस्मिता आकृतय कमलासनस्य कौशल प्रकाशयन्ति । केचन वार्त्तामग्ना भग्नप्रेमाण उदश्रव परस्परावद्धैकैकबाहूनि यौवनमधुमधुराणि सेव्य वीक्ष्य युगलानि विक्षता विलोक्यन्ते, परे चाभिनवप्रेयसीप्रेमपतिता अवैधप्रेम्णा प्रकृष्टमाकृष्टा प्रचण्डवासनावातोद्धतबुद्धयो बधिरान्धा महामोहान्धा । केचन पलाशपत्रपुटकेषु दध्यम्लवेशवारोपस्कृतान् वटकान् पीतशाकररसान् रसगुल्माश्च प्रसादविकसिते प्रेयसीमुख ददतो भक्षयन्ति परे च पुटपात प्रतीक्षमाणा मनोर्माणवका पतनसमकालमेव तांल्लिहन्ति ।

इतश्च नरा अप्यश्वायिना वहन्ति नारीर्नरांश्च न्यसमान्। कीदृशो व्यामोहः। कीदृशं पण्यम्। यद् दृष्ट्वा मनः खिद्यते।

केचन विद्यालयसमये विमुच्य काव्यरसमनास्वाद्य वारंगीभक्ता दोलालोलां लक्ष्मीं निबद्धुं द्यूतव्यासक्ता अन्वयागतपरम्पराघाटनपटवो रूपयौवनमदा अविवेकाश्चलचित्र-गाननिरता वित्तभूचित्तभूमत्ता मोदोन्मादिनो वसन्तो मधनटीनामम्लानां पुष्पमालां वक्षसि श्रयन्त धनाशिकं पापपङ्के निमज्जन्तः प्रेक्षन्ते पितृपितामहार्जितधना निकृष्टतासर्ववित्ता पुत्रपौत्राः साधितसाधिता जीवनचिन्तामणिं काचमूल्येन विक्रीणाना निद्रागमस्थपथ्य-पथ्यादिद्रुता वासनायासिनो वितृष्णा युवानः, इतश्च कान्तप्रियाः प्रियविया भविष्यज्जीवन-वनध्वान्तविद्धिमिश्रया नवनीलनीरदरुचिरेऽङ्गुलितद्वै द्रुतच्छये साक्षात्पत्यस्यमानाश्च। इतश्च कञ्चुककोशाकलनपटवः पक्षकोटरपद्धतधनास्तस्करशिरवो गुरवेऽर्पयन्ति यामाञ्चिन भिक्षामिव चिन्वच्चोरविक्रीणिनन्यानि शिष्यमाणाश्च। इतश्च पश्चिमाशामरगभ्रंश प्रनीसमाणाः प्रवयसो वदनवलीका अपि मसृणारकपितवचूर्णनेन तिरोहितवलीकाश्चन्दन-वन्दितवदनश्रिया यक्ष्मजर्जरेन्दुं जिगीषव इव पलितकलितकेशोऽपि कृष्णाय (खिजाब) कृष्णकेशस्त्युनदन्तोऽपि कलितदन्तो व्यपेतविनया लोलदृशः कान्ताकारकेशकीर्ण-कुन्दकुसुमा वलयितव्याले धम्मिल्ले फुल्लपितसुमस्रजः परिमलगन्धवहान्वीकृतकामुका निर्भूतशोणिम्नोरधरयोः कृत्यामयोः कपोल्यो रागम्, चारुचकोरचञ्चलचरयोः प्रजागर-तुन्दिलशोणयोरुन्मदादनयोः कज्जलस्य सूक्ष्मां रेखामायोज्याधःकृतनवयुवतयः सर्वांशतन्व्यो लता इव प्रसवप्रभा यौवनजलविरहिता नीरसा अपि स्मररससरसिम्मन्याः कमलमुकुल-तुल्यकोमलौ कुचौ लोकनूतनं परिरिप्सयेव समुद्याप्य मनोभवभूपतेः पटकुट्येव कञ्चुकिकया कुलिशकर्कशौ प्रच्छादयन्त्योऽविच्छिन्नामृतबिन्दूनिव वर्षन्त्य. प्रियेषु, नारीलोकस्य सादन्य दुरस्तुन्वाना इदानीन्तननारीसमाजस्य मार्गदर्शिका हिताहितविचारविरहितहृदयोऽनार्य-कुरवेशविलासपराः शिशिरतरेऽपि शरनि समीरे तटिल्लेखाभेनैपद्मातव्याधूयमानेनाम्बरेण दिगम्बरा इव साम्बरा अपि, शाम्बरीमिवाश्रिता मायां मनोभवस्य मायाः पवना-पर्नतारिमलसुरभितनमस्काः विन्यस्य युवकहृदयाश्लेषचतुरा युवकविलोकनाकुलितचेतसो युवकरुचिरमयाः भ्रूधानुरांकुञ्चितास्यान्यैः स्मयमानाः कामकलाकलितविलासमसत्यो ह्ननन्तां मनांसि नीवि वा विरेकुं कमनीयकरैर्गृहीतकच्छे लल्ले लक्ष्यैः रैकन्याः शृङ्गम्याः

प्रियप्रेमोद्रेकस्खलितैर्ललितलीलाविलसितैर्मदभरशिथिलन्यस्तैरखर्वविचारपर्वतैष्विव साभिप्रायं स्खलन्त्यश्चलन्त्यो विषयामन्वनमिदाहं दह्यमाना इवानुद्वेश्या अप्यनूनवेगं प्रजन्त्य कामिन्य, चञ्चदञ्चितवासोभिरानशिरसं स्वजटितैरलङ्कारैर्बालव्रह्मतास्तम्भामनभ्र द्योतमाना विद्युत इव सम्भणभणं वर्यमरुत्तरादवतीर्यानधिगतचातुर्यास्तुर्यामिवावस्थां भजमाना धनानन्देन साशङ्कमितस्ततो वीक्ष्य 'एकं धनं द्वितीयं नास्ती'तीव निश्चित्य दधिमृदान् वटरान् क्रीत्वा युगपदेव निजिगलिषया व्यात्तमुख्यो निःसत्त्वपत्र्यो एकाकिन्यो धनिन्यश्च या वीक्ष्य मनस्त्रस्यति। इतश्च श्यामदूर्वे कुचमादिनः शिशव, यान् वीक्ष्य मानसं हृष्यति। इतश्चोद्यानकोणे प्रारब्धराजनीतिविप्लवानां बरकार्यविघटनपटूनां कटूनां गर्जितबधिरितदिशां परोन्नतिकथामात्रेण शिरःशूलिनामभ्यस्ताक्षरद्वयानामप्यल्पज्ञानोद्धतप्रतिभाभिमानानां परदोषदिव्यदर्शिनां पूर्वप्रसिद्धानां लोकप्रियत्र वाणानां वाचालानां वाग्जालम्, वृत्तवित्ताना वृत्तपत्रप्रतिनिधीनां गुप्तचराणां सङ्केतलेखनञ्च। अपरस्मिंश्च भवभयविघाताय क्षिप्तां शप्तां सुप्तां लुप्तां लुण्ठितां मानवतां पुन प्रचिचारयिषूणां विगतायासक्लेशानां शास्त्राभ्यासे गमितवयसां लोककल्याणैकमनसां पापापनोदनपटीयसां तमश्छन्नं जीवनपथं प्रकाशयतां दुष्कृतबहिष्कृतानां गुणागाराणां कार्योरुमेरूणां पुराणप्रवीणानां नन्दनीयवन्दनीयकर्मणां प्रसादमधुराणां वीतसारमपि ससारं ससारं सम्पादयतामिद्धबोधानां सतां विदुषां प्रवचनम्। यत्र द्विना एजद्ग्रीवा विलोक्यन्ते वाचंयमा। एते भ्रान्ताः समाजेन सावमानं सगलग्रहणमवकरगर्त्ते निक्षिप्ता अपि समाजस्य भूत्यै विशिथिलपरिकरं वन्द्यमुद्युञ्जाना प्रतीयन्त एव विक्षिप्तचेतसो मुग्धा। यान् वीक्ष्य चक्षु क्लिद्यते।

इतश्चाल्पवयसोऽनङ्कुरितकूर्चका उत्फुल्लामलकोमलोत्पलमुखा मुग्धस्मिता शिशव उपानत्परिष्करणे दाक्ष्यम्, केचन मुद्गफलीनामङ्कुरितानां मुद्गमकुष्ठानां प्रशंसा समुद्घोषयन्तो लवणाम्ललिप्ताना मृष्टस्विन्नचणकानां बल्यतामुष्णताञ्चोपदिशन्तः शार्करजम्बीरचूषिकां विक्रीणाना उदरभर्त्सिता विद्योद्योगं जीवनस्य श्रेष्ठामिष्टामिष्टिं मिष्टिं विहातुं बाधिता भ्रमन्ति, यान् वीक्ष्य मनः क्राम्यति।

इतश्च विश्वम्भरस्य विश्वभरणप्रतिज्ञामिवाह्वयमाना बुभुक्षाभक्षिता बलिना कलिना कवलित धर्मेण पुण्यभूमेर्भारतस्यासाधारणमहिमानस्तपोधामानो मुनय इव शुद्धाः प्रगृह्यपदवदविकारा नीरजसोऽपि रथ्यारजोधूसरिता प्रकृतिप्रत्ययोपेता अप्यपदा पुमांस, अनन्यक्षुण्णश्रीका

अपि क्षुत्क्षीणश्रीकाः पतिपरायणाः पाषाणाक्रान्ता दूर्वा इव पीता महिलाः, क्षुभ्यत्क्षोणीश्रयिणः क्षुत्क्षामाः शवा इव शिशवश्च, आयासशतोत्पादितविपुलक्षेत्रसम्पदः समस्तमस्तकमप्युच्चिता अपि शताब्दीभ्यः समाजानुमतिप्राप्तैर्घोरैः रक्तप्रणतकदर्णैरुणाद्यैः परपरितापनकुतुकिभिरुत्कटकालकूटकुटिलैराजीननाभ्यस्तपापपटलप्रतिष्ठितैः कर्कशोमितीमामदमात्रैः सर्वजयिलोभलुण्ठितमतिभिः परिपूर्णभोगाभोगगरिमभिर्भोगिभिः सर्वग्रासिभिर्वार्धुषिकैर्निष्प्रयोजनं लुण्ठितसर्वस्वाः कृपाकणिकाशून्येन मौनमग्नेन समाजेनानिराकृततापविपदः, जिजीविषया, यमदंष्ट्रान्मृत्योर्मु साक्षियियासया सर्वतापशमनैकभेषजं प्रसन्नभयभञ्जनं मृत्युञ्जयमिव नगरं मत्वाऽऽश्रिता लोकपथपार्श्वानाकुलयन्तो पर्यन्तश्च प्रयत्नसहस्रेणापि वृत्तिमनाप्नुवन्तः स्वेदस्यन्दिनः खिन्नास्तुन्ना दीना दूनाः प्रतिनिमेषं विपद्वृद्धमानदुःखा जठरज्वलनज्वालोत्तप्ताः प्रसारितकम्पितहस्ता एकतानकातरदृष्ट्या वीक्षमाणाः सकरुणामभिव्यक्तिम्, असहायां विह्वलतां निष्कपटां भक्तिं च प्रत्यादधाना अनभ्यस्तयाचनवचनैः सदैव निःसरत्प्राणा अल्पप्राणाः प्रेक्ष्यन्ते ग्रामीणाः, यान् वीक्ष्य मनो भ्राम्यति ।

इतश्चार्थैषणया दारगवं विहाय राजधानीमुपेता वैफल्यविकलाः परिभ्रमणश्रान्ताः कर्मक्लान्ताः कर्तव्ये भ्रान्ता मलकुलिता भावशून्याः श्रमक्लमापनोदनाय सरितः श्लक्ष्णशीतशिलासुविश्रान्तो युवानः, यान् वीक्ष्य मानसं खिद्यति । देव ! बृहच्छोको लोकः ।”

“नियतिः केन नियन्तुं शक्यते देवि ! कर्मणां विधिविपाको ईदृशः । बलवान् विधिरयं स्वेच्छयाऽऽचूलमूलश्रीकांस्तुच्छयन्, भस्मखर्वयन्, प्रपूरयन्, विदुषो विडम्बयन्, धमुदान् विरिधन्, उन्नयन्, पातयन्, आकुलयन्, सुखयन्, क्रीडति, नात्र कश्चन परिवर्तने प्रभुः । यावन्नेन चेद्भाग्योदयस्तदा श्वा वा सर्वाधिकमुदियात् । परं किं क्रियच्चावक्ष्महे साम्प्रतिकजीवजगतः । नैतादृशेषु विषयेषु तवोचितो विचारः । अस्तु, अपि स्वास्थ्यमनुभवति भवती व्यपगता चोदरवेदना ?”

“आम्, आर्यपुत्र ! सम्यक् स्वास्थ्यमनुभवामि ।”

“कस्ते विचारो नवेन्दुना सम्बन्धाय ?”

“मन्ये बाल्ये शयनासनाहारविहारान् क्रीडाकौतुकं बन्धुन्यक्करस्तथा भाविविधानश्च भवान् व्यधित, तदा कल्पनैव नासीद् यत् सोऽकल्प्यमहत्त्वं राज्यं समधिगमिष्यति । किन्तु सम्प्रति समधिगतमातुलराज्यस्य तस्य यौवनोद्गमस्पर्धमिनवप्रभं नवं वयः, प्रचुरबलेन

यशसा सहैवासादिता न्यक्कृतामरश्रीः श्रीः, जनसङ्कुलं कुलम्, अवरुद्धपरपदक्रमो विक्रमः, अपुण्यजनदुर्लभा लब्धख्याते राज्ञः पुत्री पत्नी, प्रचुरवसुर्वसुन्धरा, लोकोत्तरचमत्कृतिर्मतिः, जितपुण्डरीकाखर्वगर्वं जगद्धितानीभवद्भव्यं यशः—इति महामहिमा महाकर्मा नवेन्दुवर्मा स्वभावपरवशो वृत्तमिदमुपहासास्पदं विमृशेच्चेत् ?"

"अये ! बालविहसितवत् सरलः, मुक्तविभणितवत् सरसः कान्ताकटाक्ष इव मनोहरो हास्याभिमुखो गर्वखर्वरेणादूषितः शैशवत एवाभिनवविलासोक्तिचमत्कृतः श्रीमतः स्वभावः।"

"श्रीमते यथा रोचते तद्विधेयम्। धात्रीनिर्विशेषाणां गृहविहारिणीनां रमणीनामत्र कः परामर्शः। सन्ततिसंस्काराणां प्रायशः पितैव प्रभुः।"

"अस्तु, प्रसवानन्तरं वयमुज्जयिनीं यास्यामः। यत्र भगवत्या हरसिद्धया अर्चना भविष्यति जातस्य चौलसंस्कारश्च।"

"देव ! केयमुज्जयिनी ? अपि देवो गतवाँस्तत्र ?"

"उज्जयिनी मालवदेशस्य राजधानी। रम्योऽसौ प्रदेशः स्वास्थ्यप्रदश्च। भवती तत्र प्रचुरं मनोविनोदं सुदृढञ्च स्वास्थ्यमधिगमिष्यतीति मामकीनो विश्वासः। के नाम न परिचिन्वन्ति तमःस्पृशो जगद्वलयमपजिहीर्षोर्भगवतो महाकालस्याधिवासभूमिम्, संसृतिख्यातमाहात्म्याया भगवत्या हरसिद्धया विहारवाटिकाम्, धाराधरेशपरमप्रेमपूजितपादपद्मस्य भामिनीभर्त्सनाभस्मितमौर्ख्यस्य विश्वविख्यातवैदुष्यस्य कविप्रवरकालिदासस्याराध्यायाः कालिकायाः क्रीडास्थलीम्, विश्वविश्रुतविद्यावैभवां धन्यनामधेयामुज्जयिनीम्। के चापरिचिता आदित्याङ्कस्य दीनदुःखदहनपटोः सवत्सरप्रवर्त्तयितुर्वीरविक्रमस्य प्रातराख्येयेन नाम्ना। प्रज्ञाहितव्रतिनं यं प्रातः स्मरन्तो धन्यास्तपस्विनः। यस्मिंश्च राजराजे महीं शासति निरागसामविदग्धमुग्धानां शिशूनां वक्षो रक्षःसमैः राजपुरुषैः परवं परशुभिर्न भिद्यते स्म, स्पष्टं प्रवदतां वक्त्रं वेत्रैर्न भज्यते स्म। सत्यस्य धर्मनीतेश्च हिंसा नासीत्। कुलाङ्गनानां शीलं राजपथेऽधिकारमदैर्न धिक्क्रियते स्म। कारागाराणि जनसेवकानां कुलेन नाकुलान्यासन्। मद्यैः प्रमदाभिश्च न्याया न विक्रीयन्ते स्म। प्रतिदिनं बुभुक्षाराक्षसीभक्षितानां परःसहस्राणां यूनां शिशूनाञ्च शवैर्गङ्गास्रोतसि सेतुर्न निर्मीयते स्म।

मुष्टिमात्रमन्नमुष्टाय क्षुद्व्याकुलेन कुलीनेन भ्रात्रा निरन्वनिश्शेषदोषा तरुणी भगिनी व्यभिचारिषु न विक्रीयते स्म। बुभुक्षया रुदतां शिशूनां करुणक्रन्दनेन मातॄणां वक्षः शिशुभिः सममेव न विदीर्यते स्म। योजनदीर्घेषु राजमार्गेषु क्षुधारोपितानां शवानां गगनचुम्बिनः कङ्कालकूटा नेक्ष्यन्ते स्म। अधिकारगर्वितानां यानानि क्षुत्पीडितैर्धिल्लर्यतो वक्तुं गन्तुं चासमर्थान् मुखेषु तृणमादाय रटद्भिरेतैरेव प्राणभिक्षां भिक्षमाणान् म्रियमाणान् सम्मर्द्य तेषामस्थिकङ्कालं सञ्चूर्ण्य शिरान् छिन्नान् शोणितशृपनांश्च पथि प्रसार्य शुष्कान्त्राणि श्वभ्रो विकीर्य पवित्रभारतरक्तेनानिच्छन्तीमपि भगवतीं मेदिनीं मेदस्विनीं विधाय च न भ्रमन्ति स्म। देशभक्तानां गलपाशप्रोषितपतयो युवतयो निरवलम्बा नासन्। येन च विश्वविजिता राजधेन सनाथासीन् सरस्वती मही भारतं वर्षञ्च ....।"

"आर्यपुत्र ! विरम्यताम्, नाहमधिकं श्रोतुं समर्था। वैदेशिकशासने परतन्त्राः पशवोऽपि दुःखिताः, का कथा ज्ञानविज्ञानसम्पन्नानां मानवानाम्।"

"अहमप्येकदा परममित्रेण नवेन्दुना सार्द्धं तत्र समग्रामैतिहासिकसामग्री मद्राक्षम्। सोऽयमेव नवेन्दुर्यस्य धर्मपत्नी ऐषमो भाद्रे शुक्लदशम्यां पुत्ररत्नं प्रासूत।"

एतस्मिन् मृदुलतूले तरलमखे सितोपबर्हे पृष्ठेन स्पृशन्ती गर्भभरसालसाऽप्यलङ्करणा सुन्दरी, जितचामीकरोत्पलसौन्दर्येण केशपाशकारागतेन चन्द्रेणेव मुखेन स्मितासूनैः प्रसादयन्ती प्रासादम्, ग्रीवया परिभवन्ती लावण्यरत्नकरोद्भूतकम्बुम्, धनसारभरकाश्मीरतिलका निशातनिर्व्याधिनीलनीरजनिर्विशेषनेत्रा स्मिते किञ्चिदुच्छूनाभ्यां कपोलाभ्यां निर्वासितकाश्मीररेखा, भ्रुकुटिधनुष्कोटिसमुत्सारितकाम्या, हारगुलिकावदातदन्तमयूखयाऽऽसक्तपरिम्ला सौन्दर्यसमुद्रजेनेव विद्रुमाधरेण, निसर्गनाद्भिराग्न्यमानालक्तकरञ्जितचरणा, स्वर्णसूत्रस्यूतपुष्पलतास्तबकशरीरां रक्तां शाटीं दधाना मुखेनेव तन्मुखस्याचीरं प्रासादाट्टं प्रकाशयन्ती स्थितासीत् विश्ववधूमूर्धन्या कापि धन्या।

पुरश्च वेत्रासन्दीमासीनश्चन्दनगौरः पुण्डरीकनयनः सुन्दरवर्तुलवदनो विस्तृतभालो वयसा भारवद्दिमतः सविग्रह इव वीररसो गौरववर्धिना गौरवशोभिना श्मश्रुणा, हस्तिहस्तावनद्धेन विपुलोन्नतेनोरसा परिघदीर्घाभ्यां मांसलाभ्यां भुजाभ्याञ्च विराजितवत्सद्विमतो

विमलपुरस्थितिपरमेष्ठो रामपाल पूगैलालवङ्गकेशरमृगमदपरिमलं नागवल्लीदलं दलयन् तर्पयंश्च प्रासादमध्य सुग धपटलै राज्या गर्भभरक्लेशमपनयते वार्तानन्देन ।

*　　　*　　　*

पौपो मास । शैत्यजडितवपुर्वराकाणामलक्ष्यविपक्ष पक्षोऽयं शुक्ल । तिथिश्च तृतीया। सर्वत शीतस्य साम्राज्यम् । प्राणिनो जडेन जलेन साक पाषाणीभूता । शीतभयाद्विभावसुरपि सङ्कोचितज्वालमाल आत्मीयाङ्गानीवाङ्गाराणि भस्मचयनीशारेण सद्य एवाच्छादयति। पवमानोऽपि सत्वरसत्वर व्रजन् विदूरगिरिगुहासु विरिरसुरिव 'माऽस्मान् सततप्रणयिनो विहाय प्रव्राजी' इति सकोलाहल व्याजिहीर्षु शकुनिकुल भर्त्सयन्निव निवारयन्निव लोलल्लताग्रं वाति। शीतभयभीता विद्रुता दिशोऽपि दूरीभूता । आकाशमपि शीतशितशरीरमिव शून्यता बिभर्त्ति । किमपि कर्म कर्त्तुं नोत्सहते मानसम् । ईषदपि प्रावरणपृथग्भूतमङ्ग विनश्यदिव प्रतिभाति ।

अथ लोकघटीप्रतिनिधौ चलच्चौ चञ्चलचूडे ताम्रचूडे तारमधुर शब्दायमाने सरोजिनीशरीरसंहरणस्फुटागसि हेमन्ते तरङ्गहस्तैर्व्यञ्जितक्रोध इव प्रतीयमाने पद्माकरे साधनासमये हेमन्तेन भक्षितपत्रपुष्पफलेष्विव काण्डशेषेषु पय पृक्तप्रकम्पनप्रेरितेषु परस्पर शाखासङ्घर्षणेन खटखटशब्दैर्दन्तानिव घट्टयत्सु वृक्षेषूपविष्टास्तपश्चरन्तो योगिन ईश्वर साक्षात्कारमिव दिनेश्वरसाक्षात्कार प्रतीक्षन्ते पक्षिण ।

गोजाविक म्लानम् चुल्लीगुहाभस्मचयसुप्त श्वा ताडितोऽपि नोज्झति। वराका स्वाङ्गानि स्वस्मिन्निह्नोतुमिच्छन्त कच्छपवत् सङ्कुचन्ति। अथ कमठक्रोडकारो न्मुक्तै सुमन सौरभभ्रान्तैर्भृङ्गैर्गीयमानगुणो मृणालिनीविलासोल्लासवाही विरहविधुर कोकवधूवधुरबन्धुर्दिङ्मण्डलीमणिमुकुटमण्डनहीर उत्फुल्लपद्मिनीप्रतिबिम्बेनेव लोहितो दित शीतार्त्तानां निर्धूमो मारवशमीकाष्ठाङ्गार इवामितग्लामिरायसीभि कशाभिरिवा रुणाभि सत्वरमिन्वरीभिमरीचिभिर्विदीर्णदिग्ध्वान्तौघ, उदयधराधरमूर्धमणिरनभि नन्दनाकाङ्क्ष फलानपेक्ष सेवाव्रती शीतक्लेशितो भीतश्चिर सुप्त इतीवायामिनीम् शीतार्त्ता विपन्नपतिका पतिव्रता सुखमुखायमानामश्रभिरिव तुहिनकणै क्लिन्नां भ्रातृजायामिव हैमनीं यामिनीं नियम्य विश्व प्रबोधयितु प्राविशत्सेवाङ्गनम्। सूर्यस्य रम्या किरणावली न्हृता सुखावहन सौरातपेन स्नाता श्यामा सर्व सहाऽऽप्रकाशिता च पर

शीतस्य स्वकीयेऽस्मिन् समये गगनाटवीपञ्चाननेन न किमपि कर्तुं शेके। दिनमशेषशीतेन परिकम्प्यमानशरीरः सत्वरमेवान्तमाप। सलज्जो दिनपतिरप्यस्तगिरिगुहां विविक्षुरम्बरतलादवालम्बत।

विमलपुरराजभवनेऽद्यानन्दलहरी प्रसृता। व्यग्रः पुरस्त्रीवर्गः सत्वरसत्वरं व्रजन् कार्यस्य महत्त्वं ज्ञापयति। राजचिकित्सालयस्य विदुषी वैद्या परिचारिकां बोधयति। विमलस्तूलराशिरक्तशास्त्रवस्त्राणि च पूयन्ते। उष्णायतेऽन्तर्हसन्तीभिर्भवनम्। गीतं गायन्तीभिर्गायिकाभिर्वेदवादिभिर्विप्रैश्च भूपतिभवनं भूष्यते। राजा रामपाल उत्कण्ठनविशन् प्रतिक्षणं भित्तिघटीं मणिबन्धघटीञ्च पश्यंस्तयोः समयसाम्यं वीक्ष्यापि मन्दगतित्वं मुहुर्मुहुराशङ्कते। अन्तःपुरादागच्छन्त्या दास्या मुखात् किमपि शुश्रूषुः समुत्तिष्ठति।

“देव! देवस्य गृहं भगवती स्वयं सनाथयाञ्चकार” आगत्य प्रणम्य कञ्चुकिनोचे।

जन्मत एव सरला मुग्धा कमला कैरपि रुदती न दृष्टा। कदापि विषादरेखाया नास्या मुखकमले स्थानमकारि। बालसुलभमनिमिषदर्शनं स्वच्छन्दो हासः स्वाभाविकी प्रतिभा उत्तानामृतमधुरा मुग्धवदा बालकाकली च सर्वेषां मनांस्याकर्षन्ति स्म। सर्व एव तां स्वाङ्कस्थमचीकमन्त। सत्यपि धात्रीसहस्रे महिषी तां स्वयं लालयति स्म। नरपतिस्तामुत्सङ्गे कृत्वा नितरां प्रासीदत्। द्विहायनी कमला भित्तिदर्पणेषु सङ्क्रान्तमूर्तिरपरबालालापेच्छया मृदु स्मयमाना तर्जनीसादृश्येन तां विहायापि च शङ्कितन्यस्तपादप्रचलन्तीतस्ततः प्रेङ्खणेन सममेव पतिना सत्वरमेवोदतिष्ठत्।

* * *

‘देव! एषु दिनेषु बहवोऽनुरक्ता भवता हर्षसिद्धिप्रसादयोत्सविनी समायाता। श्रीमतो मित्र राजनगरमेत्राण्डनमपि।”

“अपि सत्यम्, मम मित्रं नवेन्दुः? मामकीनं सन्देशमादाय सपदि गच्छ।”

“यथाज्ञाप्यते देवेन।”

* * *

“एह्येहि, अनुकम्पय, भूतोऽस्मि भूतानां मानभाजनम्, यस्यावास भवादृशाश्चरणरेणुभिः पवयन्ति, कच्चित् पूजिता देवी?” पितुस्तर्जनीं गृहीत्वा शनैःशनैश्चलन्ती मुग्धवर्णा बालिका प्रेमोत्सुकं नमता नवेन्दुनोचे।

"सर्वं कुशलम्। कथं न स्यात् कुशलं यस्य भवादृशा पवित्रकीर्त्तयो राजर्षयो नाम्नैवामङ्गलघ्ना मङ्गलं कामयन्ते। प्रातरेव पूजिता प्रसादसुमुखी परमेश्वरी कालिका देवदेवो महाकालश्च। श्वः प्रातरेव गन्तव्यमिति देवदर्शनसुखमनुभवितुं प्रेरितोऽस्मि। श्रीमन्तं यतो ज्ञातवानस्मि, तत एव विलम्बमसहमानोऽधीरतामनुभवामि।"

'प्रत्यावर्तितवृत्तं मम शैशवचरितं पुरोभवदिवानुभावयति रामपाल! नोत्सहते च श्रोतुं प्रयाणवार्तामपि। किन्तु चित्रपटचञ्चला राज्यश्रियः कामिन्य इव नाधिकं कालक्षेपं सोढुं समर्था। भगवाञ्छिवः ईदृक् सुदिनमन्यदाऽप्युपहरताद् यत्रावयोर्मेलनं सम्भवेत्।'

"अहर्निशं प्रेक्षणीयं राज्यम्। स्वभावदुर्जनो जनपदः, दुर्दमनीयदानवनिकर इव लुण्टाकनिकरः, आपद्गता विविधकरैः पीडिताः प्रजाः, सर्वेषामेव समये सम्भालनम्।"

"देव, सज्जमुष्णपेयम्" प्रणम्य न्यवेदि सेवकेन।

'एहि मित्र, तत्रैव वार्तासुखमनुभविष्याव।'

अथ सूर्यास्तेन विचलिते लोके तमोमग्ने च गगने दिगङ्गनावदनचन्दनबिन्दुरिव मयूखलेखोद्योतितस्मरेरस्मरप्रदीपाङ्कुरः कुमुदमुकुलकुलविकासी यामिनीसौभाग्यसिन्दूरं तमश्चलयन्, दुग्धतरङ्गधौतविश्वः शनैरुदभूत्साश्चर्यचर्यश्चन्द्रालोकः। प्रियकरैरुन्मुक्ततमकञ्चुकी सलीलमपदाय प्रतिरोमनिर्यदानन्दाट्टहासा विरहिचरीव निशा प्रियेक्षणदर्पवर्धिन्दुहासमिषेण जगदखिलं हसपक्षतिसितीकरिष्यन्ती नयनमानसानन्ददायिनीं विमलमृणालावण्यलतिकामणिश्रेणिपयस्पर्धिनीं दन्तप्रभामिव ज्योत्स्नां सर्वतो दिशं प्रासारयत्। कर्पूरधवलधूलिद्युतिधौतं विश्वं जहास।

रसेन्द्रचिन्तामणिरिव बभौ विभावरी चन्द्रोदयेन। पीयूषवर्षस्य चन्द्रालोक इव जगति प्रासार्षीच्चन्द्रस्यालोकः। मग्नमूर्च्छाणीव बभौ विश्वं भामला।

एतस्मिन् वर्तुले स्फटिकोत्तरे काष्ठपीठे केशरमृगमदगन्धि सुष्णे पयसि जिह्वां च्योतयति यथेच्छं गृहीत्वाऽभ्यवहरत्सु, इतश्च क्रीडतोर्नवपरिचययोश्चन्द्रकमलयोरवदद्रामपलमन्त्री—

'देवौ! शैशवत एव प्रगाढप्रेमाणौ समानस्वभावभावायुषौ च युवाम्। मामकीना जरठमतिर्मनुते यत् प्रेमाय वां सन्ततयोरप्यक्षुण्णं स्यात्तदाऽपरिमेयया मुदा प्रपूरितानि स्युः सर्वेषां मानसानि। सुस्थिरश्च स्याद् भवतोः सम्मेलः।"

शङ्खाकृतयो रामणीयकमहोदधेरारामस्य हरिताः कम्बव इव भ्राजन्ते। सान्द्रा नवच्छदन-पुष्पाः प्रतानिन्यः प्रचण्डांशोस्तापं प्रावृषः प्रतापं धर्षयन्ति। क्वचनाकान्तकुण्डिक्य क्रौञ्चाः क्रेङ्कारं कुर्वन्ति, क्वचन च केकिन उत्पत्योत्पातरेकां केकाम्। क्वचन शुकसङ्गीतम्, क्वचन कोकिलकाकली, क्वचन सारसरसितम्, क्वचन हंसविहरितम्, क्वचन तरलतार-काणामेणकानां वल्गितम्, क्वचन पुष्पवल्लीसमाच्छन्नपादपनिलयेषु पारावतगुङ्कारः, क्वचन गुञ्जन्मधुलुब्धमुदितमधुकरनिकरझङ्कारः, क्वचन खेलच्चटकचुङ्कारः। चन्द्रिकाचयेनेव पूर्णा जलजातजलजव्रजा विमलतला नस्यगाधजला सुदीर्घा दीर्घिका पवनप्रेरिततरङ्गैः पार्श्वपादपपूरं हरितयन्त्याकर्षयति मनांसि। निशासु तारागणप्रतिमूर्त्या जनितरत्नाकर-भ्रान्ति यस्या नीरं कामिनीशिरःपरिमलपरिमिलितं सौरभसौन्दर्यसरःसार इव पूतपारद इव रजतद्रव इव प्रतीयते। नागवल्लीदलधनुराकारासु वेदिकासु पुष्पधनैश्शाखिभिः काव्यभुवीव शोभमानायामुपवनभुवि क्रमानुसारिक्षुपविटपन्यासैर्विलसति क्रीडापुष्पपर्वत, पादकन्दुकपाणिकन्दुकक्रीडनाय रम्यदूर्वं प्रदेशश्च।

फलास्वादलोलुपा विदेशीया अपि कलविहारिणः पक्षपुटपूतपादपप्रान्ताः पक्षिणो यत्र प्रचुरं प्रेक्ष्यन्ते, हारिणो हरिणाः, विविधदेशासादिता बिलेशयाः, कौशलेन सम्पादितानि चित्राणि च। मध्ये च नवनीतमसृणधवलशिल गवाक्षाक्षैर्जगति स्वसमत्वमिव समीक्ष-माण राजोचितसम्भारसम्भृत विशालं बहुशालं हर्म्यम्, यत्र धवलीकृतपाषाणस्तम्भेषूत्कीर्णा वल्लर्यः शिल्पिनो निष्णाततां निश्चाययन्ति। कौशेयनीलास्तरणास्तृतमिव यन्त्रकर्तन-समानदूर्वं सखीजनैः प्रणयप्रक्षिप्तशुभ्रकुसुमं तारकितं वियदिव क्षेत्रम्।

समस्तशास्त्रकलाकुशलया गानविद्यावित्तया साहित्यार्थशास्त्रनिष्णातया चाध्यापिकया शिक्ष्यमाणा धनुषा भुशुण्डिकया लक्ष्यवेधने, करवालफलकमर्यादासु, जलतरणगजाश्वोष्ट्र-धावने मरुत्तरवायुयानादिपरिचालने कुशला कमलाऽत्रैव निवसति। सिद्धसौदामिनीव कस्तूरिकाकुङ्कुमाञ्चितस्वेदाद्भासुरललाटा कदाचन कनकवल्लकीमादाय धरामुपगम्य कृतोच्छ्वसितमिवोपसमधरोष्ठेन प्रत्याययन्ती सुधोर्मिनिर्यासमधुरसुतुङ्गसौधोत्सङ्गसङ्गि सङ्गीतं प्रासारयदानन्दजलदा आच्छादयन्ति स्म सुधासमीरणैस्तृप्तास्तरवोऽपि व्यङ्गभन्।

वरारोहाया नितान्तं नवीनं वयः, विघनेन्दुसमद्युति मुखे यौवनाभा, सुषमाशाली • मा प्रकटयति लोचनलोभनीयां छटाम्, तिरस्कृतविकसितोत्पलविलासे विकास-

सिंहासनस्यैकत चित्रितशकुनिकुल्येषु और्णास्तरणेषु, परिमलतैलानुसारि चञ्चरीक चर्चितानां, मौलिमुकुटैश्चक्षू षि चकितयतां गुणगणाधिगतगौरवाणां राजकुमाराणामेकतश्चो ष्णीपालङ्कृतशिरसां शोभन्ते सितवाससां देशरत्नानामासन्य ।

अयकुमारश्चन्द्रो युवराजपदेऽभिषेक्ष्यते, चिरजीवतात् प्रजाप्रणयी युवराजश्चन्द्र इत्येव श्रूयते सर्वतश्चर्चा। द्वारमुभयतो मध्यमुक्तमार्गा सशस्त्रसैनिकपङ्क्तिर्विदूरपर्यन्त समयार्द स्थितास्ते ।

भास्वता राजतेनानावृतेन मस्तरेण प्रणतप्रणामाञ्जलीन् प्रतिगृह्णन् मन्त्रिणा चन्द्रेण च युक्त सभाभवन प्रविश्य गृहीतसैनिकप्रणामोऽलञ्चकार सिंहासन नवेन्दुपालवर्मा।

स च विष्वक्सेनश्चक्रपाणि विहितसत्याग्रहो माधवजगद्भवो विहसन्, शङ्कर इव विभूतिव्याप्तवपु, वामन इव कृतबलिग्रहण, हिरण्याक्ष इव धृतवसुन्धरो, गेरणाविति सूत्रमिव जातार्थगुप्ति, व्याप्तिलक्षणमिव प्रभूतनिर्देशभासमान, खण्डनखण्डखाद्यमिव खण्डितानेकशासन, शब्देन्दुशेखर इव सिद्धान्तव्याख्याता, रत्नमकुटालकृत, अवलम्बित श्वेतमुक्तेन, हाटकतन्तुस्यूतस्तबकेन कौशेयाप्रपदीनेनाच्छन्नतनु, गजदन्तमुष्टिना हेमकोशेन कौक्षेयकेण विलसितमध्यो गम्भीराकृति कृती रराज राजनगरभूमि भामिनीभ्रूभङ्गभागी नवेन्दुपाल ।

वामतश्च[1] प्रभव प्रकृष्टगुणानां पराभवभवन पापानां, अपसृष्टो दुष्टै, सञ्जुष्ट शिष्टै, रञ्जकर्त्ता पूर्वजान्, अवधिर्विद्याम्भोधे, निस्सारको लोकदुराचाराणां, निरवधिनिष्णातो निस्त्रिंशे, दुःसहस्तेजस्विनां, दुरधिगमगाम्भीर्यो, विलीयमान इव लोकहृदये, आधारो वीररसस्य, निकायो निर्दोषनयस्य, अधिप आपद्गतानां, अपिधान वाचालानां, अति मुक्तकोश कलावतां, सुहृत्प्राणिमात्रस्य, उत्थान मनस्विनां, अभिभावको जगत, प्रतिष्ठितप्रज्ञ, परिभूतभूरिवैरी, हासप्रिय प्रिय प्रजानां, सुदृढयुपास्यो मञ्चरिरिव धात्रशोऽलाकृति, षडानन इव धाम्मी मूकीकृतवचस्विसमाज, सुन्दरमधुर स्निग्धचूर्ण कुन्तलोगौर, कपर्दिन ससारसर्वस्व, पिनाकिन सर्वास्त्रनिपुण, विरूपाक्ष पुण्डरीकाक्ष, कामद कामदो, विहसन्निव गिरीश सर्वेशोऽनुकुर्वन्निव चतुराननश्चतुरानन कमलासन कमलासन प्रजापति प्रजापतिं, समाक्षिपन्निव देवकीनन्दन जगदानन्दन, पादसंवाहनलग्नश्रिय

---

1 क्रमश सव उपसर्गा ।

सर्वाङ्गलग्नश्रीः, हीरकखचितेन स्वर्णत्सरुणा हेमकोशेन चन्द्रहासेन पूज्यमानवामपार्श्वः, जातरूपतन्तुरचितमहार्हमहोष्णीषः, पटवासवासितवासोबद्धविग्रहो, हिमशुभ्रधौतवसनः स्मितेपन्निस्मृतदशन, आरक्तदगलवसनः, करवालकेलिचक्तीकृतवीरवरो राजकुमारः स्वर्णासन्दीं समलभत स्थानं धन्यजननीकश्चन्द्रः ।

यश्च रसगुणबलिजारितपारदसेवनक्षीणक्षयः साक्षाच्चन्द्र इवालसि ।

किमितोऽप्यधिकं रम्यं मारवपुरयमेवस्मर इतिविचार्य कृष्णीकृतमिवकचकलापं भ्रमरैः, सुगन्धितमिवजपुर्वमन्वेन सुकुमारीकृतमिव सुमनोभिः प्रकटितमिवत्वधर्मं मिलितमिव मारमित्रैः ।

दक्षिणतश्च काशनीकाशकेशासितपक्ष्मा, अन्वीक्षित आन्वीक्षिक्यां, अद्वितीयस्त्रय्यां, शौण्डोदण्डनीतौ, वित्तोवार्त्तासु, विपश्चितामपश्चिमः, विद्रुमश्चिव एकाक्ष कमनीयाक्षः, रेजे रजतमय्यां शुभासन्द्यां मन्त्रिवरोऽशेषविद्याधरोविद्याधरः ।

अथ सज्जायो समज्यायां समेतेषु माननीयेषु नागरिकेषु, लोकप्रियेषु लोकहितव्रतिषु, यथास्थानं स्थितेषु च, प्रयत्नसिद्धधूपधूपितायाश्च संसद्भूमौ सकलं माण्डलिकमण्डलमभ्युत्थाय क्रमशो दौवारिकदत्तपरिचयः प्रणनाम ।

अथ स्मयमानोनरपतिः पीयूषपरीतयेव मधुरया, अगाधहृदयान्तर्वसत्येव गभीरया वाचा वक्तुमारभत ।

श्रद्धेया महर्षयः, प्रियाः प्रजाश्च,

महामहिम्नो विश्वशासितुः परमानुकम्पया राज्यधुर्वतो मे चत्वारिंशद् वर्षाणि व्यतीतानि । यत्प्रभृत्यहं प्राप्तयौवनोऽस्मि प्रजाना सर्वविधानि कष्टान्यपनेतुं यत्नोऽस्मि । दुष्कालमहामार्यादिसङ्कटकटकविनाशकं जगदनुग्राहकं परमेशानं प्रति सर्वदैवानतोऽस्मि प्रत्यहं प्रार्थयमानो भवतां योगक्षेमाय ।

मयि राज्ये च या प्रगाढा भक्तिर्यश्चत्यागो यच्चातुलं प्रेम भवद्भिः प्रदर्शितं तेन सर्वेषां राज्ञां हृदि अतुलो हर्षवर्षः सम्भवति । यश्च बहोः कालात् राजप्रजयोः प्रचलित आसीत् पितृपुत्रवत्सम्बन्धः, गर्वोन्नतशिरा अहमद्यापि वक्तुं शक्नोमि यत्सोऽस्याप्यावयो र्मानससरोजे राजते समानं सुदृढमूलः सम्बन्धः ।

भवतां सुखे दुःखे च सदैव सहचरीभवत्साम्यम् । यदा यदा भगवदनुकम्पया

सिंहासनस्यैक्त चिन्तितशत्रुनिकुल्येषु और्णास्तरणेषु, परिमलतैलानुसारि चञ्चरीक चर्चितानां, मौलिमुकुटैश्चक्षू षि चकितयता गुणगणाधिगतगौरवाणां राजकुमाराणामेकतश्चो-ष्णीषालङ्कृतशिरसां शोभन्ते सितवाससां देशरत्नानामासन्य ।

अद्यकुमारश्चन्द्रो युवराजपदेऽभिषेक्ष्यते, चिरजीवतात् प्रजाप्रणयी युवराजश्चन्द्र इत्येव श्रूयते सर्वतश्चर्चा । द्वारमुभयतो मध्यमुक्तमार्गा सशस्त्रसैनिकपङ्क्ति विदूरपर्यन्त समयार्दं स्थितास्ते ।

भास्वता राजतेनानावृतेन मरुत्तरेण प्रणतप्रणामाञ्जलीन् प्रतिगृह्णन् मन्त्रिणा चन्द्रेण च युक्त सभाभवन प्रविश्य गृहीतसैनिकप्रणामोऽलञ्चकार सिंहासन नवेन्दुपालवर्मा ।

स च विष्वक्सेनश्चक्रपाणि विदितसत्याग्रहो माधवजगद्धवो विहसन्, शङ्कर इव विभूतिव्याप्तवपु, वामन इव कृतबलिग्रहण, हिरण्याक्ष इव धृतवसुन्धरो, गैरणाविति सूत्रमिव जातार्धगुप्ति, व्याप्तिलक्षणमिव प्रभूतनिर्देशभासमान, खण्डनखण्डखाद्यमिव खण्डितानेकशासन, शब्देन्दुशेखर इव सिद्धान्तव्याख्याता, रत्नमुकुटालङ्कृत, अवलम्बित-श्वेतमुक्तेन, हाटकतन्तुस्यूतस्तबकेन कौशेयाप्रपदीनेनाच्छन्नतनु, गजदन्तमुष्टिना हेमकोशेन कौक्षेयकेण विलसितमध्यो गम्भीराकृति कृती रराज राजनगरभूमि-भामिनीभ्रूभङ्गभागी नवेन्दुपाल ।

वामतश्च[1] प्रभव प्रकृष्टगुणाना पराभवभवन पापाना, अपस्पृष्टो दुष्टै, सञ्जुष्ट शिष्टै, रनुकर्त्ता पूर्वजान्, अवधिर्विद्याम्भोधे, निस्सारको लोकदुराचाराणा, निरवधिनिष्णातो निस्त्रिंशे, दुःसह्यतेजा स्तेजस्विनां, दुरधिगमगाम्भीर्यो, विलीयमान इव लोकहृदये, आधारो वीररसस्य, निकायो निश्शेषनयस्य, अधिप आपद्गताना, अपिधान वाचालानां, अति-मुक्तकोश कलावता, सुहृत्प्राणिमात्रस्य, उत्थान मनस्विना, अभिभावको जगत, प्रतिष्ठितप्रज्ञ, परिभूतभूरिवैरी, हासप्रिय प्रिय प्रजाना, सुहृद्युपास्यो मञ्चरिरिव धान्यशोऽलाकृति, षडानन इव वाग्मी मूकीकृतवचस्विसमाज, सुन्दरमधुर स्निग्धचूर्ण कुन्तलोगौर, कपर्दिन ससारसर्वस्व, पिनाकिन सर्वास्त्रनिपुण, विरूपाक्ष पुण्डरीकाक्ष, कामद कामदो, विहसन्निव गिरीश सर्वेशोऽनुकुर्वन्निव चतुराननश्चतुरानन, कमलासन कमलासन, प्रजापति प्रजापतिं, समाक्षिपन्निव देवकीनन्दन जगदानन्दन, पादसवाहनलग्नश्रियं

१ क्रमश सर्वे उपसर्गा ।

सर्वाङ्गलक्ष्मीः, हीरकखचितेन स्वर्णत्सरुणा हेमकोशेन चन्द्रहासेन पूज्यमानवामपार्श्वः, जातरूपतन्तुरचितमहार्हमहोष्णीषः, पटवासवासितनासीरबद्धविग्रहो, हिमशुभ्रधौतवसनः स्मितैपन्निःसृतदशन, आरक्तदमनवसनः, करवालकेलिचक्रीकृतवीरवरो राजकुमारः स्वर्णासन्द्यां समलभत स्थानं धन्यजननीकश्चन्द्रः ।

यत्र रसगुणबलिज्ञारितपारदसेवनक्षीणभूयः साक्षाचन्द्र इवालसत् ।

किमितोऽप्यधिकं रम्यं मारवपुरस्यमेवत्सर इतिविचार्य तूष्णीकृतमिवकचकलापं भ्रमरैः, सुगन्धितमिववपुर्वसन्तेन सुकुमारीकृतमिव सुमनोभिः प्रकटितमिवत्वधर्मं मिलितमिव मारमित्रैः ।

दक्षिणतश्च काशनीकाशकेशाक्षिपक्ष्मा, अन्वीक्षित आन्वीक्षिक्यां, अद्वितीयस्त्रय्यां, शौण्डो दण्डनीतौ, विज्ञो वार्त्तासु, विपश्चितामपश्चिमः, विद्वत्स्विव एकाक्षं कमनीयाक्षः, रेजे रजतमय्यां शुभासन्द्यां मन्त्रिवरोऽध्युपविश्य यो विद्याधरः ।

अथ सज्जायां समज्यायां समेतेषु माननीयेषु नागरिकेषु, लोकप्रियेषु लोकहित-रतेषु, यथास्थानं स्थितेषु च, प्रयत्नसिद्धधूपधूपितायाम् संसद्भूमौ सकलं माण्डलिक-मण्डलमभ्युत्थाय क्रमशो दौवारिकदत्तपरिचयः प्रणनाम ।

अथ स्मयमानो नरपतिः पीयूषसरितेव मधुरया, अगाधहृदयान्तरस्येव गम्भीरया वाचा वक्तुमारभत ।

श्रद्धेया महर्षयः, प्रियाः प्रजाश्च,

महामहिम्नो विश्वशास्तुः परमानुकम्पया राज्यधुरं वहतो मे चत्वारिंशद् वर्षाणि व्यतीतानि । यत्प्रमूलमहं प्राप्तयौवनोऽस्मि प्रजानां सर्वविधानि कष्टान्यपनेतुं तत्परोऽस्मि । दुष्कालमहामार्यादिसङ्कटकण्टकविनाशकं जगदनुग्राहकं परमेशानं प्रति सर्वदैवानतोऽस्मि प्रत्यहं प्रार्थयमानो भवतां योगक्षेमाय ।

मयि राज्ये च या प्रगाढा भक्तिर्यश्चत्यागो यश्चातुलं प्रेम भवद्भिः प्रदर्शितं तेन समेषां सतां हृदि अतुलो हर्षभरः सम्भरति । यच्च बहोः कालात् राज-प्रजयोः प्रचलित आसीत् पितृपुत्रवत्सम्बन्धः, गर्वोन्नतशिरा अहमद्यापि वक्तुं शक्नोमि यन्मोऽद्यापावयो र्मानससरोजे राजते समानं सुदृढमूलः सम्बन्धः ।

भवतां सुखे दुःखे च सदैव सहचरीभवनासम् । यदा यदा भगवदनुकम्पया

ममानन्दावसरा प्राप्ता दुरावसराश्च यश्च जगत स्वाभाविकोधर्म खल्हि भवद्भिरपि मे साहाय्य कृतमास्ते।

भगवतेऽनन्तकोटिब्रह्माण्डस्वामिने प्रणामोपायनमुपहरामि येन राज्यनिरीक्षणक्षमा, सदसद्विवेकधनाचेतना धराधुराधरणसह वपुरपूर्वापूर्वकार्यचिकीर्षाप्रवण उत्साहो जगदव लोकयितु सत् स्वास्थ्य च मे प्रदत्तम्।

सकलस्य राज्यस्य सेवायै सर्वविधनवीनसाधनसम्पन्ना जलस्थलवायुसेना शत्रुमुख घातनेऽसाम्यमासादयति।

अह सर्वदैव प्रजाधिकारसुरक्षायै तासामावश्यकतापूर्त्यैचोद्युक्तोऽस्मि। राज्यस्य विधिसभासदस्या जनतया निर्वाचिता राज्यसचलनोचित राष्ट्रोन्नतिकरञ्च विधिविधाय विधानुकरणीया व्यवस्था व्यवस्थापयन्ति। प्रतिग्राम ग्रामीणैर्ग्रथिता ग्रामण्य एव पारस्परिक विवादाभियोग शमयन्तो वैमनस्येर्ष्या भस्मयन्तो ग्रामोन्नतिं कुर्वन्ति।

लघुष्वपि ग्रामेष्वेका स्वल्पीयसी रम्या पाठशाला, आरोग्यशाला, व्याख्यानै प्रौढशिक्षणशाला, पत्रालयो, वाचनालय, स्वयसेवकक्रीडास्थल, वाटिका, स्वय ग्रामीणै श्रातुर्येण रचिता राजमार्गा, कुल्या, प्रभूतधान्यानि क्षेत्राणि, च वीक्ष्य कस्य न मन परमानन्दस्यावधिं समेति। आभ्यन्तरव्यवस्थायै न राज्ये रक्षकसेवकानामावश्यकता। चौरजारानौचित्याचारवर्चैव न श्रूयते, न कश्चनागृह्यमाणोऽपि वराक किमपि जिघृक्षति। तस्य हृदि स्वयमुपार्जितवस्तुन एव उपभोगेच्छावर्त्तते। न राष्ट्रेऽत्युट्टिनी न वाराङ्गना, न मद्यालयो, न द्यूतालय, नधूर्तो, नवञ्चको, नाननुशासनो, न निर्धनो, न कुचल।

नास्त्यत्र सन्देहलवोऽपि यद्राज्यमिद यौष्माकैरास्माकैश्च पूर्वजैर्महता श्रमेणोन्नते परा कोटिं नीतम्। अनया पैतृकसम्पत्त्याऽस्माक सत्यो गर्व। परन्त्विदमपि न विस्मरणीय यदेषा स्थितिरस्माभिर्महता श्रमेणानीता। अत्रैव प्रतिशतमेकोनर शिक्षितो नहि साक्षर आसीत्। अत्रैव शिशूना मृत्यु प्रतिशतमशीतिरासीत्। दुराचारव्यभिचारव्याधिना नरा ग्रस्ता आसन्। क्षय सामान्यप्रतिश्याय इव सर्वत्र प्रसृत आसीत्। दुर्भिक्षेण प्रजा प्रतिवर्षमेकस्थानादपरस्थान यान्त्य १। सर्वदैव चौरजाराणां भय सर्वान् बाधते स्म। परन्त्वधुना सर्व एवैते

कथावशेषाः संवृत्ताः। सर्वेणैतद् राज्यस्य भवताञ्च श्रमस्य सुन्दरं फलम्। भवन्तो राज्यञ्च धन्यवादास्पदम्। परन्त्वधुनाऽस्माकं केवलमिदमेव कृत्यं नास्ति यदिदं वर्त्तमानमेवास्य निर्वृत्य, किन्तु लोकोत्तरसमुन्नतेः शिखरमारुह्य निरातङ्कं सानन्दं निवसन्त्यः प्रजा वास्तविकमानन्दमुपभुञ्जीरन्निति।

सोऽहमधुना वृद्धीभूतः। वार्द्धक्यस्वभावान्नवनवेषु कार्येषु नोत्सहते चेतः। धर्मविधिष्वपि वपुरवश्यकर्त्तव्येषु शैथिल्यं भजते। न मतिर्मननीयमपि मनुते मतम्। करणजातं कार्यकरणश्रान्तमिव मन्ये। कुमारश्चन्द्रः सुशिक्षितः सुविनीतो युवा समोऽधुना धुरमिमां वोढुमतो योग्योऽयमस्मिन् कर्मणि—इति विज्ञापयितुमेव भवन्तः सादरमामन्त्रिताः।

पदप्रदानात् पूर्वं कुमारायापि विज्ञाप्यमस्ति—यन्मा नाम राज्यश्रीमदमत्तः प्रजाया योगक्षेमं विस्मार्षीः। महाप्रभावो लक्ष्मीमदो मधुमथनमपि मोहयति। लम्बमणि-हीरकं मुकुटं कण्टकाकीर्णं जानीहि। कौशेयतूलिकं स्वर्णसिंहासनं शिला-शकलाकलितं कल्पय। छत्रं सशरीरं वितानमिवाम्बरं विद्धि। चामरयुगं शोषकं मशकावलीनामाकर्षकं कुव्यसनानां मन्यस्व। नहि विलासालसा राजानो राज्यस्य प्राज्यमुपकारं कर्त्तुं क्षमाः। प्रजानां स्वातन्त्र्यजीवनं स्थिरयितुं सदैव सज्जो भवेः। दुर्जनदमने सततं करवालकरो भूयाः। विदुषां सत्कृतावप्यलसत्वं मा गाः। प्रियाः प्रजाः।

युवराजविभाभूषितमुरश्चन्द्रो जनसमूहस्य करतलवादनेन सह समुत्थाय स्मितेन सितयन्न् तसभमभापत —

पूज्यपादपद्मा महर्षयो, मान्या राजषय सहयोगिन सभ्याश्च ।

योऽय कार्यभार श्रीमद्भिरस्मत्स्कन्धआरोपित श्रीमता सहयोगादक्षमोऽप्यह समर्थो भविष्यामीत्याशासे । अद्यतन राजपद न विलाससूचक, अपितु प्रधानसेवकतासूचक प्रधानप्रहरित्वमेव घोषयति । उपहारप्रदानादिना य सम्मान श्रीमन्तो मयि प्रदर्शितवन्त स नमम, अपितु राष्ट्रसेवकस्य—राष्ट्रस्य जागरूकप्रहरिण सम्मान । नाहमेतस्य सख्यो योग्य उपभोक्ता । अत एता सामग्रीं बालविकासपरिषद उपहरामि, बाला हि भाविनो भारवाहा राष्ट्रस्य ।

मान्या ,

बहुविधतेऽस्मात्करणीयम् । अद्यतन्युगे विज्ञानस्य महदयावश्यकतावर्त्तते । वयमधुनापर्यन्तमत्यन्तावश्यकपदार्थोत्पादनाय सलग्ना आस्म, परमद्य तेन भयेन वयं मुक्ता स्म । परन्तु कदापि परेषा दयापात्राणि यथा न भवेमतथाऽस्माभिर्यतितव्यमस्ति । अद्यसायंकालिकसभायामस्मिन् विषये विचारयिष्याम ।

* * *

"देव व्यत्येति भोजनवेला । आगन्तुका मान्या अतिथयोऽपि श्रीचरणौ प्रतीक्षन्ते । आखेटार्थं गतो युवराजश्चिरयति"—मन्त्रिणोपेत्यावोचि ।

"न जाने कथ विक्लवता भजते चेत । किमप्यज्ञातभयमिव भावयति भावना । आखेटार्थं गतश्चन्द्रो नाद्युनापि प्रतिनिवर्त्तते । अद्यतनोत्सव राजभोजश्च विद्यते स कथ चिरयतीति महदुत्कण्ठितं चेत । अभितोऽशुभच्छायामिवपश्यामि, क्रन्दनमिव चिकीर्षति मामकीनं मन । न जाने किं भावि ।"

"देव ! सर्वं शर्वं श विधास्यति, देवस्य वात्सल्यमेव एव चिन्तयति । (सम्मुख पश्यन्) 'कथय देवव्रत कथ चिरयति युवराज ।'

देवव्रत —(प्रणम्य उच्छ्वसन्) देव, कुमारमित्रेण विश्वशेखरेणाय श्रीमत एको विलक्षणप्रेक्षणीयोऽश्व उपहृत आसीत् । कौतुककीतमिव भवति युवकहृदयम् । परिणाममपरिचिन्वती च मति, विगतसाध्वसश्च साहसम् । अपेतसारल्यश्च तारल्यम् ।

युवराजचन्द्रसमारुह्यश्वाभिः शनैश्शनैरनुगतोऽकस्मादेकस्माद् विटपव्यूहान्निष्क्रान्त-मुग्रदंष्ट्रं पञ्चाननं वीक्ष्य हनुमनास्तदनु प्रस्थितः, अस्माभिरप्यघट्टनस्वैरनुगतः काननैशान्धकारे पथविच्युतैर्वीक्षितश्चक्षुरगोचर एव संवृत्तः ।

विद्वद्वरेण्यननरङ्कतनूजनुर्यः
सालोचनं विपुललालितकाव्यमालः ।
सश्रीनिवास चररीकृतनव्यरोचिः
शं न्यश्वसद्वरसुधीवरणीयमाद्यम ॥

श्रीमन्नञ्जरायशास्त्रितनुजनुषा श्रीनिवासशास्त्रिणाकृते
चन्द्रमहीपतौ
प्रथमो निश्वासः

द्वितीयो निश्वासः

भिन्ना महागिरिशिला करजाग्रजाग्र—
दुद्दामशौर्यनिकरैः करटिभ्रमेण ।
दैवे पराचि करिणामरिणा तथापि
कुत्रापि नापि खलु हा । पिशितस्य लेश ।

—पण्डितराज जगन्नाथस्य

उत्कूजन्तु वटे वटे वत वका काका वराका अपि
काङ्क्षवन्तु सदा निनादपटवस्ते पिप्पले पिप्पले
सोऽन्य कोऽपि रसालपल्लवलयग्रासोल्लसत्पाटव—
क्रीडत्कोकिलकण्ठकूजनकलालीलाविलासक्रम ।

सुभाषितरत्नभाण्डागारम्

अथ जातोदये पीयूषमरीचिमालिनि सकलशस्यपितृके जैवातृके, स्वर्णाद्रिगुहाख्या मल्कीय रसाय॰मास्वादव स वरसत्वरमम्बरमवतरति रतिवितारके तारकेश्वरे ज्योत्स्नया रिल यामिलायां प्रकाशमाने वस्तुविसरे, राजतपत्राच्छादिते कर्पूरपराग मिव वर्षति नभसि प्रदर [1] नाशयितु पुष्यानुगमिवसेवमानाया[2], मनुपेयाभिर्दुग्धधाराभि रिव ज्योत्स्नाभि सिच्यमानायां वसुमत्या, प्रफुल्लकैरवेषु, सरस्सु, सत्रपकमलिनीषु दीर्घिकासु रमदमानान॰ सु च कुमुदिनीषु समाधिमिवालम्ब्य निद्रादेवीमाराधय सु जनेषु द्विशा पुरुषा पर्वतान्त प्रदेशे स्थिता सन्ति ।

महानय प्रदेश । अभितो लघुलघव पर्वता पादपप्राचुर्यंव तो ये समागन्तृनेत्र निपातात्तान् वञ्चयन्ति [3] ।

---

[1] प्रदरोरोग पुष्यानुग [2] चूर्णेन शाम्यते । पक्षे प्रकृष्टो दरोभय, पुष्यइति नक्षत्रो पलक्षण तान्यनुगानि मस्यतेन चन्द्रेण नाश्यते । नक्षत्रोदये भय नश्यतीतिभाव । बचाते हैं इति भाषा [3] ।

मध्ये विविधघासविभासी, हरिणरोमकृदुलोरम्यस्तापहारी, शीतलः प्रदेशः। गण्डशैलान् कर्तयन्ती स्वच्छजला सरिदिका वहत्येकतः। या पावतमध्यमासाद्यादृश्या भवति। पूर्वतः पुरुषैरप्युन्नतैरपुरुषगम्या दुर्गमा दरत्[1]। मध्ये नितरां सान्द्रा पादपावली। यत्र तत्र कुटन्नटे[2] ऽक्षोटे[3] मधुमक्षिकाः भनभनायन्ते। इतस्ततोऽभ्रमन्तो दुष्टात्मानोऽत्रैवात्मानं सुस्थिनं मन्वते। पुरन्दुष्टं स्थानमेतं दुस्टाकानां लीलानिलयं, चौराणामाचारचत्वरं, म्लेच्छानां पत्तनं, रक्षसामासनं, यक्षाणां भक्षणभवनं, उत्पातानामुत्पत्तिं, वराकपथिकानां विलीनप्रदृष्टपक्षगमाचक्षते। विस्मृतमार्गनिरपेक्ष्यन सज्जन इतो नाटीकते[4]।

अथापि त्रयः पुरुषा अनालोक्यन्ते। निश्चप्रचन्ते दुष्टात्मान—इतितु स्थानमेवाख्याति, परन्तु तदालापशुश्रूषा चेत् "पाठकाः पाठिका"श्च निभृतमागच्छन्तु मा नाम नूपुरशिञ्जित तान् सुचेतयेत्—श्रम्मः किं तैर्विचार्यते।

यश्चैतेषु शिलापीठमधितिष्ठन् नायक इव प्रतीयते वयसा पञ्चविंशतिवर्षो विपुलांसः प्रौढकुलजात इव सभ्यवेशो नातिसुन्दरो बलवान् पटखण्डेन स्वेदबिन्दून् प्रोञ्छन्नास्ते।

अन्यौ द्वौच सुघटितशरीरौ सैनिकवसनौ बद्धकटितटौ, स्कन्धावलम्बमानकन्थौ, कृष्णाहिकोशकौक्षेयकधरौ भिन्दिपालपूजितपार्श्वौ युवानौ सम्मुखीनशिलातले समुपविष्टौ स्तः।

अधुनैवैको निकटनिकुञ्जान्निश्चक्राम द्विनालीसुभगकटितटोऽसितपटो वीरभटः।

"एहि रे प्रबल! चिरात्प्रतीक्ष्यसे"—"देव, समय एव समागतोऽस्म्याज्ञाप्यताम्"।

"प्रियाः! यूयं सदैव मत्कार्यसाधनाय सक्षमाः स्थ। प्राणान् संशयशिखरमारोप्य मत्कार्यसाधने तत्पराणां नानृण्यमासादयितुमलमस्मि। प्रबलेन यथोपकृतोऽस्मि, मन्ये पितापि नैवं न पालयेत्, माताप्येवं नमानयेत्, भ्राताप्येवं नविभियात्।

प्रबल—देव! भवत्पादयोः सम्यगपचितिः कदापि न भूता। वृथैव देवो लज्जितां प्रकटयति। वृत्तिभुजो वयं यदि देवमाराधयामोऽपि तत्र किं निःस्वार्थम्। वेतनं भुञ्जाना अपि देवं यदि न सेवामहे, तदानु पापैर्मग्नानां न जाने कस्मिन्निपततः स्थ निरये। यतः प्रभृति महाराजो नन्दनपुरेश्वरो परलोकंमनायिनवैस्तत एव प्रतिक्षणं शोचमनुतिष्ठामि, प्रार्थयामि च परमेशानं यत् प्रभो कदाहमेनाभ्यां लोचनाभ्यां श्रीमन्मणिकुमारान् श्रीरत्नकान्तिसिद्धान् नन्दनपुरराज्यसिंहासनेऽध्यासितो द्रक्ष्यामि।

---

१ दरत्-दर्रा। २ सोनापाठ। ३ अखरोट। ४ नहीं घटकते।

कान्ति०—प्रबल ! विरमास्माद् वाङ्मयात्। नाहं राज्यं कामये। भ्राष्ट्रे भजतां साम्राज्यम्। नास्माकं प्रयोजनं राज्यवार्त्तयापि। यासां योगक्षेम रक्षन्नह राज्यकामुक आसं, ताः प्रजा एवास्माकं विरोधिवचो ब्रूयुस्तदास्माकमेव तेन किम् ? राज्यग्रहणे कि मम कश्चन नैजः स्वार्थ आसीत् ?

प्रबल०—सर्वं जाने देव ! परन्त्वन्येन कर्णे फूत्कृतो जनः स्वार्थमपि नाशयति। अस्तु, आदिश्यतां कश्चनादेशः। निष्कर्मणान्तु दिनान्येव नातियन्ति।

कान्ति०—कमलया सह परिणयप्रतिज्ञां कृतवानस्मि—इति तु भवतां विदितमेव। मम प्रतिज्ञायां, तव प्राबल्ये, वीरवरस्य चातुर्ये, सूर्यसिंहस्य साहसे च द्वयोर्द्वयोश्चतुर्भाववमे विश्वासः। अपि सत्य रोचते वीरवर ?

वीर०—आं देव ! एकदावथ सकमलं भवन्तमत्र शैलशिलातले समुपविष्टं प्रणस्यामः।

कान्ति०—परन्तु भवद्भ्यो विज्ञातमेवास्ते यद् द्रविणमन्तरा न किमपि कर्त्तुं पार्यते। सर्वत्रधनस्यावश्यकता विशेषतश्च विवाहे पुनश्च राजकुमार्यासह। वासोभूषणकला-नामुन्यूनतोन्यूनं पञ्चलक्षमुद्राणामावश्यकता। अपि ! वीरवर ? कश्चनैतदर्थेऽपि स्थिरीकृत उपायः।

वीर०—आं देव ! [किञ्चित्स्मृत्वेव] विदूरमितोऽस्ति राजनगरनाम्नि नगरे मम मातुलेयो भ्राता शिल्पार्जितबहुधनदस्रो बाल्यतएवममापराद्धा विश्वेश्वरो नाम युवक-मान्यः। परार्येपि स मातुलान्याः समक्षमेव मां दुर्वचोवाणैर्मर्मण्यविध्यत्। तत एवाहृति देवो द्रविणमानेतुम्। प्रतिशोधविधावधीरोऽहमपि कार्येऽस्मिन् देवस्य चिर-स्मरणीयं साहाय्यं विधास्ये।

कान्ति०—कियद्दूरमितस्तत्स्थानम् ?

वीर०—देव ! अस्माकीनस्य उपनर्मदनीलकाननस्योपकण्ठे श्रीमन्नन्दनपुरनरेन्द्रा-वासाय सुभगशिलोच्चये रचिताया गुहायाः सन्निकटमेव। राजनगरप्राप्त्यै च तत आश्वीनोऽध्वा।

कान्ति०—आं जाने ! परन्तु सुदूरं तत्स्थानम्।

वीर०—(विहस्य) महाराज ? कः साहसिकानां सुदूरविदूरभावः। सुरङ्गेनवयं सुभगशैलगुहामु गमिष्याम एव। अहह ! एषु दिवसेषु तत्राम्राणां समुदय समुद्योतते।

प्रत्ग०--(मध्ये एव) देव। बालोऽयमबहुदर्शि चास्य हृदयम्। विचारधाराभिरव धीरितिधैर्यं सद्यएवोत्पथायते। कालेन श्रीमद्भि शिक्षितो भविष्यति योग्य। क्षम्योऽधुना।

सूर्य --(शनैश्शनै) कौमर्पयिष्यतीतितु समयेन ज्ञास्यते।

* *

'उत्तिष्ठ ज्ञानमाधेहि। अचेतनावस्था गतस्य तव दिनत्रयमत्र्यतीतम्। अद्य तवाङ्गानि सचेतनान्युष्णानि च प्रतीयन्ते। भगवाञ्छिवो मदीया सेवा सफलयितु मिच्छति। निद्रां जहि हि, पश्य सूर्योदयो जात। पक्षिणस्तवेदर्शी दशा विलोक्य सशोकाइव दृश्यन्ते। तएव मम परिजनास्तव कुशलमिव पृच्छन्त आतुरास्तिष्ठन्ति। तव सर्वाङ्ग स्पर्शेन सुखयन् मातेव मातरिश्वा व्यम्नो मूक परिभ्रमन् न स्थैर्यं लभते। उत्तिष्ठ समाप्येपाहवनवेला। गौरपि वत्सधपयितु हुङ्करोति। सापि दिनत्रयात्तवेदर्शी स्थिति विलोक्य त्यक्ततृणाऽवर्त्तत, अद्य शष्पोन्मुखा प्रतीयते। शुभमिद लक्षणम्। मन्ये तव चेतना शीघ्र प्रत्यैष्यति। विषाद जहिहि। सर्वाण्येतानि तव मङ्गल सूचयन्ति, उत्तिष्ठ जागृहि। काल ? कदातव मोचयिष्यसि मातर पवित्रा भारतीं भुवम्। मास्मान् भृश दु खितान् कार्षी। मा मातर दु शासनावमानितां विधा, मा स्वातन्त्र्यसमराममहायज्ञे प्रदत्तपतिपुत्रगृहधनाहुतीर्विधवा अधिक खेदी। माशासनापहृतसर्वस्वान् यून कृशय-- मन्ये एषोऽपि वीराङ्गनाङ्करत्न केनापि दुर्दान्तशासकेन नया क्षिप्तइमा दशामाप"--

'क्वाहमस्मि ललिते, श्यामे, देवव्रत, कोऽय जटिल प्रतीहार," उद्विग्नचेतसा विस्फारितनेत्रेणमुनोचे।

"शान्ति भज ते सर्वे एवाविलम्ब समागमिष्यन्ति, उद्बुध्यस्व, स्थानमिदमेकस्य विरक्तस्यास्ते। यत्रश्रीमान् काष्ठफलकाश्रितो नद्योह्यमान प्रात स्नानार्थं गतेन मया नि सार्य जीवनीयशक्तिममूर्ता विज्ञाय कुटीर समानीत। दिनत्रय व्यतीतमद्य श्रीमान् चेतनां भजते"--इत्याह्लादित मामक मन। इदमुष्ण पयो गृहाण, शिथिलानि तेऽङ्गान्यनेन सामर्थ्यं प्राप्स्यन्ति," आम्रपत्रेन पयो मुखे ददता महात्मनोच।

युवा च मुख व्यादाय शनै पयो जग्राह। स महात्मदत्ताश्रय शनै शनैरुपविष्ट। तस्य चक्षुपोरग्रे नवमेव दृश्यमासीत्। महात्मना तैल सञ्जीवृतमासीत। स शनै

श्नैर्मर्दयितुमारेभे। यूनः शून्याङ्गेषु चेतना प्रासार्पीत्। मनोरमोऽयं प्रदेशः। सर्वतोऽनन्तराळं स्थितानां निम्बानां भित्तिरिव भाति। मध्ये च चतुरस्रो पासविभासी प्रदेशः। एकत एका स्वच्छा रम्या कुटी। धवलपाषाणखण्डनद्धश्च कुट्टिमम्। सम्मुखे च कुटीद्वयम्। एकस्यां हिमधवला मांसला वात्सल्यपूर्णधेनुः सम्मुखमीक्षमाणा स्थितास्ति। पार्श्वे एव पयः पात्रं वामे पाणौ, आम्रपल्लवञ्च दक्षिणे दधत् उपपद्धिवयाः विमलश्रीःप्रदीप्तप्रभः कौपीनवासाः स्थितोऽस्ति। युवचेतसि शनैः शनैः श्चेतना प्रसृता—स्मृतिरागन्तुमारेभे, तं स पुनरुष्णं पयः पाययित्वा शाययित्वा च कार्यलग्नः।

"अधुनाहं स्वस्थोऽस्मि, कथं कैश्शब्दैराभारं प्रदर्शयामि—नजाने। बुभुक्षा बाधते, शौचान्निवृत्य बुभुक्षामि"।

"नागरिकजनवदाभारप्रदर्शनं नावश्यकं, पार्श्वएव शौचान्निवृत्य कवोष्णजलेन स्नात्वाऽऽगच्छ, सिद्धं पायसं तवोल्लाघायालम्।

* ' '

"सत्सु समेषु लेह्यचोष्यपेयादिषु महार्हपात्रेषु नेदृगानन्दोऽधिगतो योऽद्य कदलीदले प्रसर्पतोऽविरलस्य पायसस्य भोजने"—क्षीरं प्रयत्या लिहता यूनोचे।

"एकान्ते भगवन्तं भजता मयाप्येष आनन्दोऽद्यैव मनसि मूर्धनीकृतः" अस्तु, अधुना त्वं स्वस्थोऽसि, जिज्ञासा च मामाभीक्ष्ण्येनमुखरयति, कस्त्वम्! कथमित आगमनं कथं चेदृशी दशा तव!

"देव! अपरं जन्म प्रदातुर्भवतः सम्मुखं नाहं मिथ्या वदिष्यामि यद्येतादृशी जिज्ञासा वर्त्तते चेच्छ्रूयताम्—

"अहं राजनगरपतेः श्रीनवेन्दुवर्मणः पुत्रश्चन्द्रोऽस्मि यदि श्रीमतः कदापि कर्णमस्पृशाम्। मम युवराजमहोत्सवदिने मम मित्रं मह्यमेकमश्वं प्रादात्। तमध्यमारुह्याखेटार्थं मित्रैः सार्द्धं गतवानासम्। सौभाग्येनानायाममेव सिंह एकोऽभ्युपेतः। अद्य शुभशकुनमिदं युवराजमहोत्सवे—इति विचार्य तमन्वधावम्। परन्तु स पञ्चपशुः समस्तां रात्रिं भ्रामयित्वा क्वापि विलीनः। समस्तरात्रिप्रधावनेनाश्वोऽद्य नितरां श्रान्तोऽभूवम्। अश्वस्य स्वेदस्नातं वपुः प्रकम्पते स्म। मामकीनं सनियदुग्धाश्ववपुषाऽभेदभावं भजदिव प्रतीयते स्म। परन्तु क्यद्दूरमप्यश्वादवतीर्य-

शनैः शनैः पदातिश्चलनमभ्यस्य किमपि स्थानं प्राप्तुमैच्छम्। पादप एवैकः शिवालयमपश्यम्। शिवालयो वृक्षव्यूहे निलीन आसीत्। प्रवपणेन तस्यरागः कृष्णीभूत आसीत्। शिखरान्मनोऽद्भग्नो लोहदण्डो यस्मिन् कदापि ध्वजः समुच्छितो भवेत् च्चू यता विभर्तिस्म। कवाटमेकमेवासीत्तदपि भग्नं दग्धम्। अन्तः कृष्णदपपीठं शिवमूर्तिरासीत्। शिवमूर्तिर्दिव्या धीविभवविभाव्या भव्याऽऽसीत्। केनापि शिवभक्तेन महामनाऽन रहसि बिल्वव्यूहेऽकनिकरे निम्बकदम्बे धनूरपूरेऽभङ्गभङ्गे गङ्गेशस्य शस्यप्रशस्ये स्थले स्थापना कृता भवेत्, परन्त्वद्य मन्दिरं भक्ताभावभावयति स्म। केवलं जलसिक्तमङ्गणं, शरावे धूपभस्म दीपशलाका मलिनं तूलं भग्नो दीपः अ नता दूर्वापुष्पाणि च कमपि पूजकं सूचयन्तिस्म। कोऽपि इतः कुतोऽप्यागत्य कदाप्यर्चति—इति प्रतीयते स्म। चन्दनाय निम्बकाष्ठखण्डमेकस्या भग्नकुण्डिकाया पतितमासीत्, पूजनाय भग्ना तुम्बी च। अमाजनात्सवमवकरकूटं शैत्यान्मद्रतीं दुर्गन्धितां प्रसारयति स्म। भित्तिषु, अधना पिसुद्वारासु पल्योनि शङ्कमयन्त्य आसन्। मन्दिरस्य पार्श्वेऽपराप्येका त्रिद्वारासीत्, परन्तु कुट्टिमहीना पाथानां चुल्लीधूमेन कृष्णीकृता दीनावस्था वन्यपशुमूनिता नितरां भ्रष्टाऽऽसीत्।

नितरां श्रान्तो विश्रममनिच्छन्नपि वन्यपशुभयङ्करे वने गमनाशक्तशरीरः कथङ्कथमपि स्थानं विरूप्य सुप्तवान्।

परन्तु निद्रा द्रुतं ऽऽसीत् चिरान्वेषणनापि सा नापि किन्त्वन्ततोऽङ्गानि शैथिल्यमभजन्। शरीरञ्च निद्राङ्के सवस्त्रं समर्प्य सुष्वाप। अकस्मादेवाधस्य प्रबलया हृपया मम निद्रा भग्ना। सहस्ररश्मिः प्रकाशते स्म। मया दृष्टं यदेकः पञ्चाननो ममाश्वस्य पृष्ठं विदारयति। यावदहं सद्यएव कृपाणं निष्कोशं विधाय सज्जोऽभवं स वृक्षान्तर्निलिल्ये। घोरं वनं शिथिलं शरीरं चेतनाहीनानीवाङ्गानि, अधुना मृतः किमधुना करणीयमिति विचारयति मयि पुनः स दृष्टिपथमागतः। अहमधुना रक्षणार्थं मागमन्वेष्टुकामः शनैःशनैः निष्कोषकृपाणकरोऽचलम्। अहं क्षणैरेव पादप एव सवेगं प्रवहन्त्या नद्यास्तीरं आगतः। पूर्णपीयूषपानीयां नदीं परितो हरिता पादपाः सुरभिधनिकोपवनपवनं सेवमान इवेतस्ततः सञ्चचार। अहञ्च कणेहत्य पीत्वा

सुधामधुरमधरीकृतमाक्षिकं शुचीरं नीरं, प्रकटप्रचुरदूर्वे पादपतले शीतलसुरभिसमीरणेन श्रममपनेतुं समुपविष्टः।

कुशलवृत्तमिवपृच्छति शकुनिकुले, स्वेदबिन्दुन्पो विदूरयति मातरीव मातरिश्वनि, दासीगण इव पादयोः पतति दूर्वानिसरे, भ्रातृष्विव सगल्वन्धं मिलत्सु द्रुमशाखासु पितरीव छायांकुरया शाखाग्रैः शिरः स्पृशतिपादपे, प्रियायामिव परिजनसङ्कोचाद्-मिलन्त्यां तरङ्गभङ्गैस्त्वयायोत्थाय लीयमानायामिव नद्यां मया दृष्टं यत् स एव सिंहः प्रलम्बया जिह्वया करालैर्दंष्ट्राग्र गर्जनेन च भीषयमाणो ममाभिमुखं सत्वर सत्वरमागच्छति। तस्य मुखमुद्रया स दृढनिश्चयः प्रतीयते स्म। परिस्थितिर्जटिला ऽऽसीत् दशहस्तान्तर एव सिंह आसीत्। अहं निमिषेणैव बद्धपरिकरो युयुत्सुः सञ्जातः। सिंहः सत्वरमागत्य मुखंव्यादाय अग्रपादाभ्यामादन्तुमना यथा प्रचलति, तथाह पुद्भिः कीटनेऽस्पृष्टो निष्कोशं करवालं तन्मुखे प्रावेशयम्। आहतोऽपि स यत्र तत्र नखाघातेन रक्तमस्रावयत्। परन्त्वन्ततः श्लथदङ्गो निपपात। अहञ्च शोणित प्लुतः प्रक्षालनाय नदीतीरं गत्वा यावज्जलमाहरामि तावदेवाययो युद्धेनजर्जरीभूतं अन्तर्हतमृदं नदीतीर मयासद्यैव नद्यांपपात। अहञ्च नितरांश्रान्त आसम्। परन्तु मृत्युभीत्या म्रियमाणेष्वप्यङ्गेषु चेतना व्याप्ता, सम्मुखेच काष्ठफलकमेकं नद्योह्यमान-दर्शनादस्यायामधिगतवान्। पश्चात् किं जातमित्यहं न जाने। अधुना देवः स्पष्टयतु, यत्कोऽयं प्रदेशः। कियद् दूरे तो राजनगरम्।"।

"पुत्र चन्द्र बहूनि कष्टानि विषह्य जीवितेशस्य द्वारमिवाप्य प्रतिनिवृत्तोऽसि। इतश्च नदीप्रवाहे काष्ठपट्टे व्यतीत्य अचलां जीवन्तं दृष्ट्वा परमानन्दमनुभवामि। पार्श्व एव विमलपुरं विद्यते यत्र भूमहेन्द्रो जगत्पालो रामपालो निवसति। एतान्युपवनं दर्शनीयान्युरवनान्यपि राजकीयान्येव। स्वस्थनामानय प्रान्तमिमं निरीक्ष्य शीघ्रं प्रतिनिवर्तस्व। त्वदीयौ पितरौ न जाने कां दशामनुभवतः।"

"विमलपुरं रामपालमहाराजस्य विमलपुरमिति साश्चर्यं सांगुलीन्यासं सोत्कण्ठं गमति चन्द्रे "आँ" "आँ" इति गदन् संन्यासी स्वकार्ये लग्नः।

* * *

"देवि। यत्त्वं सौन्दर्यशालवयसा मयाङ्गनाभा, नववयस्शोभिना तन्वी नवमालिकेव

सजीवा, सविभ्रममितस्ततः पश्यन्ती वृष्टिमिव कुर्वन्ती अभिरामताविप्रुषां द्वारदेशेस्थिता। कस्य चेदमुद्यानम्। किमत्र स्थान प्राप्तु शक्यते।''

"श्रीमन्, मनोहरमुपवनमिदं जितारेस्तारेश्वरकान्तिकीर्त्ते राज्ञो रामपालस्य प्रियपुत्र्याः कमलायाः। यत्र प्रान्ते भ्रमन्तः पुँस्पक्षिणोऽप्युपरुध्यन्ते, तत्र भवादृशा दृशा विक्षिप्तकामिन्यः सशरीरा इव कामा वामाभिरामाः कथं समेताः। यदि नाम युष्मादृक्षाणां भ्रमण श्रूयेतोपोद्यान तदा नियता वसतिः कारायाम्। अतोऽस्मात्प्रदेशा ज्झटिति तथा यातव्यं यथा कोऽपि दृष्टिमपि न क्षिपेत्, मक्षिकाऽपिनेक्षेत।" क्षन्तव्या चेयमनपराधिनी परवती क्रीतदासी, ...

"देवि, त्वदीयां भाषणभङ्गीमाकर्ण्य पुन पुनर्भवति चेतस्त्वद्वचः श्रवणाधीरम्। परन्तु न वयं कस्यापि निर्दूषणस्यापकाराय।"

"देव, क्षम्यतामपराधः, देव आकृत्योच्चकुलो दैवदुर्विपाकेन दुरवस्थ. प्रतीयते आज्ञाप्यतां का चन सेवा।"

"अहमत्र नवीनोऽस्मि न कमपि जाने। कश्चित् कालमत्र व्यत्यापयितुमिच्छामि, त्वं यदि मत्कृते स्थानमेक व्यवस्थापयेः, आजीवनं स्मरिष्यामि।"

"भगवन्, निकट एवैकस्य धनिनः प्रोच्चं गगनचुम्बि रम्य भवन विद्यते। कमलोपवनसान्निध्याद्धुनैतन्नव्यवहर्त्तुं शक्यते। केचनैतद्भूतावासमपि मन्वते। परं भवनं सुभगभोग्यं योग्यमस्ति। अभितो रम्या वाटिका। दक्षिणत आदर्शनिर्मला वापी पीयूषपूर्णा। वामतश्च निपुणनिर्मितो लीलाशैलः। मध्येच रक्तपाषाणचितो राजोचित' प्रासादः। श्रीमद्भ्यो यदि रोचते विश्रम्यतामत्र कश्चित्कालम्।"

शब्दशास्त्राब्धिमग्नानां जलविप्लुतचेतसाम्।
कृते द्वितीयो निश्वासः सोऽयं चन्द्रमहीपतेः॥

श्रीनिवासशास्त्रिणा कृते चन्द्रमहीपतौ द्वितीयो निश्वासः।

तृतीयो निःश्वासः

एताः स्खलद्वलयसंहतिमेखलोत्थ-
झङ्कारनूपुरपराजितराजहंस्यः ।
कुर्वन्ति कस्य न मनो विवशं तरुण्यो
वित्रस्तमुग्धहरिणीसदृशैः कटाक्षैः ॥

भर्तृहरिः

मध्ये त्रिवलीत्रिपथे, पीवरकुचचत्वरे च चपलदृशाम् ।
छलयति मदनपिशाचः पुरुषं हि मनागपि स्खलितम् ॥

त्रिविक्रम भट्टः

उद्वेगमहावर्त्ते, पातयति पयोधरोन्नमनकाले ।
सरिदिव तटमनुवर्षं विवर्द्धमाना सुता पितरम् ॥

बाणः

अपहस्तितान्तरायानर्थाननुररीकृतान् प्रसाधयतः ।
विधिरपि बिभेति तस्मान्निरतिशयं साहसं यस्य ॥

त्रिविक्रम भट्टः

मत्तेभकुम्भविदलनकृतश्रमं सुप्तमन्तकप्रतिमम् ।
यमलोकदर्शनेच्छुः सिंहं बोधयति को नाम ॥

"मया श्रुतं यद् राजनगरं प्रति सुता प्रेषिता, अपि सत्यं, मनोरमे !"

मनो०—ललिते ! श्रुतं तु मयापि चन्द्रकलामुखात् ।

चन्द्रकला०—आमपि तिलोत्तमाऽऽदद ।

ललिता—का तिलोत्तमा ?

चन्द्रकला—सैव मन्त्रिणः प्रमुखा दासी ।

"किमाह ?" ललितया सोत्कण्ठं पृष्टम् ।

चन्द्रकला—एवमाह यद् राजनगराधीशपुत्रेण सह प्रतिज्ञातचर कमलाविवाह । विवाहयोग्याश्च ना वीक्ष्य कमलापाणिपल्लव योजयितु तिलक प्रेषित ।

ललिता—श्रूयते यत् सौन्दर्ये स साक्षात्काम । केचन नाशिताशेषोपद्रव प्रजाभक्त मसक्त व्यसनेषु विक्रमिण धृतावतारमर्जुन मन्यन्ते । परे च मुखमुद्रया जगदानन्दयन्त भगवन्त चन्द्रमसमाचक्षते । इतरे चाप्रतिहतशक्तितया जगदमङ्गलविनाशनिरत भरत व्याचक्षते । यस्य पिता प्रबलप्रभापरिभूतभूतगण कथ न स्यात् तस्य पुत्रोऽपि प्रतापपयो परिप्लुष्टरिपुपूर, यस्य पिता द्विधारधारासमाकृष्टशत्रुसीमन्तिनीसौभाग्य कथ न स्यात् तस्य पुत्रोऽपि विजयवामभ्रू दक्षिणभुजलताभूषितकन्धर ।

मनोरमा—तदस्माक कमला कि रते यूना ? अलब्धामरशरीर मार मर्त्येऽन्वेष्टुमिवा गता, वासन्तपुष्पविकासनीकाशहासा, श्रियं, माधुर्य, वात्सल्य प्रेम वयोविभ्रमसुद्वमन्ती, [1]प्रसिद्धा हसगत्या, परागभूता प्रमदाना, अपचितिश्चैतोभवस्य, ससरण हावानां अनुजेव मोहिन्या, अवतसभूता सौन्दर्यसरसीनाम्, निश्शेषकलालया, निरतिशयसौकुमार्या, दुर्दर्शा दुरदृष्टै, दुर्दम्योत्साहा, विहसितहसितविधुबिम्बा, आपूर्णा प्रेममकरन्देन, निश्रेणि मन्मथमहेन्द्रस्य, अधीश्वरी सुरभिनिश्वासाना विलाससदनस्य च, अपिधान वैराग्यभावाना, अतिक्रान्तशिरीषकुसुमामार्दवे, सुवर्णवर्णा, उज्ज्वला ललन्तिकया, अभिरूपा सुखमण्डलेन, प्रतिपन्नपदार्थतत्त्वा, परिखेवानन्दाम्भोधे, अनुपाधिसुन्दरी कमला कथमिव प्रेक्ष्यते ।

पश्य ! अलक्तकरागरक्तचरणतया, स्वभावरक्तबालभास्करायितौष्ठतयाच, अचिर मृदितरक्तबीजरक्तानुरक्तचरणा तत्पानरक्तौष्ठी दुर्गेव, जनकप्रिया रामाभिरामा सीतेव, केशकलापाकलितललितकुसुमपरिमला, तत्त्वबोधिनी प्रशस्तषड्लिङ्गा सद्धातुगणा विपुल समासा कौमुदीव जगदभिरामा, द्विफालप्रसाधितशिरोरुहा सरणिमिवस्मरस्य प्रदर्शयन्ती, बिन्दुभूषितभ्रूमध्या, रक्तापाङ्गस्पर्शिप्रफुल्लपुण्डरीकनयना, पद्मरागजटितस्वर्णकर्णपूरा, उन्नतस्निग्धस्मरशराणुतीक्ष्णघोणा, रक्तोन्नतकपोला, कलङ्कमुक्तेन्दुकलाविमलहीरक-शकलसोदर्यरदनवदना, शुभ्रहारहारिवक्ष स्थला, दाडिमीफलकठोरकुचा, प्रेमपूर्णनाभि पल्वलावतारा य निवलीसोपानरम्या, प्रेमपयोधौ नौदण्डायितेनेव करयुगलेन सन्तरन्तीपा निश्चित निर्विवाद ललाम ललनासु ।

१ क्रमश सर्व उपसर्गा ।

एनामुत्पाद्य सञ्जातो विधातुः सौन्दर्यरचनासम्भारनिधेः कलाकलापस्य च क्षयः। किं श्यामे ?

श्यामा—रतेः किं साम्यं कमलया। साऽनङ्गस्य वनिता कोकिलाली मनोमन्दिरा ।
एषा च विश्वविदितवीरवरस्य वरा वनिता मनोरमासखी ।

कदासौ सुभगः समयः समेष्यति, चेत आनन्दस्य चरमसीमानमाप्स्यति, यदा प्रियासखी रत्नकङ्कणनिबद्धमणिग्रन्थाऽलङ्कालंकृतहस्ततला परिमिताभरणा सविभ्रम भ्रमन्ती ।

कमला—तिष्ठत, न युष्माभिः सहाक्रीडमेष्यामि। प्रगल्भभाषिण्यो विरता एव न भवथ। यात ।

मनोरमा—चन्द्रकले। यतः प्रभृति तं युवानमेषाऽपश्यद् विमनस्का न क्वापि शान्ति लभते। विलक्षणधारीदीश्वरप्रेरितः स युवा। मामकीनं मनोऽपि तस्मै सस्पृहम्। कया स्फूर्त्या सोऽस्माकं ध्वनिसमकालमेव समागत्य करालदंष्ट्रं गर्जनैरुपवनं भाययन्तं पञ्चाननं पञ्चत्वमगमयत्, साधारणशशशिशुमिव तमक्रीडयद् वस्तुतः प्रशंसनीयो विद्यते।

चन्द्रकला—युवा तु स स्पृहणीयकर्माऽऽसीत्। सरलया निर्भयया गत्या सिंहं करवालेन विदार्य "अस्तु यामी"त्युक्त्वाऽनाशासितप्रशंसो यथागतं प्रतिनिवृत्तः। यदि स उच्चकुलस्त-दातु कमलास्पृहा नानुपयुक्ता वक्तुं शक्यते, इतरै र्गुणैस्तु स योग्यतमः प्रतीयते।

मनोरमा—परन्तु कमलाया वाग्दानं शैशव एव सञ्जातम्, नार्यकन्या असकृत् प्रदीयन्ते।

अथार्त्तमर्त्यभीत्यपनयनव्रतिनि, अरुणपुरस्सरे समाजिगमिषति भगवति गभस्तिमालिनि, उपेता गमनवेला गन्तव्यमुदरदरीदर्पदलनायेति विचार्येव किञ्चिदुदञ्चचञ्चुषु पतत्रिषु, असफलध्यानेष्विव गुल्ममन्तर्दधत्सु द्रुषु, प्रचण्डचण्डकिरणभयेन प्रातः संध्यां विधातुं वा पश्चिमतटं यियासति मन्दत्विषि चन्द्रमसि, सरोजराजविकसनोत्थानप्रबोधक भ्रमद्गुञ्जत्षट्-पदवन्दिनि, सूर्यचक्रवर्ति-स्वागतचिकीर्षत्सूर्यमुखपुष्पसामन्तसमुत्क्षिप्तमार्गप्रान्ते, प्राभातिक-वायुलोलल्लताललिते चोपवनेऽरुणकिरणमार्जनीभिर्मार्जयञ्जगत्तमांस्युदगाद् भवाब्धि-तरणिस्तरणिः।

क्षणाय रक्तकौशेयवितानितमिवाभूद्विश्वम्। राजकमिव महाराजागमनेन सकल-मेकपदे विचकास भ्रमद्भ्रमरं कमलकुलम्। दृतरेक्षणेन सापत्रपा इव कुमुदिन्यो

मुकुलिता । श्यामले दूर्वास्थले प्रसृतांस्तुहिनमणींश्चेतुमिव बालभास्करस्याभिनवा किरणावली खणरेखेव विशदनीलाम्बरतो हसन्ती विकसन्ती नीचैरवतरति स्म ।

निकुंजेषु वनेषु वसतां पक्षिणां दिनेशागमनजयशब्देनेव विरावेण मुखरित बभौ विश्वम्। चलुश्च ते प्रणमन्त इव विहायसम्। विकासभाज उपवनसुमनसो विटपाश्चान्तान्तदसुधापानाय प्रतीक्षमाणा इवासन्। विविधकुसुमानां मादकेनामोदेन कोणं कोणं मुदितम्।

मनोरमा कदम्बकुसुमस्तवकं ललिताया सीमन्ते न्यस्यन्ती तस्याः वर्णे फूत्चकार। सा च तां पुष्पस्रजा तताड। श्यामा च न्यायाधीशतां सम्पद्य पक्षविपक्षं शुश्राव। चन्द्रकला च प्राड्विवाकीभूय वचो विचित्रयुक्तिभिरयुक्तमपि युक्तयितुमचेष्टत। शिरीष कुसुमकरा कमला मल्लिकावल्लरीवितानेष्वलिकेलिलीलां पश्यन्ती मञ्जुमञ्जरीमण्डित महीरुहमण्डपेषु पुंस्कोकिलान् प्रेक्षमाणा करकनिष्ठिकानिष्ठ्योमिकया दीप्ता कुसुममाला तजन्या लोलयन्त्येकाकिनी भ्रमतिस्म। शीतलसुरभिसमीरविलुलिता तस्याः श्यामश्यामा कुञ्चितकुञ्चिता मसृणमसृणा स्नेहवर्द्धिताऽलकावली सर्पिणीव नितम्बेऽवरोहन्त्यापाद प्रसृताऽऽसीत्। सुवर्णप्रसूताऽलभ्यत तुसयोगा नवनीतनिर्मितेव मृदुला तस्याः शाटी वायुलोला काठिन्येन सन्नियते स्म। क्षणमव्यक्तं कण्ठेन कूजन्ती सा स्फुटं जगौ —

कुड्मला दधति च्छविं मातरिश्वविचालिता । (स्थायी)

(१)

ध्वनिनामुना सर्वाः सत्य सङ्गीभूताः क्रमशो जगुः —

मनोरमा० । योगिहृदयं कामिनीनां लिम्पते योगात्त्वरम्।
पुष्पपक्तं यौंगतो मरुतो हि भूता गन्धिता ।

(२)

चन्द्रकला० । चम्पको बकुलो रसालो मालतीगणिकागण
चन्दनोवरनीरतृतश्च तसां हारीमत ।

(३)

ललिता० । वायुनीना पुष्पपंक्ति भिन्नवर्णमनोहरा
पत्रमध्ये राजते कान्तेव कान्तविमर्दिता ।

(४)

श्यामा० । पूर्वसंयोगे यथा ललनामुखं परिवर्त्तते
मधुकरेषुपतत्सु तद्वद् विचलिता उपवनलताः ।

(५)

कमला० । अर्द्धफुल्ले पद्मवृन्दे नीरजं शतपत्रभृत्
श्रीनिवासो देववृन्दे शोभते वापीस्थितः ।

* * *

एकाकिनी, अनीकिनीव कामस्य कमला, एकस्यां निम्बाम्रोदुम्बरकदम्बजम्बूजम्बीरशोभितायां, चलद्दलवकुलकुलसंकुलायां, कर्णपूरबन्धूकबन्धुरायां लोलल्लताललितायां, मसृणश्वेतशिलायां कमलकुड्मलेव सानन्दमुपविष्टा कमलेव राजते ।

अकस्मादेको मधुरोऽश्वधावनध्वनिः कमलाकर्णं स्पृष्ट्वा नेत्रे चञ्चलीचकार । सा क्षणेनैव स्थिरीभूय ध्वनिः कस्याः दिशः समेतीति निश्चित्यापश्यद् यदेका रक्तवेशा चलन्मूर्धजा ऽश्वमारूढा ऽनुहरिणमश्वं धावयति ।

कमलाऽऽखेटनिपुणाऽऽसीत् । सा तस्मिन् सान्ध्ये सुभगसमये मनोविनोदाय प्रहृष्टोत्कण्ठा सत्वराखेटवेशमायोज्य स्वीयमश्वमारुह्य तामन्वेव प्रस्थिता । सा ऽपरपथेन हरिणमनुसृत्य पूर्वमेव हन्तुमना द्रुतगत्याऽश्वञ्चालयामास । मनोरमापि तामेकाकिनीं गच्छन्तीं दृष्ट्वाऽपराश्वमारुह्यानुससार । कमलैच्छद् यत् परपथेन पूर्वं गत्वा हरिणं निहत्यैनां लज्जयिष्यामि, परन्तु मार्गान्तरगमनेन समयोऽव्यतीतः । हरिणं प्राप्य साऽपश्यद् यत् स जीवन्नेवानुशयते । कमला शरं शरासने आयोज्य सत्वरैव शिशुं लक्षीकृत्य विससर्ज । परन्तु लक्ष्यं चलमासीत् । बाणो हरिणाग्रदर्तं तृणमाहत्य पतितः । कमलाऽपश्यद् यद् यं सा हरिणममन्यत स पुरुषोऽस्ति । धनुषाच्छिन्नं बाहुं करप्रोञ्छनेनाबध्य कमलां दस्युचरीं मत्वा प्रतिशोधमनिच्छन्नपि तस्या वीराभिमानं नमयन्मधुरे लक्ष्यमार्गं बाणं प्राक्षिपत् । अश्वश्चामुनाऽऽघातेन तथोच्चैरस्कन्दत् यथा कमला पश्चाद् भूमिमालिङ्गयामास । स च सत्वरं कमलामुपागम्यैकस्मिन् शिलाफलके विश्रमयितुमानीय विवक्षति तावदेव लब्धचेतनोवाच :—

"आ ! त्वमसि वीर ! अस्माक सिंहात्त्राताऽनाशसितपुरस्कार ...... अस्मान् वञ्चयितु स्त्रीवेशमिवाधायाऽत्र भ्रमसि"

"नात्रवञ्चना, आज्ञापय तव कामर्चनाऽऽचराम । पिपासिताचेज्जलमानयाम, बुभुक्षिता चेत् फलान्याहराम । क्लेशिता चेत् क्लेशमपनयाम । मन्ये कापि देवी त्व भुवि भ्रमणायावतीर्णा ।"

"कस्त्व पौनःपुन्येनैषु दिनेष्वितोऽवलोक्यसे ?"

'देवि ! नाहमस्म्येतद्देशीय । द्विनैः सप्ताहै घुणाक्षरन्यायेनेत समागतोऽस्मि, निवसामि च पार्श्वे श्रीसिद्धेश्वरदेवस्याश्रमे । मनोविनोदाय कदाचन विमलपुर यामि । वात्सल्यपूर्णेन देवेन सहयोगी हरिणशिशुरय मह्य प्रदत्त । मार्ग एव श्रीमत्या भवन विद्यतेऽत श्रीमत्या दर्शन द्विस्त्रिर्जातम् । यदि कापि त्रुटिश्चेत् क्षन्तव्योऽह नवीन । अधुना देवस्य सन्ध्यावेला विद्यते, चपलोऽय हरिणशिशुरितस्ततो व्रजति, अतएनमप्यश्व उपवेश्य शीघ्र यास्यामीतिबुद्ध्याऽहमेन ग्रहीतुकाम आस पर श्रीमत्या बाणेन व्याघात कृत । अधुनाह श्रीमतीं प्रसाद्यानुचिताचरणाय यामि"

स च हरिणशिशुना सहैवाश्वमारुह्योत्तरमप्रतीक्षमाणो यथा प्रचलितस्तथैव मनोरमोपेता । कमला चान्वश्ववार पश्यन्ती स्तब्धेव तस्थौ ।

"कमले, स्पष्टं कथय युवयोर्व्यवहारेण किमपि ज्ञातुमनुमातुं च शक्यते" मनोरमयोचे । कोय मनुष्यमात्रनिषिद्धमङ्गनोपवनप्रान्त निश्शङ्कमध्यास्ते । अनङ्ग ? विचित्रोऽसि, अङ्गीव वैलक्षण्यमापादयसि, त्व यदि देही स्यास्त्वत्कर्म कोऽनुमातु शक्नुयात् । प्रातर्विवाहवार्त्तयैवार्त्ता सखी समवारुधत् सैव कमला धैर्यधस्मरेण स्मरेण लक्ष्यीकृता ? स्मर ? स्मर्तव्य कृतोऽपि पुरभिदाऽशेषे जागर्षि जगति ।

हर्षेऽपि विष भवति सौन्दर्येऽपि गरलम् । तव दर्शनसमकालमेव यूनोऽस्य प्रवचन-चातुरी भग्ना, कठोर मन सुन्दरीदर्शनेन द्रुतम् । तोभस्तोमसहमपि वपुर्वेपते स्म । करिकरकठोरोऽपि करोऽकम्पत कदलीदलमिव । य उत्कूर्दमान केशरिकिशोरमपि भूमिशायिन व्यधित स त्वां प्रेक्ष्य स्खलद्गात्र सञ्जात । येन कदापि गजेन्द्रकुम्भ विदारिणो हरे पृष्ठमप्रणाश्य न मुक्त स एवाद्य स्वेदस्नातस्त्वापराधमविगणय्य त्वामेव क्षमामभिक्षत ।

जाने विलक्षणोऽयं स्मरस्तस्य लीला च। अस्यैव कृपया मोहिता दैत्याः सुधां विहाय मद्यं पपुः, भगवान् विष्णुरपि तुलसीप्रेमपिपासुरश्मत्वं रचयामास, कृष्णोऽपि राधापादाराधनाधिरं विदधे, मोहिनीमत्तश्शिवोऽपि विष्णुविरहखिद्येद, परन्त्वत्र तदुत्कभावे नवीनेऽस्मिन् यूनि त्वदीयो भावोऽनुचिताचारतां प्रकटयति। कमले! क्व लीनासि!" सा चानुत्तरन्त्यश्वमारोह।

*　　　*　　　*

"अमात्य! कमलाऽनानन्दितचित्ता, शून्यमानसेव सालसगमना, शङ्कितहृदयेव प्रक्षिप्तनेत्रा, कोणे पश्यन्तीवाल्पनिद्रेवान्यमनस्केव वर्त्तते। केयं दशा पुत्र्याः। परिणयस्यावस्थोपस्थिता। यश्चैतस्यै स्थिरीकृतो वरः सोऽपि न रुच्यः। मत्समीपं नाधिकं तिष्ठति, प्रातःकालिकं वन्दनं विधाय भीतेवापसर्पति। हस्तु कमलाऽऽयातैव नहि, श्रुतं तस्याः शिरोऽर्त्तिर्विद्यते। किं करणीयम्। खिन्नोऽस्मि" उच्छ्वसता राज्ञोचे।

अमात्य०—"नहि देव, शान्तं पापम्। जाने विनयशालिनीं तपस्विनीं मुग्धां कमलाम्। मनःस्वभावोऽयम्। यदि कश्चन व्याधिः, सम्बन्धेऽस्मिन् सर्वं विमृश्य सूचयिष्यामि"।

*　　　*　　　*

अथ विमलपुरसंचरणं पुनः पताकाभिरवीज्यत। पुनः सैनिकावलिर्जनौर्ध्वनितयामास। पुनर्नारीनेत्राणि वातायनेभ्यो बहिर्निपेतुः। पुनरुत्सवकोलाहलो दिगन्तान्मुखरयामास। पुनर्वकुलगन्धो भ्रमरानभ्रमयत्। पुनर्वाद्यानां तडतडता जगतो नीरवतां बभञ्ज।

अपराह्णकालः। राजोद्यानपार्श्वस्य सभाया जनसमुदयेन व्याप्ता वर्त्तते। राजकुमारेण द्वन्द्वयुद्धे सिंहो हतः, बालोत्साहवर्द्धन उत्सवः। अस्मिन्नेवोत्सवे धानुष्काणां परीक्षार्थं स्वस्तिक एकोदीपः प्रज्वलयिष्यते। यः कोऽपि धानुष्को मध्यमां वर्त्तिकामपहरिष्यति, अनिर्वापयन्नुभे स सविशेषं पुरस्करिष्यते।

अथोच्चैः स्वर्णसिंहासनासीने राज्ञि, दक्षिणतश्च पीठस्थिते राजकुमारे, राजकुमार्यां कमलायां, परितश्च यथास्थानं स्थितेषु मन्त्रिषु समुपस्थितेषु च बहुषु धानुष्केषु, द्वास्थः प्रविश्य निर्भयं व्याहृत्य "कश्चित्तरस्वी धनुष्कर्त्ता स्थापयन् द्वारदेशे तिष्ठति, अग्रे देवः प्रमाण" मित्याह।

'प्रवेशय'—दत्ताज्ञे महीपतौ प्राविशदेको युवा।

युवासौ महाजनकीर्त्तिपुञ्जोद्भूताखिलाङ्ग इव तेजस्वी सुरभिचिक्कणै कुञ्चितकृष्णै लौलविलम्बिभि कचैर्निचितशिरस्क कटिलम्बमानद्विधार सिंह इव निर्भीक परम रमणीयोऽस्ति। यस्य प्रलम्बस्वर्णपट्टाष्टमीचन्द्रशकलानुकारी, ललाटपट्ट, पर्यस्तालक मेघच्छन्नकुमुदबान्धवबन्धुर मुख, ईषदुद्भिद्यच्छमश्रुरुत्तरोष्ठ, विस्तृते कर्णे मांसलोन्नता ग्रीवा नासाच, विद्रुमारक्तोऽधरो मांसलौस्कन्धौ परिणाहि पीनमुर, कृशमुदर करिकराघातसह सक्थियुगल महत्ता सूचयन्ति। सभासद्भि शृङ्गारवीररसविनिर्मितावयव स सप्रेम प्रैक्षि। राज्ञोऽपि परमरम्येऽस्मिन् यूनि स्पृहावती निपपात दृष्टि। अभूच्च तयोरालाप —

महाराज —वीरवर! कुत समागमनम्?

युवा—देव सुदूरमरम्य नगर राजपुरम्। घुणाक्षरन्यायेनेत समागतोऽस्मि। अद्य धानुष्काणा परीक्षायोजनस्य प्रत्यक्षानन्दानुभूत्यै समागतोऽस्मि।

महा०—किन्ते नाम!

युवा—देव! शशधर।

महा०—समासादित पाटव कस्मिन्नपि कार्ये?

युवा—आं महाराज।

महा०—केषु केषु?

शश०—प्रायश सर्वेषु

महा०—का जातिरलङ्क्रियते सवज्ञ न!

शश०—(किञ्चिल्लज्जित इव) देव क्षत्रियोऽस्मि।

महा०—(आसन निर्दिशन्) उपविश।

समये धानुष्काणां परीक्षा प्रारब्धा। पञ्चाशद्धस्तानन्तर दीप एक प्रज्वलित आसीत्, यस्मिंस्तिस्रो वर्त्तिका अङ्गन्यनन्तर प्रज्वलन्त्य आसन्। योद्धार उत्थिता। केचन बाणवेगेन वर्त्तित्रयमेव निर्वापयामासु। एकस्तु दीपमेव पर्यवर्त्तयत। पुनरपरो दीप आयोजित। पुनरेको यशोऽर्थी शरमसाधयत्, परन्तु वर्त्तित्रयमेव स नीतवान् निरवापयच्च सर्वा।

महाराज इङ्गितेन शशधरमसूचयन्। धानुष्के धैर्यं साकूतं वीक्षित एव लघीयसा हस्तेन शरासनमाकृष्य शरं व्यसृजल्लक्ष्यरवापयच्च मध्यमां वर्तिकाम्।

महा०—धन्यो धन्यः। नितरां प्रसीदामि। युवासौ विलक्षणो विचक्षणः। शशधर! नियुक्तस्त्वमद्य मृत्यः। समागमने तवोपस्थितिः प्रतिदिनमवश्यम्भवेत्। कोशाध्यक्ष प्रतिदिनमस्मै शतं मुद्राः प्रदेयाः, अद्य पुरस्कारभूताः स्वर्णस्य सहस्रमुद्राश्च।

"देवस्याऽऽज्ञयाऽहमपि किञ्चिद् विवक्षामि तुष्यतु देवः"—उत्थाय राजकुमार्योचे।

महाराजः—आम् आम्।

कमला०—श्रीमते पूर्वमेव निवेदितवत्यस्मि यदहमेकदा प्रातरेवोपवनं गता पञ्चानन-प्रेषिता त्राणाय साहाय्यमयाचिषि, तदाऽयमेव युवा कुतोऽप्यागत्य मामरक्षयत्, अदत्त-परिचयः पुरस्कारानभिलाषः साधुवादमप्यगृहीत्वाऽपसृतः। स एवायमद्य धानुष्क-परीक्षायां प्रथममायातः सविशेषमस्माभिर्मन्तव्यः। श्रीमतामाज्ञयाऽहमस्मै ग्राम-पञ्चकं पुरस्करोमि, प्रार्थये च यदयमेव वीरो मद्भवनस्य प्रधानव्यवस्थापको भवेत्।

महा०—अहमनुमोदयामि। भवनस्य द्वारशाला शशधरस्यावासःस्यात्।

* * *

"कमले, केयं दशा, क्वापि शान्तिं न लभसे। सर्वं दिनं सर्वां विभावरीञ्च विचार एव व्यतियापयसि। सावधानं न शृणोषि, उत्कण्ठितेव दरीदृश्यसे। आकारैः कम्-प्यालापि हससि, सपालम्भमिव। प्रातः सखीभिः कथं कथमप्युत्साहिता ताभ्यः संवृत-वृत्तेव "कोलाहलं श्रोतुं नोत्सहेते श्रोत्रे एकाकिन्येव यास्याम्युपवनमिति" व्याजेनेवो-पवनमुपैषि। प्रतिक्षणं विचारपयोनिधौ निमग्नेव प्रेक्ष्यसे। कौशिकीव सूर्यातपाद् बिभेषि चन्द्रिकाचयात्। सुसमये मृषा रुदसे। सानुनयं निषिद्धापि दिवा स्वपिषि, स्वप्ने हससि, अस्पष्टाक्षरं किमपि वक्षि भित्तिचित्रैः किमप्यालपसि। रात्रौ भ्रमन्ती तारागणयन्ती किमपि प्रलपसि। सलज्जेव हसते कपोलपाली, शुष्को बिम्बाधरो मदनानलेव तनुलताऽङ्गेषु गौरवम्। स्पष्टं निगदय केयं स्थितिः"।

कमला—नहि नहि। भ्रमाभिभूतासि मनोरमे, ऋतुपरिवर्तनजन्येयमस्वस्थता, नान्यः कोऽपि विशेषः।

मनो०—जाने, अहं श्रीमत्याः सहचर्यस्मि। शैशवत एव भवत्याः मनोदशां

मनोव्यथाश्च सम्यग् बुध्ये। नेदृग्दुःपरिवर्त्तनं कदाप्यनुभूतम्, विश्रब्धं सूचय यथाशक्यं यतिष्ये। अहमप्यभिन्नप्राणा एव। सूचय किमस्मिन् यूनि तव विशिष्टा स्पृहा ?

कम०—जाने नहि का स्पृहा नाम! किन्त्वेका मधुराऽनभिव्यक्ता श्रद्धेव तस्मिन् मम वर्त्तते। गतदिनेऽहमुपवनं गता दीर्घिकायास्तटे शिलातलमुपविष्टा किमपि विचारयन्त्यासम्। पार्श्व एव मदीयः प्रियः सहचरो हरिणशिशुरप्यासीत्। अहं शिशुना मनो विनोदयन्ती जगज्जालेन विक्षुब्धं मानसं सान्त्वयन्ती कदाचन तं हस्तेन परामृशन्ती, रोमराजिं निपुणमीक्षमाणा, दाडिमीबीजाभां तस्य दन्तपंक्तिं गणयन्त्यासम्। मन्दं मन्दं मारुतोऽप्यतेरम्। सान्ध्यगगनस्य लौहित्यं दीर्घिकायां सिन्दूरद्रवस्य भ्रममुत्पादयति स्म, पवनप्रेरितेषु तरङ्गेषु शिशोः प्रतिमूर्त्तिरनुपमेयां कान्तिं प्रकटयतिस्म। नितरां चञ्चल आसीद्धरिणशिशुः विचित्रा च ममावस्था। अहं दीर्घिकाजलेन प्रसृतिमापूर्य हरिणशिशवे पाययितुं प्रवृत्ता। अकस्मादेव मम दृष्टिः सम्मुखीनसान्ध्यशकुनिकलरवं प्रति प्रवृत्ता, एवञ्चास्मात् प्रसृतिरपि विदूरीभूता। शिशुश्चाय केवलं प्रसृतिदृष्टिर्यावदग्रे प्रासरत्, तावदेव स्खलितचरणो गृहीतोदीर्घिकया। शिशोस्तरणशक्तिर्दुर्बलाऽऽसीद् वापीभित्तिश्च बहिरयने बाधिका, स क्षणेन खिन्नोऽभवत्। अहं म्रियमाणं तं नावलोकयितुमशकम्। जलतरणशिक्षाधिगतसाहसा, प्राणिप्राणनेच्छया वाप्यां निपत्य शिक्षासम्पादितपाटवा विविधैः प्रकारैर्जलमवाधाक्षि। एषुदिनेषु मम स्वास्थ्यमुत्साहो मनःस्थितिश्च न शोभना, वस्त्राणि च विशृङ्खलान्यासन्। परं तथाप्यहं शिशुमग्रहीषं किन्तु चञ्चलोभीतः सन्त्रस्तः स सपदेव ममहस्तान्निःसृतः। एतेषु दिवसेष्वहं जले विहरन्ती नासम्। स्वल्पेनैव समयेन श्रान्ता। आर्द्राशाटी मां पाशवदभान्त्सीत्। एका ईदृगवस्था क्थमस्यां सुदीर्घायां दीर्घिकायां पारमाप्स्यामीति विचार्य मम मनो धैर्यमजहात्। मम जीवनाशा महता बलेन "त्रात, त्रात !! निमज्जामि, निमज्जामि" इत्यवोचत्।

अघटनीयघटनापटीयसः पाटवं खाटपाटस्य[1] को जानीते। विश्वेश्वरो यमवति तस्य कृपापूर्णा दृष्टिर्यं दयते तस्य नास्ति क्वापि भीतिलेशोऽपि। तदायमेव युवा

---

[1] खे अटन्तीति खाटाः पक्षिणस्तान् पातीति खाटपो गरुडस्तेनाटति यः सः।

भगवत्प्रेरित इव झटित्यागत्य मां हरिणश्च कूलमानीय, तार्णपार्णस्रस्तरैः प्रबन्धं विधाय मामुद्बोधितवान्। शङ्कास्तृते इव मृदुले दूर्वातले मूलच्छिन्ना कदलीवाहं प्रसुताऽऽसम्। मृगशिशुरपि लब्धबोधोऽन्तेवासीव पार्श्वे आसीत्।

वह्निना व्यजनेन द्विजकलरवैश्चोन्मीलितनयनाहं श्रमस्वेदबिन्दुस्नातविषण्णमुख, मत्कष्टाकुलमूर्धानं प्रेक्ष्यासुं युवानमुत्थातुमनाः "भगवति, अस्वस्थानि तेऽङ्गानि कियत्कालमाश्वास्योत्थापयसि"—इत्युक्त्वा कियत्कालं विश्रम्यावासं प्रतिनिवृत्ता। सोऽय सखि, महानुभावो मधुरमधुरमालपन्, दयनशतैः समये दयमान आभारिणीं कृतवानस्ति। भारतीया संस्कृतिर्जीवनदात्रे जीवनदानेनाप्यानृण्यमासादयितुं मां प्रेरयति। अहं त्वां नियोजयामि यदस्य पूर्णः परिचयः प्राप्तव्यः।

* * *

"तपस्विनी तरुणी कामकेलिष्वलब्धवैदग्ध्या मुग्धा, मृणालविशदप्रभा सजीवेव मणिपुत्रिका धभूषितनतुल्सा, वामकरतलविन्यस्तकपोलपालीका अनधिगतनिद्रातन्द्रा रहस्यमाश्रित्य किमपि विचारयन्ती मध्ये मध्ये उत्थाय गवाक्षतो द्वारतो नभस्तः कमपि गवेषयन्ती वर्तते कमला। अहह केयं दशा राजकुमार्याः"—उद्यानपालिकया चिन्तितम्।

"हन्त, अहमेवास्या दशायां करणे मुख्यास्मि। कमलाया विगीती वचनीयतायामाद्यमेन प्रधानं निदानमस्मि। हन्त! मृतास्मि। पापपिटरस्य सन्निकृष्टमवसानम्।"

"इतश्च पश्यामि शशधरस्य दशामपि। स च सर्वाण्यहानि यामिनीश्च नेत्रयोर्मध्यत एव व्यतिगमयति; तस्य लक्ष्यच्युतमिव चेतः क्वापि स्थायि नास्ति। सर्वं दिनमभ्युत्थानमेव यापयति। निकुञ्जेषु वासः, अनिमिषदर्शनं, अनारतं विचारः अधरे तर्जनी, मनस्यरामवनानि, तारासंख्यानमित्येतस्या इव तस्यापि दिनचर्या रात्रिचर्या चास्ति।"

* * *

गभस्तिर्दुर्गतोऽस्तम्। क्षणेन क्षणदा प्रदोषात्परतः क्षमेव समाजगाम। क्षपाप्रादुर्भाववार्तामिव दिक्षु फल्गुनादाकुन्ताः शकुन्ताः। क्षितिः क्षण सान्ध्य विधि विधातुं मौनमिव दधौ। प्रदोषे पूर्वरात्रो मध्यरात्रो निशीथः प्रहरिण इव स्वं स्वकार्यमरल्पमनुमेने। निद्रादेव्याः साम्राज्यमेधायकें। मक्षिकापक्षध्वनिमात्रश्रौत्रेकर्णा,

भ्रमद्भ्रमरगुञ्जनमपि विभाव्य विक्षिप्तनयना वृत्तिभुजः प्रहरिणोऽपि तन्द्राभिभूतकाया मध्येमन्दनिद्रं क्लिष्टभित्तयः पतन्तो जागरणं लभन्ते।

परितो रम्यपुष्पवाटिकं विशालमदो भवनम्। द्विपदशननिर्मितविचित्रचित्रकवाटानि शोभन्त आवासभवनानि। अभिभित्ति स्वर्णपविरणानि, भित्तिप्रतिष्ठितद्विपदन्तपीठप्रतिष्ठितानिः महान्त उत्तेजसो भूयांसो मुकुराः, उपर्यसितश्वेतशोणितहरितानि काचभाण्डानि वल्लर्यो विटपाः शोभां संवर्द्धयन्तोऽवलम्बन्ते। येष्वगुरुघनसारवृत्तयो दीपाः सौरभेन सह प्रकाशन्ते। अभितो भवनं देवानां, अनुकरणीयचरितानां प्रतापप्रभृतीनां राज्ञां सजीवानीव चेतोहराणि चित्राणि। मणिमयमुष्टिकाप्वलमारीषु विस्मृताच्छादनानि सुगन्धिद्रव्याणि घ्राणंतर्पयन्ति। नागदन्तेषु शुकपिकसारसानां सौवर्णानि गृहाणि निपतत्सुधामयूखमयूखै राजतानीव प्रेक्ष्यन्ते।

अथ पवनपथपार्श्वप्रसुप्तां, उन्मुखमयूखजितचन्द्रेणेव द्विरददशनेन निर्मितचतुष्पादे गगनापगापयःफेनपटलायितप्रशस्ततूले, चित्रितकौशेयोत्तरच्छदे सोपबर्हे, पद्मामिव पुण्डरीकपटले, वरटामिव हंसपक्षतौ पल्यङ्काङ्के शयानां ददर्श कमलाम्। कमलामुखचन्द्रतन्मुखसुपमां निपीय नृत्यन्ती चन्द्रिकाऽपूर्वां छविं चित्रयते स्म। मुकुरेषु कमलाप्रतिकृतिः प्रकृतिं विकुरुते स्म। रक्ता कौशेयी शाटी तस्या अङ्गमाश्लिष्य सुप्ताऽऽसीत्। सूक्ष्मेण पादध्वनिनोन्निद्रिता न्यक्कृतामरकामिनी कमलोत्थाय सण-सणायमानभूषणं स्पृष्ट्वा करेण प्रियसखीं प्रियोदन्तप्राप्तिप्रहर्षरुद्धकण्ठा वक्तुमसमर्था सुधाविनिन्दकेन स्मितेन पूजयन्ती, मृणालकोमलाभ्यांकराभ्यामाकृष्याऽऽसन्दीं तत्रोपवेशयन्ती भित्तिमञ्जूषातः सौवर्णीं पेटिकामेकां निःसार्य तत्र धृतानां पूगानां शंकुलया शकलानि विधाय एलागुरुपत्रजसुधाशतपुष्पकेशरमृगमदसहितं विरचय्य नागवल्लीदलं बीटिकां स्वहस्तेन ददती "कथय मनोरमे! क उदन्तः" धीरतां विहायावोचत्।

"धैर्यमाधत्स्व सर्वं सूचयामि"—

इतः समायाते शशधरेऽहमेकदा तस्य वासस्थानं भूतावासमगच्छम्। मया द्वित्रैर्दिननिर्णीतं यच्छशधरः कदाचन सिद्धेश्वराश्रमे बहुशश्च भूतावासे स्वपिति। स्थानन्त्विदं रमणीयं परं वासाभावाद् विरूपतां प्राप्तमासीत्। धूलिप्राचुर्यात् पदपंक्तिः स्पष्टमवलोक्यतेस्म। अहं सोपानेन द्वितीयभूमौ गत्वा एकमावासद्वारोद्घाट्याद्राक्षम्। एकस्मिन्

लोहमय द्वित्राणि पुस्तकानि दैनन्दिनी, समाचारपत्रं मसीपात्रं लेखनी चासीदेक-स्मिन् कोणे च शयनस्य व्यवस्था। अहं क्षणेनैव सर्वं वीक्ष्य दैनन्दिनीमादायापठम्। सैषा दैनन्दिनी मासचतुष्टयेनारब्धाऽऽसीत्। स्पष्टं प्रतीयतेऽस्य यत्लेखकेन मासद्वयस्य-वृत्तमेकस्मिन् दिनएव लिखितम्। इतरमासद्वयस्य च वृत्तं प्रतिदिनं विस्तरशोलिखित-मासीत्तस्य सारोऽस्ति यदसौ राजनगरस्य गङ्गेनवेन्दोः पुत्रश्चन्द्रोऽस्ति, सोऽस्ति यौवराज्याभिषेकदिन आखेटार्थं सिंहपृष्ठानुगामिनः सहायश्चरस्यास्य नद्यां पातोजातः। दिनत्रयानन्तरं चायं नद्योह्यमानः सिद्धेश्वरेण निष्कासित उपचरितश्च। अत्र लेखकेन सर्वांतिशायिनी श्रद्धा सिद्धेश्वरे प्रकटिता। उल्लापेन विमलपुरेक्षणाय समागतेनानुना विद्यात्तव रक्षा कृता। अत्र लेखकेन त्वयि शब्दसौष्ठवं प्रयुक्तम्। धानुष्कपरीक्षायां समुत्तीर्णेतानन्तरं प्रतिदिनमनेन दैनन्दिनी लिखितेति "अद्य" "अद्य" शब्दैः प्रतीयते। एकं प्रतिज्ञापत्रमपि महाराजहस्ताक्षरैरङ्कितं तत्रैवासीद् यस्मिंश्चन्द्रेण सह तव विवाहस्य पण आसीत्। एषु पत्रेषु लेखकेन तस्या विपत्तेर्विशदं सजीवं विवरण-मलेखि येन मम लोचनयोर्वर्षर्त्तुराविरभूत्। अनुकूलग्राहि तव हृदयं विचार्य मम मन आनन्देन पूर्णम्। उत्कण्ठास्थानं धैर्येण धृतम्। आशया स्वर्गसुखान्यनुभूतानि कम्पता करेण मया तत्रैव पुस्तकं न्यधायि। सोऽयं, यस्य त्वं दर्शनात् प्रागेव भूरिभूरि प्रशंसामाकर्णितवती, यस्य च वीरतां लाघवञ्च बहुशः प्रेक्षितवती, दैवेन तव पाणिर्यस्य कमलकमनीये करिकरकठोरे करे दातुं स्थिरीकृतोऽस्ति, यस्य च चरणयोरराजीवन-सर्वस्वं निधाय तत्स्वेदस्वेदबिन्दुवृन्दविदलनस्पृहा तच्चरणरेणुजिघृक्षा च त्वां चपलयति स्म, यमुद्दिश्याज्ञातप्रवेशोऽयं स्मरोऽसूर्यम्पश्यां त्वां विक्रोति, स शुद्धमानसपरिचितस्ते भावी भर्त्ता चन्द्र एव शशधरोऽस्ति" इति।

प्रेमाश्रूणि स्रावयन्ती बाष्पावरुद्धकण्ठा कमला च तां सप्रेम आलिलिङ्ग।

* * *

ऋतुरयं वसन्तः होलिकोत्सवश्च। स्वच्छनीलमम्बरम्। नातिशीतोष्णो वातस्तनुं सुखयति। उद्धवो महता प्रयासेन जगत्तमोऽपहन्तुं प्रयतन्ते। राजेवाकृतकार्यान् विज्ञाय सैनिकान् पुनरास्मीरवर्गवेत्तोऽशेषतमोऽपहन्तुमुदयितश्चन्द्रः। राजदैवार्णैरिव किरणैर्हेल्या नाशितान्तमः। विचरश्च तेन सतोमोदयता विजयेन धन्यवादमिन

सर्वंजगत्। विजयपटहध्वानमिव चक्रुर्नवोढा वलयनूपुरमणिमञ्जीरशिञ्जितम्। निशान्तेषु प्रमुत्तकान्तावसनध्वजच्छलेन भुवने विस्तारयामासेव विजयं वायुः।

अद्यतनेषु दिनेषु सर्वत्र भङ्गाभवान्याः सप्रेम पूजनम्। साहि पल्पकवेल्लजवाताद द्राक्षाखाखसबीजपद्मकबकुलदलमिश्रा मिश्रैर्यदुग्धसिताङ्गसङ्गिनी, अङ्गिनां साङ्गमामोद विनोदं नोदयति। सम्प्रत्यहिफेनं आद्रियते आसवः आसूयते, निकुञ्जेषु गञ्जाया अनिभृता सेवा। गुलालस्य कथैवका, यया वीथिरवलोक्यते गुलालरचितेवाभाति। आरक्तवाससया स्त्रीनिर्विशेषं पुरुषा विद्रुतो वीक्ष्यन्ते। बहुविधरागपूर्णैः निर्झरैः[१] र्जना जगदेव रञ्जयन्ति। वराकाना गदर्भानामयत्वे गरीयसो दुःखस्य समय उपस्थितः। एते यत्र क्वापि भ्रष्टे कूपनिपाने निपतितगृहकोणे श्मशानगृहे वाऽऽत्मानं तिरोभावयन्ति तत्रैवैते नागरिका दुर्वाला एतेषां वराकाणां पृष्ठं न शून्यं कुर्वते। ताड्यमाना धाव्यमाना रेङ्कारशब्देनान्यान् सहयोगिनः सूचयन्त इव व्यथां प्रकटयन्त इवाभितः प्रेक्ष्यन्ते। अश्लीलशब्दैरुन्मुक्तमुख मानन्दसाम्राज्यमनुभूयते।

एकतो मनुष्या महता चर्मनद्धेन ढक्केन सहोद्धोकारं कायन्ति, इतरतश्च कामिय सवश्रयसणत्कारं तारं गायन्ति। एकतो युवानो मध्यधृतमुरजा वर्तुलन्यासेन स्थिता दण्डखण्डेन दण्डखण्डं वादयन्तो गा ददड्डायन्ते। अन्यतश्च वधूट्यो यौवनच्छटां वचसा वाससा, निरीक्षणैः, भूषणश्चलनेन, गमनेन, हावैः, हासेनोद्गमन्त्य खेलायन्ति। क्वचन काश्मीरागुरुपूर्णा मुष्टिरामृश्यते क्वचन भस्मगोमयगोमूत्राणि निषिच्यन्ते। प्रतीयते सवत्सरसञ्चिता पापवप्रवृत्ति पुमानशेषेण प्रमाष्टुं सज्जते।

विविधरूपा सविमाना सासवा सभस्मचूर्णा चरकसहितेव बभौ होलिका। सुश्रुता वाग्भटेन केनाप्यनुत्तरेण नावतस्थे।

नन्दनविनन्दकेन, पादपातितचैत्ररथपरिमलेन सकलससारसुगन्धसारसृतेनेव कान्यकुब्जोद्भवेन जितेन्द्रियाणामपि प्राणमाकर्षयता, सुरभिलोलुभमिलिन्दवृन्दविहितपिधानेन निर्हारिणा द्रवेण पूरिता होलिकोत्सवाय परिक्रमलाभवनं स्थापिता शुभ्रमणिखचिता नील दषन्निर्मिता तारकितमिवनभोऽनुकुर्वत्य स्नानजलकुण्डिका विशेषतो भवनं भासयन्ति। रामयेऽस्मिन्नविगणय्य कमलिनीसङ्कोचशोकं रोलम्बकदम्बेनारब्धा मकुतिरनुसुगन्धि

१ पिचकारा।

द्रवम्। आमोदिना तेन दिशः प्रसेदुः। जन्मभूमिव सौरभस्य प्रभवमिव पद्मिन्याः कमला-भवनमवर्त्तत।

अथ क्षिप्तमोदतायां स्खलत्कूर्दतायां हृदितहस्ततायां क्रमशः शान्तायां सर्वेदिन-व्यग्रेषु शय्यापातं सुप्तेषु निखिलेष्वेका नीरवता परितः प्रासारीत्।

मनोरमा हर्म्यस्य कोणे कोणे साशङ्कं पश्यन्ती गतोपक्रमलम्। सा च सत्वर-मुत्थाय कुचभरमन्थराऽऽक्रम्यमाणेव विपुलेन जघनस्थलेन मन्दोदरी पस्पर्श पाणिं सस्मितं कुवल्याक्षेन कराग्रेण।

एकस्यां भित्तिमञ्जूषायां काचमुद्रयो निर्भरा आसन्। मनोरमयाऽऽकृष्य जलेनापूरि। इतः कमलयापि। उभयतो जलधारा निरगच्छन्। दास्योऽपि जलक्षरणचमत्कारं श्रुत्वे-तस्ततो निःसृत्य तस्मिन् महोत्सवे शतगुणितोत्साहेन संयुक्ताः। चिरं केलि र्बभूव। तेनामुना सुरभिलजलक्षेपेण जगदेव परिमलितं प्रतीयते स्म।

शशधरः कार्यं समाप्य कमलाभवनतो विस्मृतात्मेव विचारमग्नोऽधोनेत्रः सत्वरं सत्वरं गच्छन्नासीत्। प्रासादस्य मसृणस्फटिककुट्टिमस्य मसृणतां द्विगुणयत् सुगन्धिजलं प्रसृतमासीत् यस्मिन् स्खलन् कृच्छ्रेण स्थितिं निवारितवान्, किन्तु सखीनामट्टहासेन तस्य विचारसरणिश्छिन्ना। एका सखी सव्यङ्ग्यमाह—"लीलयैव सिंहहन्तारोऽप्य-म्भश्छेदेन विस्खलनं यान्ति" अपरा च "दुःस्थोऽयं वराकोऽवश्यमद्य होलोत्सवे स्वप्रियं उन्मनायते मङ्गलस्नानाय अभिषेच्योऽय"मिति कथयन्ती जलनिर्गमं व्यरचत्। समक्षमेव शतशोधारासिरभ्यषिञ्चन्। क्षणेनैव क्लेदो द्विगुणितः। इतस्त्रिविक्रमभट्ट इव स्वैरमुद्यन्नोऽपि नितरां क्लिष्टस्त एवासीत्। क्षणं सम्मुख झटिति निःसर्तुं कामः स्वां वीक्ष्य स्मयमानः सत्वरत्वरं प्रचलितः।

किन्तु मनोरमा तं पप्रच्छ। क्षणानन्तरं कमलापि विद्युदिव भासमाना सुगन्धेन दिशं विमोदयन्ती तस्य पर्युपस्थिता।

"धीमतां कार्यविधिस्तु चतुर्वादनपर्यन्तमेवास्ति, कथमद्य विलम्बः।"

"श्वोऽहं यास्यामीति महाराजेन साकं वार्तायां भविष्यत्कार्यक्रमव्यवस्थापनेचविलम्बोजातः"

"धीमान् वारयति, मद्भवनस्य व्यवस्थापकौ मानसूर्यसिन्हा सियासरति, मद्-दाधर्यम्"—चिन्ताक्रोपारच्छनयनया कमलयोचे।

'देवस्य यथा देव्या अप्यय मानकृत्। देवेनोक्त यदह कमला सूचयिष्यामि आवसके कार्यं विलम्बं मा कृथा।'

'हुँ, अहमपि शुश्रूषे इदमावश्यक कार्यम्, नो चेद्धानि।''

'किन्तु'—इतस्ततो वीक्ष्य चन्द्रेणोचे।

कमला—(परितःप्रेक्ष्य) एकान्तम्।

शशधर —(सर्वासु गतासु) अद्य चरेण समदेशि यद् राजेन्द्रपालो विमलपुरविरुद्ध मेक महत् षडयन्त्र महतीं सेनाच सज्जयति। प्रबल पराक्रमशालिसेनश्चायराजा। स यद्याक्रमयति, निश्चित सुन्दरतमस्य कलालयस्य विमलपुरस्य विनाश, सम्भाव्यते पराजयश्च। तत्र देवस्येच्छा वर्त्तते दत्कोऽपि वीरवरस्तत्र गत्वा रहस्यमुद्भेद्य तत्रैव कार्यं विघटयेत्। सम्भाव्येत चत्तनैव युद्धयेत च। कार्यायामुष्मै अद्यैका सभाऽभूत्। प्रस्तावे प्रस्तुते न कोऽप्यग्रेसरो बभूव। महाराजो मयि चक्षु प्राक्षिपत्। अह समुत्थाय समादियमाण सर्वान् प्रतिज्ञातवान् यत् श्रीमतामाशिषा कार्यं साधयित्वा प्रतिनिवर्त्स्ये।'

कमला—(साश्रुनयनेव) नहि नहि, राजेन्द्रो मायावी दुष्टश्च। तत्र गमनेन मामकीन मनो विकृततां भजते तत्र गन्तु नाहमनुमोदयिष्यामि। इत समायातेन पितरौ सवथा विस्मृतौ, अधुनाऽवश्यन्तौ क्लिश्यन्तौ स्त। मुधैव समयं व्यतियापयसि। यदि हृदये स्वल्पीयस्यपि पितृभक्तिस्तस्य पूर्वमिदमेव कर्त्तव्यम्।

शशधर —दुष्कृत्यनाशकृतसङ्कल्प क्षत्रिय क्वापि कातरता न भजते।

कमला—किं कथयामि, अनभ्रवज्रपातेन विमूढास्मि, चेत शिष्टाचारावधि धय यितुमिव यतन।

शशधर —कथमत्र वैलक्षण्यं वाचि।

कमला—श्रीमन्! अह ज्ञातवत्यस्मि यत् श्रीमान् राजनगरस्य युवराज। किं महाराजोऽपि रहस्यमेतद्वेत्ति?

शशधर —कथ भवती वत्ति।

कमला—श्रामता दैनन्दिन्या

शशधर —आ कष्टम्। नहि, नास्ति चाधुनाऽवश्यकता।

कमला—कतिदिवसानां कार्यम्

नराधा —वर्षेण, मासेन, पक्षेण, सप्ताहेन, दिनेनापीति तु को जानीते।

कमला—आगमने त्वरानुष्ठेया नो चेन्मायावीत्येव विस्मयदशा, वियोगेन दग्धा एवा भवनगुप्ता कर्मवस्त्री क्वावशेषा

नरा०—यतिष्ये।

कमला—नाधीरता मां मुञ्चति। जगदीश्वर एव रक्षकोऽधुना। देवो देवाय दिशतु।

*　　　　*　　　　*

मामाहूयाह "यदमूनि वासांस्यधुना प्रक्षाल्य देयानि।" राज्ञोभवने न सर्वदा भुज्यते महता सौभाग्येनैतत् स्वर्णदिनं दृष्टमिति विचार्य अर्हत्तममेतद्वासो विदित्वा रजकस्वभावं परिधायागतोऽस्मि। सोऽहं देव। अज्ञानेऽपराद्धा सकृत् क्षम्यः।

स च विकम्पमानो वस्त्राण्युत्तार्य "नहि नहि मा भैषी" रित्युक्त इतरवस्त्रयुगलेन गतस्त्य भोजयितुं नीतः।

*   *   *

"प्रभो, न माने...कोऽपि विदस्था मुग्धाकृतिरदत्तपरिचयो मा स्थासीः स्त्रीजनोचितोद्यानस्य समीप" मिति बहुशो वार्यमाणो विभो मां भाययन् भूतावास प्रतिवसति। स कुत्र मजति शेतेऽस्ति, भ्रमतीति किमप्यहं न जाने। अज्ञातजनपदस्य साहाय्यं मानवधर्म इति श्रुत्वा तस्य वस्त्रप्रक्षाल्ने साहाय्य कृतवत्यस्मि। क्षन्तव्या नागस्कारिणी भवच्चरणसेविनी" इति।

"क्षमस्व देव, नरेण पादोऽपि विचार्य क्रमणीयः। अविचारो ह्यसंस्कृतपारद-भक्षणम्, अनलनिपातं दहनम्। अलक्ष्म्याश्च निधानम्। विचारो हि भूमिर्यशसः श्रिया जीवनस्य मर्यादायाश्च। युधिष्ठिरप्रमुखाः प्रमतयः पुरा किल विचारेणैवाध्यासया-मासू राज्यम्, अविमृश्यकारिणां कृते सतोषं जोषं विदध्मः। महाराज, यस्य पराक्रमोपक्रमं, सौन्दर्यसम्पत्ति बुद्धिवैभवञ्च श्राव श्रावं हृष्यन्नास, येन सह स्थिरीकृतः कमलाविवाहः यस्मै तिलकोऽपि प्रेषितः, यस्मै महीमहेन्द्रेण न्यक्कृतपरस्परविगेण, प्रगे स्मरणीयनाम्ना, हिरण्यचाचारेण तप्यते दिवानिशं महाराजनवेन्दुना, श्रूयते शोकलोकमावहन्ती यस्य जननी नितरां क्षीणा, सोऽङ्गुलिनिर्दोर्मिकेव न लक्षितो न-विदितः, पादप्रज्वलन-इव न कार्यं कृतः। स एव वीरवारवर्णनीयवीर्यस्य राज्ञो नवेन्दुवर्मणः पुनो -विद्याविशारदसर्वेश्वरगुप्तश्चन्द्रः शशधरत्वेन राजपुरवासित्वेन प्रकाशितमप्यर्थं वचनरचनया तिरोदधद् राज्यकार्यं प्रसाधयितुं राजेन्द्रपालपुरं गतः। पश्यन्निदं श्रीमल्लिखितं प्रतिज्ञापत्रं गीतिश्च शशधरनिबद्धा।

हरसिद्धियात्रा
उज्जयिनी निवेशः

जगद्विततयशोराशेर्नवेन्दुपालस्य महनीयमहिम्नो रामपालस्य चायननः प्रस्तावः परमप्रमोदास्पदं सम्पद्यते। श्रीमतोः सन्तत्योश्चन्द्रकमलयोश्चन्द्रसूर्यौ यावत् परां प्रीतिं प्रकाशयतु गुणोत्कर्षं। समये विवाहसूत्रसूत्रितं युगलमेतत् स्वर्गेऽपि न वियुज्यताम्; युज्यताञ्चायुषा विद्यया, कलया, श्रिया, सम्पदा यशसा। पूरयतु च मां प्रतिज्ञां परमपावनः परमेशानः।

विवरममुं प्रमाणीकरोति—
रामपालः।
विमलपुरम्
निगमनं स्वीकुरुते नवेन्दुपालः
राजनगरम्

रघुनन्दनः—
कुलपुरोहितः
अक्षयतृतीया
१९८०

मामाहूयाह "य दमूनि वासांस्यधुना प्रक्षाल्य देयानि।" राज्ञोभवने न सर्वदा भुज्यते महता सौभाग्येनैतत् स्वर्णदिन दृष्टमिति विचार्य अर्हत्तममेतद्वासो विदित्वा रजकस्वभाव परिधाया गतोऽस्मि। सोऽह देव! अज्ञानेऽपराद्धा सकृत् क्षम्य।

सच विकम्पमानो वस्त्राण्युत्तार्य "नहि नहि मा भैषी" रित्युक्त इतरवस्त्रयुगलेन सत्कृत्य भोजयितु नीत।

* * *

"प्रभो, न माने. कोऽपि विदस्या मुग्धाकृतिरदत्तपरिचयो मा स्थासी स्त्रीजनोचितो यानस्य समीप" मिति बहुशो वार्यमाणो विभी र्मा भाययन् भूतावास प्रतिवसति। स कुत्र व्रजति शेतेऽस्ति, भ्रमतीति किमप्यह न जाने। अज्ञातजनपदस्य साहाय्य मानवधर्म इति कृत्वा तस्य वस्त्रप्रक्षालने साहाय्य कृतवत्यस्मि। क्षन्तव्या नागस्कारिणी भवचरणसेविनी' इति।

अथ लोलत्कनीनिकामुद्यानमालिनीं कोट्टपालहस्ते समर्प्य सशस्त्रसैनिकानाज्ञापयामास सुप्त भ्रमन्त भक्षयन्त वा तमानेतुमिति।

'देव, आज्ञप्ता वय भूतावास गत्वा गिरिगुहासुप्त केशरिकिशोरमिव सान्द्रनिद्र नरव्याघ्र प्रेक्ष्य तत्प्रभावपरिभूता मूका एवाकृतपादध्वनय प्रत्यावर्त्तिता। देव, सोऽय राजेन्द्रपालविजये कृतप्रतिज्ञ शशधर एवासीत्। देव, कोनाम यमेन रमेत, भुवनभयङ्कर कालाहि करेण कलयेत्, कोमूढ उल्लोलसहस्र हिंस्रसङ्कुल पारावार प्रविशेत्, मत्तगजेनाजिं रचयेत् बुभुक्षित सुप्त पञ्चाननमुन्निद्रयेत्, अतोऽविदितस्वभावमराका स्मो विगतनिद्र कर्त्तु' मिति, सैनिकैन्यवेदि।

"आ गेहेशूरा भीरव औदरिका अपसरत जाल्मा" इति क्रुद्धो गुप्तचरविभागा ध्यक्षोऽभिकोट्टपाल चक्षरक्षिपत्। सच मनोभाव ज्ञात्वा, गत्वा च तत्र विशदरम्य सूर्यातपतप्तमपि सुरभिपुष्पपवनवीजितमासाद्य भूतावास शून्य पर्यङ्क पत्रेषु लिखितां गीतिं, दैनन्दिनीं चमपेटिकाचापत्। स च सर्वा साममोमादायाध्यक्षाय न्यवेदयत्।

अध्यक्षश्च सर्वा सामग्री सूक्ष्मेक्षिकया प्रेक्ष्य सक्षिप्तविवरणेन सह मन्त्रिण समीप प्रेषयत्। मन्त्री चापरेद्यु महाराजमुपगम्याब्रूत—

"क्षमस्व देव, नरेण पादोऽपि विचार्य क्रमणीयः। अविचारो ह्यसत्कृतपारदभक्षणम्, अनग्निपात दहनम्। अलक्ष्म्याश्च निधानम्। विचारो हि भूमिर्यशसः श्रिया जीवनस्य मर्यादायाश्च। युधिष्ठिरप्रभृतयः प्रमतयः पुरा किल विचारेणैवाप्यासतयामास्राज्यम्, अविमृश्यकारिणां कृते सतोषं जोष विदध्मः। महाराज, यस्य पराक्रमोपक्रमं, सौन्दर्यसम्पत्ति बुद्धिवैभवञ्च श्रावं श्रावं हृष्यन्नासं, येन सह स्थिरीकृतः कमलाविवाहः यस्मै तिलकोऽपि प्रेषितः, यस्मै महीमहेन्द्रेण न्यक्कृतपद्मारविगेण, प्रगे स्मरणीयनाम्ना, हिरण्याचारेण तप्यते दिवानिशं महाराजनवेन्दुना, श्रूयते शोकलोकमावहन्ती यस्य जननी नितरां क्षीणा, सोऽङ्गुलिनिर्दोर्भिरेव न लक्षितो न-विदितः, पादाग्रजस्म इव न कार्यं कृतः। स एव वीरवारवर्णनीयवीर्यस्य राज्ञो नवेन्दुवर्मणः पुत्रो ;विद्याविशारदशर्वरीश्वरसुतश्चन्द्रः शशधरत्वेन राजपुरवासित्वेन प्रकाशितमप्यर्थं वचनरचनया तिरोदधद् राज्यकार्यं प्रसाधयितुं राजेन्द्रपालपुरं गतः। पश्यन्विदं श्रीमल्लिखितं प्रतिज्ञापत्रं गीतिश्च शशधरनिबद्धा।

हरसिद्धियात्रा
उज्जयिनी निवेशः

जगद्विततयशोराशेर्नवेन्दुपालस्य महनीयमहिम्नो रामपालस्य चायतनः प्रस्तावः परमप्रमोदास्पदं सम्पद्यते। श्रीमतो सन्तत्योश्चन्द्रकमलयोश्चन्द्रमूर्धी यावत् परां प्रीतिं प्रकाशयतु गुणोत्कर्षं। समये विवाहसूत्रसूत्रित युगलमेतत् स्वर्गेऽपि न वियुज्यताम्; युज्यतामायुषा विद्यया, कलया, श्रिया, सम्पदा यशसा। पूरयतु च मां प्रतिज्ञां परमपावनः परमेशानः।

विश्वसमनु प्रमाणीकरोति— रामपालः। विमलपुरम् नियमन सौगुप्ते नवेन्दुपाल राजनगाम्	रघुनन्दन — कुलपुरोहितः अक्षयतृतीया १९८०

फुल्लाप्यमन्दमधुरं मकरन्दमूरु
निष्कासयद्भिरभितो विकचैः पयोजैः ।
पद्माकरेश, नलिनी बलमोषणाभ्यां
भोग्या न मानिभिरियं भ्रमरैर्जलेभ्यः ॥
सम्मान्य मान्यमहिमाखिलवारिणोऽस्मान्
दद्याच्च शिष्टिमुपभोक्तुमनाप्तकामान् ।
गुञ्जन्त ईश गुणिषु प्रगुणान् महात्मन्
गायन्त आजिषु भटानिव गाश्वरामः ॥

आवासः — चन्द्रः (शशधरः)
विमलपुरम् — राजनगरम्

"अये, किं शशधर एव चन्द्रः" सोल्लासं राज्ञोचे "हन्त हर्षो हर्षो हर्षः।" सम्भावितमप्येतदेवासीद् यदवश्यमयं कस्यापि राज्ञः पुत्रः, परन्तु वृत्तान्तप्रस्तावसर एव नाधिगतः। किन्तु अमात्य, कष्टसाध्यमिदं कार्यं, परमो मायावी च राजेन्द्रः, सुकुमारो नवीनश्चाय कुमारः किन्तु करणीयम्।

मन्त्री०—नात्र विचारणा सर्वं सुसिद्ध वीरवराणाम्। अणुरप्यग्निः कान्तारमन्तयति। साहाय्यायान्ये प्रेषयिष्यन्ते।

आनन्दोदधौ हर्षोल्लासा उत्तस्थुः। निमिषमात्रेणैवानभ्रा वृष्टिर्बभूव। वार्त्ताखाकाशपातालयोरन्तरमभूत्। राजापि कमलाप्रियसखीं मनोरमामाहूय वृत्तमदो व्यशदयत्।

* * *

प्रान्तरे[1] निस्त्रिकः[2] प्रहिः[3]। [4]अन्धुरधुनात्मनो जीर्णभावं निवेदयति। तस्य "निपानानि, येषु दर्दुरा दर दूरयन्तो यन्तो स्वनितरम, येभ्यः सहस्रशो धेनवो मृगाशशशल्यकश्रृगालास्तृषां शान्तयन्ति स्म, धूलिपूर्णान्युद्गतविटपान्यासन्। [5]वीनाहो विहीनः पाषाणाः प्रस्रुता दूरत एव स्वल्पस्वल्पैः समीरसमीरितैराह्वानभवैः क्षुपध्वजैरे-

१ प्रान्तर=दूर शून्योऽध्वा (वियाबान उजाड) २ त्रिका=भूण (चक्रः) ३ प्रहिः— अन्धुः=कूपः। ४ खेलकोठा। ५ वीनाहं मुखबन्धनं (ढाणा आदि)।

तत्स्थैर्यमाणमित्रास्ति यद् यात यात्रिकाः ! दूरत एव यात, एतस्माद्भूयर्द्धनेन पृथिवीसमात्कूरकूपादन्यथाऽन्धकारान्धीकृतान् बोऽद्य कृपणदशोऽदस्यति । पार्श्वएवैकः पादपो विपद्ग्रस्तेन कूपेन सहानुभूतिं प्रकटयन्निव स्थाणुभूतः स्वशरीरमपि चिन्ताचितायां चिचाय । तस्य महता प्रकाण्डेन सूच्यते यदयं कस्मिन्नपि काले शालशाखाभिर्विशालो भवेत् । तस्यैका शिफा कूपकुड्यं विदार्य निर्गता तेनास्यान्तिकं प्रेम प्रकटयति । कूपो मूलादत्तेन जलेनैनं, पादपः स्वसन्छायया चैनं—एवमेतौ द्वावपि परस्परं सुहृत्सम्बन्धावास्तां परन्तु सम्प्रति द्वयोरेव दशाऽतिसारकिणः क्षयिण इव चिन्त्या । अन्त[1]र्धर्मचटकाश्चरचरायन्ते स्म । [2]बरटानां तत्र बहु बलमासीत्, अन्तर्भित्तिषु तेषां छत्राणि महत्या संख्ययाऽऽप्यायन्ते स्म । ते दंशेन कालपाशेन यमदूता इव विश्वविश्रुता आसन् । केऽपि तेषां निर्गमनसमये तस्य पार्श्वतो न टीकन्ते स्म । एतेषां सातत्यवासात् पथिकैरयं प्रदेश एवापहृत आसीत् । [3]पतङ्गिका अरान्योऽपि तेषां मध्ये दशसु जिह्वेव यथाकथञ्चिन्निर्दहन्ति स्म । अथ पारावतपुञ्जा नितरां प्रसन्ना आसन् । कृपकुञ्जकृतकुलायानां तेषामनवरतगुञ्जारः सर्वां काननस्थलीं मादयति स्म ।

विशृङ्खलानि शिलाशकलानि सम्प्रत्यपि पान्थविश्रमाय विस्तृतान्यासन् ।

एकः पथिकः शङ्कितचित्त इव कमपि कोणेऽन्वेषयन्नितस्ततो वीक्ष्य वस्त्र-पटाञ्चलेन शिलामेकां निशोध्य कूपवेदिकायामुपविष्टः । मुखात्पतता स्वेदजलेन प्रवेगं प्रचलता श्वासेन चायं नितरां श्रान्तः प्रतीयते स्म । समुपविश्य स्कन्धावलम्बिनीं कन्यामेकतः संस्थाप्य पुनरितस्ततः प्रेक्ष्य शनैश्शनैरस्फुटं[4] वदितुमारेभे—

षड्भिर्परिवृतस्य कान्तिसिंहहतकस्य साहाय्यमाचरामि, परमयं दुष्टः केवलं प्रबलमेव मानयति, तस्यैव गाथां गायति । तस्मा एव गूढरहस्यमाख्याति । तेनैव मन्त्रयति । अहह !! दुष्टेनामुना कमलया विवाहः प्रतिज्ञातः । अहो ! कथमिवैनं दुष्टं वृद्धं कुलीनाऽकुलीनं राजकुमारी व्यंसकं वृणीताम् । हन्त ! येनानेन निर्दयं स्वपितापि परलोकपथं प्रापितो विषेण । स्वस्वामिपुत्री सरोजिनी भगिनीनिर्विशेषाऽपि दुर्नेत्रैर्वीक्षिता । समस्मिन् राज्ये चापूर्वं [5]यशः प्रसारितम् ।

---

१ चमचेड़ । २ टाटिया (पीतभ्रमरः) ३ तितली । ४ (यह बड़ाने लगा—)
५. अः पूर्वं यस्य तत्=अयश इतिभावः ।

प्रजापि निष्करुण लुण्ठिता बहुश । सतीना सतीत्वऽप्यसदाचरितम् । सोऽय हन्त क्षत्रियहतक कस्य कस्य सुखे भङ्ग विधास्यति । आनन्दोत्सङ्गसुप्तान् कांश्कानुन्निद्रयिष्यति आशाभव्यभवनेपूपविष्टान् कांश्कांश्चर्णयिष्यति । प्रेमपयोधौ सन्तरत कांश्कान्निमज्जयिष्यति । परन्त्वहमप्येतस्य कान्तिसिंहहतकस्य पितृव्योऽस्मि । ससुख तमपि निद्रयिष्यामि । तस्य शय्यां, यां पुष्पसुकुमारा मनुते, कण्टकाकीर्णा विधास्यामि तस्य मनोरथ व्यर्थयिष्यामि । अधुनाऽहमपि प्रतिजाने । कमला कान्तेरङ्कभूषण न भविष्यति न भविष्यति । किं कान्तिसिंह एव सौन्दर्यसम्पत्तिमभिलषति वयमपि वाञ्छाम, नहि वयमेव वाञ्छाम । अथैवास्वादमास्वादयतु दुष्ट कान्तिसि एतस्य लालसाद्रुमस्य । प्राणानविगणय्य, अपयश प्रसार्य, कुलरीतिमभिसारकृत्य मर्याद सम्मर्द्य व्यसकर्ता व्यसनीकृत्य यस्य कार्य साधयाम, स केवल स्वसुख एव सक्तोऽस्मान पश्यति, तदास्माकमपि कर्त्तव्य यद्वयमप्युचित विधास्याम (सम्मुखमवलोक्य) अस्तु अधुना वीरवरप्रबलौ समागच्छत सावहित्थ तिष्ठामि । (तयोरभिमुख) मया ! विचारितं बहुसमयो भूत, अथ नागमन सम्भाव्यते ।

वीर०—साधु । किमस्माकमपि कार्यक्रम परिवर्त्तते । अपि सूर्यसिंह ! देव समायात ?

सूर्य०—नहि । अधुनायावत्त तेषां सूचनैव न समागता ।

प्रबल०—तेऽपि समायाता एव । उपविश तु क्षण श्रममपनुदाम ।

एते यथा कथामुत्तावोपविशन्ति, तथा कान्तिसिंहोऽपि समायात ।

इतश्च कपटपटना पाटव प्रक्षिप्तुकाम इवात प्रथ द्रोऽप्याकाश विभासयामास ।

प्रबलपरिशोधिते कूपशिलातले स्थितिमता क न्तिसिंहन तेषा बभूवुरालापा —

प्रवल०—तद्दिने तु देव ! अस्माक कार्यमल्पेनैवायासेन सिद्धम् । वीरवरश्च तुष्ट । सम्यगवसरस्त्वेव लब्धो यत्तनयो राजकुमारोऽसूययित्वैव कम्पीत आसीत् । सर्वे प्रहरिणश्चेतस्ततो व्यग्रा समासन् । प्रचुरो रा प्रात ।

कान्ति०—परतश्च यदाश्रुत तत्कृतवानसि स्मि ।

प्रबल०—आं देव ! कानिचिद् भूषणानि तु वीरवरस्य मातुलेयभ्रातुरानीतवन्त

---

१ अवहित्था—आकारगोपनम् । २ ग्रोग्राम । ३ थैला ।

एव। अपराणि च वस्त्रभूषणानि सज्जानि। देव! आनन्दस्य भवद्विवादर्शने महतीन्त्याऽऽसीत्। परन्तु स वराको विश्वशेखरप्रहारमवधयन् मृत एव।

कान्ति०—(उन्मना इव) आँ नवीन एवासीत्तः। आपातश्च तस्य मार्मिक आसीत्। परन्त्वस्माकं पक्षे तन्मृत्युना काचन हानिर्नाभूत्। वीर! त्वमपि कृत्यं कृतवानसि।

वीर०—समये ऽह गतः परन्तु यस्मै कार्याय प्रेरितस्तत्तया न कृतवानस्मि। दिवासमयः, सतर्का, सास्त्रशस्त्रोभयतः सज्जा गरीयसी सेना। यद्यन्यीयस्यापि समदेहा दृष्टिनिपतवेत्तदवश्यं प्राणानामेव संशयः, अत केवल मदस्त्येव ...

सूर्य०—देव! कमलाया शैशव एव स्थिरीभूतो विवाहश्चन्द्रेणेति तु विज्ञातमेव। तद्देव! किमर्थं कस्यापि सुखं भज्यते। मुधैव परलोकमनालोक्यते। एतल्लोकं कलङ्कयते, पादशता योषितः सौन्दर्यदर्पो भवच्चरणरेणुं जिघृक्षन्ति; व्यर्थमेव कमलाकाकलीमाकर्णयितुमाकुलीभूताः स्थ।

कान्ति०—सूर्य बहु विमृशामि। सर्वतः प्रथमं मनोरमया सह मरुत्तरारूढा मृगयां कुर्वती कमला मया दृष्टा। कीदृक् कौशलं कीदृशी क्षिप्रकारिताऽऽसीत्। तदपाधिरुक् कपोलपाली, कोमलकोमलाभ्यां कराभ्यां भुशुण्डिकाकलनमद्यापि ममाक्ष्णोः पुरतः स्फुरतीव। तत एव विमुग्धकमलादर्शनेन सुधामवधीरयता मुखेनाहमन्य एव संवृत्तोऽस्मि। चिरादपि तत्रैव मृगयावन सवितवानस्मि, परन्तु हन्त, पुनः सा दृष्टिपथमेव नोपेता। अहं व्यचारयं यन्मम दशा सर्वदैवेदृशी न भविष्यति, समयेन समासादितप्रसादो भविष्यामि, परमाज्येनाग्निज्वालेव एधते। विचारयामि चन्द्रेण सह तस्या विवाहः स्थिरीभूतो, यौवनोऽयं राजकुमारो वीरश्च। मास्म कस्यापि सुखस्यान्तरायो भूरिति मानसं मां मुहुर्मन्त्रयति। परं किं कुर्यां तस्याः प्रतिमूर्तिः प्रतिक्षणविलक्षणा क्षणेऽपि साम्मुख्यं न मुञ्चति ......

प्रबल०—(मध्यएव) न मोक्ष्यति च। देव! प्रतिज्ञातं वीरा न परित्यजन्ति। अपि प्रापयन्ति।

वीर०—देवोऽद्यापमेवोदर्शान्यमालम्बते। मया तु करणीयं सम्यग् विचारितम्।

कान्ति०—किमि.......

वीर०—मयाय श्रुतं यच्चतुर्थ्यां रामपालस्य जन्मदिनम्। अस्मिन्नवसरे च विशिष्ट भोज्य मयपानादिकम्

कान्ति०—सत्यं, (हर्षेण प्रोच्छलच्छरीर) अस्माकं प्रयोजन सुसिद्धम्। क्षत्रियकुले एतादृगवसरे सर्वे एव मदमत्ता भवन्ति विशेषतो दासीदासम्।

वीर०—आं, तदपि सर्वं विचारितम्। हर्म्यस्योत्तरदृरिति विविक्ते कमनावास स्नानगृहद्वारलोहदण्डे[1] गोधापाशमायोज्य सुखमुपरि शक्यं गन्तुमिति न कश्चन दासी दासयोर्भयोद्रेक। केवलम् चन्द्रिका मां शिथिलयति

कान्ति०—किं भयम्। अनुनिशीथं गन्तव्यम्। एषोऽवसर पुन र्न लप्स्यते। सूर्य! तत्रापि कश्चन कस्मा अप्यवसरायोचित नाम, परन्त्वरे! यस्या यौवनमपेक्षमाणो हृप्यन्नास घटितानेकमनोरथो विस्मृतमान्सस्त्यक्तापरकार्य केवल तत्प्रदक्षिणायमेवास सैव कमला दुग्धमक्षिकामिव मां दूर प्रक्षिप्य चन्द्रेण रन्तुमना सुखमनुभूयति। किं तत्सुखमहं सोढुमर्हामि नहि नहि

सूर्य०—तद्युचित विधास्याम। पाषाणैर्व पाषाणप्रतिशोध विधास्याम। यथाज्ञाप्यते तथैवाचरिष्याम। वीर! क कार्यक्रमस्त्वया निरधारि।

वीर०—सप्रगल्भोऽहं तत्र गमिष्यामि। सूर्यश्च प्रासाद् बहि समरुत्तरो मिलतु सूर्य![2] वायुप्लवोऽप्यानेय।

* * *

प्रात पौरा पवमानसेवनाय पुराद् बहि प्रयान्ति। नगरसीम्नि विशदमधुरजलो विकासिकुमुदिनीविशोभी ह्रदो ह्लादयति जनानां मन। विमलतरङ्गशीकरशीत समीरण, मधुरमधुर रवन्त पक्षिण, चलद्दला द्रुमाश्च निरोजस्वपि विनोदप्रमोदस्य भावमापादयन्ति।

अद्य राज्ञो रामपालस्य जन्मदिनम्। वर्णाश्रमीया इतरे च राज्ञ प्रासादे भोक्ष्यन्ते न कस्यापि गृहेऽग्निप्रज्वाल। राजभोज्यसज्जायै सर्वे सज्जन्ते। केचन भङ्गा पिबन्ति।

१ चौरा लुण्टाकाश्च भवनारोहणाय गोधायुक्तां रज्जु सुरिक्षिप्य तस्या भित्तिदिलिष्टाया तदावद्धरज्ज्वाभवनेष्वारोहन्ति।

२ वायुपूर्णो जले प्लवनतरणसाधन "लाइफबोट" इत्याख्य।

मन्तर्धीयते। क्वचन पुरोगेन पौरोगवेन[१] जनगीयमान यशो भोजनप्रशसा श्रूयते। पटोलशाक[२], कूष्माण्डशाक[३], वास्तुकशाक[४], कर्कटीशाक[५], मूलकशाक[६] भेण्डाशाक[७], वृन्ताक[८], गोजिह्वाशाक[९], महाकोशातकीशाक[१०], कालिङ्गशाक[११], कारवेल्लशाक[१२], आलुकशाक[१३], त्रपुषशाक[१४] दीयता देहि, आनय, अल, गृहाणेत्येव श्रूयते सर्वतो ध्वनि। घृतपक्वा गवाक्षफलिनी[१५], करीरफल[१६], पर्पटकश्च[१७] परिवेषित —भोजनयज्ञस्य पूर्णाहुतिर्जाता। पचतभृज्जता[१८], खादतपिबता, आहरभुङ्क्ष्वा, हसतमोदता क्रमश उपरता। लब्धावसरा क्षणदा दिनपतिमस्त विज्ञाय स्वाधिपत्य तेने। निशानाथोऽप्येकाकिनीं प्रयतमानां प्रिया प्रेक्ष्य सद्य एवोदयगिरिमारुरोह। सच्छासकप्रसन्ने जगतीव कलानाथ विभासिनि नभसि दैनिककर्मश्रान्ता भृत्याश्चन्द्रिकयाऽऽल्हाद्यमाना, सद्यो निद्राऽङ्क भेजु।

* * *

प्रहरी हर्म्यमभित शिथिलमर्याद सालस गतागत कुर्वँश्चन्द्रप्रकाशे दूरत एवायान्तौ द्वौ नरौ दृष्ट्वाऽऽह—"कौ स्थ दूर एव तिष्ठतम् किं न जानीथ इद महाराजशयनगृहम्।"

"प्रहरिन्। विदूरप्रचलनेन नितरा श्रान्तौ स्व। किमिद महाराजशयनगृहम्? सत्य न जानीव।"

"कुतस्त्यौ युवाम्, वेशभूषादिभिरनत्याविव प्रतीयेथे।"

"प्रहरिन्। अस्यैव देशस्य प्रियौ पुत्रावास्व परन्तु हन्त? दारिद्र्यदुर्गतौ परदेश एव वर्द्धितौ शिक्षितौ च। भ्रात प्रहरिन्। बहुकालेनापीत वर्त्तते तमाल सम्प्रति नितरा श्रान्तौ स्व, काप्यग्निर्लब्धु शक्यते?

मूर्ख प्रहरी अनभिज्ञश्च चतुरससारस्यैतयोर्वात्त या सकरुणो जात। एकेन धूमपात्रे[१९] तमाल न्यधायि, प्रहरी च हसन्त्या[२०] वह्निमानीतवान्। पूर्व धूमपात्र प्रहरिण एवोपहृतम्। स द्वित्रिस्तद् बलेनाकृष्य मूर्च्छित। एकेन विहस्योक्त, "प्रबल! मूढ

१ महानसाध्यक्ष, २ परवल, ३ कोहला, ४ वथुवा, ५ ककड़ी, ६ मूली, ७ भिण्डी, ८ बैंगन, ९ गोभी, १० घीया, ११ मतीरा (तरबूज), १२ करेला, १३ आलू, १४ खीरा, १५ गुवाँरफली, १६ कैरिया (टींट), १७ पापड़, १८ सर्वत्र मयूरव्यं १९ चिलम, २० सिगड़ी।

कथं जिह्मामचर्परायदधुना वेतस्य पुत्रोऽपि नोत्थास्यति। निद्रितसर्वजनं दृश्यते भवनं, त्वरस्व। अहमनेव त्वां प्रतिपालयामि। त्वमुपरिगच्छ"—इति।

*　　　*　　　*

सदसदर्गवर्गवं लुम्पतो ऽर्वतः कौतुकाद्दामपाणिना, कविकारणत्कारेण वल्गामाकृष्यावतीर्य, वृत्तोत्कैः शिष्टविशिष्टैरधिष्ठितं कौशेयवितानं, अगुरुचन्दनवर्तिकासुरभितं न्यक्कृतामरराजकुलं, प्रविश्य राजकुलं, साभ्युत्थानं साञ्जलि साशीर्निर्देशं सत्कृत उपराजं स्वर्णासनमलङ्कार चन्द्रः।

"मान्याः, जनस्योत्सुकतामालोच्याभ्यर्थितो महाराजकुमारश्चन्द्रोऽद्य स्वयानावृत्तान्तमस्मान् श्रावयिष्यति। भवन्तस्तेन लाभान्विता भविष्यन्तीत्यहमाशासे। कुमारो वृत्तं विशदयतु—"इत्याह मन्त्रिणोक्तम्।

स्मितजितज्योत्स्नश्चन्द्रः परितः प्रेक्ष्य प्रवक्तुमारभत—

अहः सायः समीपमासीत्। गोपालगुप्ता गावो वनान्तराद् रोमन्थायमानाः फेनायमाना ग्रामं प्रत्यावर्तन्ते स्म। काश्चन वृषस्यन्त्य उत्पुच्छयन्ते स्म, काश्चनोदन्यन्त्यः शरीरगौरवेण गुर्व्योऽपि मन्दां गतिं विहाय चाञ्चल्यं श्रयन्तेस्म। इतरा क्षीरस्यतां शिशूनां प्रबलप्रेम्णा सवद् ग्धा विरावारम्भं रेमन्ते स्म। तासां खुरोद्धूता धूलिराकाशे श्यामपटेव प्रतीयते स्म। क्षेत्रसीम्नि स्थिताः कृषकाः सतर्कनेत्रैस्ताः पश्यन्तिस्म। गोपा अपि तासां पथिवद्दनाल्ने सयत्नाः प्रेक्षन्ते स्म। तेषां स्वल्पीयसाऽप्यनवधानेन ताः क्षुपस्तम्बानां कवलचर्वाय गोपैः सहैव लक्ष्यीभवन्ति स्म।

गोपक्तेः पश्चात् कालिम्ना कादम्बिकमपि तिरस्कुर्वन् निशितखुराग्रैर्भुवं विलिखन् गम्भीरतरक्वोष्णश्वासश्वसनेनाधीरधैर्यमपनयन् विशालविषाणभारेणेव नतशिराः प्रलम्बपुच्छतुच्छीकृतदण्डः प्रतिपक्षिण्यो वनमक्षिकाः प्रक्षिपन् वदनविगलितफेनैर्धरां तारकितामिव कुर्वन् सालसं मन्दं मन्दं चलन् महिषीसमजोऽपि गवां व्यूहं व्यपोहतिस्म।

स्थूलमसृणमहिषपृष्ठे हस्तमाधाय नियामरयष्टिकां कक्षे कलयन्तो वेणुं रणयन्तो गोपा अपि मधुरमधुरमशिक्षितपाटवं गायन्ति स्म। केचनाऽऽदत्तभिन्दिपालाः गोफणं करे कलयन्तः कृषीवलबालाः कण्टकाकीर्णजीर्णदीर्णवाससः पाषाणक्षेपणविभीषिकया पक्षिणस्त्रासयन्ति स्म। केचन शिरोधृतघासविसरा सत्वरं सत्वरं गृहप्राप्त्यै प्रयतन्तेस्म।

चतुष्पथे स्थिता ज्यायास आयतीमिव प्रतीक्षन्ते स्म। क्षणेनैव ग्रामटिका व्याप्ता धैनुकेन। गवां पृष्ठपरामर्शिना हस्तेन ध्वनिमत्यभूत पल्ली। आसीच्च तिष्ठद्गु सुतक्षेहोपस्नुता पयस्विन्यो धारासारेण ससार सन्तर्पयामासु।

अहमपि तेनैव सार्धं तच्चरणरेणुरूषितपवित्रगात्रो वाजिनमारुह्य तस्यामेव ग्रामीण ग्रामण्यो गृहं गतो भुक्त्वा सर्वां विभावरीं यापयित्वा, निकट एव तपस्यत कस्यापि महाप्रभावस्य साधोर्वृत्तं ग्रामीणेभ्यो विदित्वा तद्दर्शनोत्सुकोऽथ ग्रामण्यो गृहे न्यस्य पदातिरेव गहन कानन प्राविशम्।

खड्गसहायो विच्युतपथो निविडतरे हिंस्रकविहारभूमौ वनेऽस्मिन् सव दिनमतिवाह्य निद्रेच्छुर्महान्तं पादपमेकमारुह्य विभावरीमत्यवाहयम्। प्रातरानन्देनेव तिम्ममहः साऽऽच्छादितासु दिक्षु उत्तुङ्गशिखरमारुह्य दूरवीक्षणेन गव्यूतिपञ्चके उपगण्डशैलं तपन्तं कञ्चन साधुं दृष्ट्वा देवा मनस्येव नमस्यन्, कण्टकाकीर्णसर्वाङ्गो विशिथिलसन्धि सायङ्कालतोऽर्वागेव तत्रागमम्। महात्मानं परितोऽन्तेवासिन इव व्याघ्रसिंहशार्दूला मृगवच्छादलमध्यास्य स्थिता मां वीक्ष्य सकृदुत्थापितकर्णा पुनरवनतशिरसो मां प्रणमन्त इवासन्। अहं तेषां मण्डलमतिक्रम्य मध्ये परिष्कृतभूमवुपाविशम्। रम्यं स्थानम्। शान्तं वातावरणम्। सम्मुखमेवैका खर्वीयसी कुटी गण्डशैलं कर्तयित्वा कृता गुहा, स्वच्छो निर्झरः सम्मुखञ्च मुने स्थितिभू। पशव आदेशं शुश्रूषव इव मौना अभिमुनि स्थिता आसन्।

महात्मनः शरीरमस्थिमात्रमपि तेजोवितानमिवासीत्। लम्बमाने हिमधवले पक्ष्मणी प्रांशु शरीरं प्राचीनकालस्य स्मृतिचिह्नमिवत्वरे चित्रगते स्म। विशालं भालं उदग्रा घोणा प्रलम्बौ कर्णौ शशिश्वेता जटा साभ्रं मुखमण्डलं पर्यस्तेन जातिदेशकुशलनामानन्तरं कार्यार्थं पृष्टः सर्वं सत्यं सत्यं न्यवेदयम्।

महात्मा—वत्स, दुःसाध्यमिदं कार्यम्। त्वञ्चातिसुकुमारः।

अहं सत्यं देव, तदपि राष्ट्रस्य रक्षा स्वस्य जीवनदानेनाप्यवश्यं करणीयैव।

महात्मा—विषयेऽस्मिन्नाहं विशिष्य वेद्मि। श्रूयते राज्ञो राजेन्द्रपःस्य परमा सुन्दरी विदुषी वीरवरा कन्या, सा कर्मण्यस्मिन् विशेषं साहाय्यं कर्तुं समर्था।

—श्रीचरणौ प्राप्यापि विफलो भविष्यामि किं देव!

महात्मा--शृणु, राजेन्द्रपालस्य राजधान्याः पार्श्वे एकं निविडं वनं विद्यते, तत्रस्थान् सिंहान् हन्तुमना सा प्रत्यहमेति। कार्यमदस्त्वं तत्र तथा साधय यथा सा प्रसीदेत् सा प्रसन्ना पितरं प्रसादयिष्यतीति।

दीर्घाहो निदाघः। सूर्यास्ते घटिकाषट्कावशिष्टो दिष्ट। विराजः श्वासेनेव श्वसनेनोत्थापितं रजः पयोऽज्ञतीकरोति स्म। नासानलिकासु कपोलबिलेषु, श्रोत्रगर्त्तेषु, निपतद्रजो स्लेच्छानपि हतेच्छान् करोति। पार्श्ववस्त्वपि स्पर्शेन परिचीयते। परम् वस्मान्निदाघमर्जितधरापृष्ठ आपाटस्य प्रथमघनो न्यपतत्। अहमेकं विशालं महाशालं नगरं दूरादेव दृष्टवान्। पूर्वद्वारे धृतभुशुण्डीकौ द्वाःस्थौ समपादं स्थितावास्ताम्। क्षणमहं तौ सजीवावेवाचिन्तयं, परमचलनेनपक्ष्मभ्या श्वासानिर्गमनेन निपतद्रजोऽनपायेन च निर्जीवौ निश्चित्य शिल्पिनश्चातुर्ये विस्मितः पुरो व्यचलम्। नगरे सर्वत्र स्वादत्त विज्ञो विपणिषु क्रयविक्रयं कुर्वतो वैश्यग्राहकान् स्त्रियः पुरुषान् पक्षिणश्च पाषाणमयानपश्यम्। राजोद्याने च महीरुहः सपत्रपुष्पफलान्, दूर्वा लताः पर्पणमय्यो, वाप्या तारङ्गधारि जलं च दृषन्मयमपश्यम्। रात्रिर्जाता, सर्वस्मिन्नगरे नैकत्र वार्त्ता न प्रकाशो न शब्दः।

नगराद्बहिः प्रोच्चैः सैकते सुप्त्वा प्रातरुत्थाय पुरप्रेक्षणोत्सुको दुर्गं प्रहरिणो हरिप्रग्रहहरिणः करिणश्च पश्यन् विशालं राजभवनञ्च प्रविश्य, परितो द्विरदरदनेषु सुरक्षिताः पताकाः कलितविविधरूपा भूषाः, कृपाः वीररसस्य शस्यसम्पन्नाया भुवो भर्त्तारं सभाजिरे रमासीना सेनापतयो मन्त्रिणश्च, मध्ये मरकतसोपानाया वेदिकायां सिंहासने स्मयमानं नृपञ्च वीक्ष्य हर्म्यं प्रविश्य तत्रच मध्यचत्वरे करकृत केशप्रान्ता प्रसाधनिकया केशान् प्रसाधयन्तीं सम्मुखमुकुरबिम्बीकृतवामनेत्रा वा कञ्चिच्चय प्रेक्षमाणा, कुचाधोगलद्म्बरं स्वगृहतयाऽलोकयेपेक्षमाणामनल्पशिल्पिनिर्मिता त्रिभुवन सुन्दरीं राजकुमारीमपश्यम्।

पुनः धर्मग्लानीमालिन्ये हेतौ निरोहितर्करण्दण्डः प्रचण्डो मार्तण्डः। रम स्पृशो दश दिशोऽवसरं प्राप्य व्याप्तुं प्रभवम्। पूर्वेद्युर्विचारयिषि, किन्तु समप्रदिनस्यप्रथियोऽ-र्वमिये मम निद्रापि भीतेव नाभ्यर्णमायया।

अथ निशीथे कयोरप्यालापेन जागरामपालयम्।

प्रथमा वाक०—पश्य केय दशा पुरस्यामुष्य। परिवर्त्तनशील जगद् विनश्वरा उच्छ्राया।

द्वितीया वाक०—नगरस्य समृद्धि विद्यावैभव यदा स्मरामि, विकम्पते चेत। राज्ञोऽस्य न्यायप्रियता, प्रियता प्रयता[1] प्रजाया, जायाङ्कीकृतरते[2], रते पत्यु परिभावकस्य कस्यापि[3] विबुधवर्यंतां नियामयतो, मयतोऽधिविदो वास्तौ, प्रजापालन व्यवहारे लोकोत्तर एवासीत। परन्तु हन्त, सा सिद्धि कथयापि नावशिष्टा। प्रिय, कि विस्मर्यते राज्ञ उपवनम्।

प्र० वाक०—तदपि कि विस्मर्त्तं शक्यते, स्वर्ग्य फलपूर, पूरक पतत्रिजठरपिठराणा विविधा लताश्च परिमलेन मलिनानपि मोहयन्त्य आसन् पर वर्त्तमानेन राज्ञा सर्व चरित्र मात्रीकृतम्। सोऽय प्रतिक्षण युद्धवार्त्ताप्रिय स्वकीय पुरमपरस्मिन् मार्गे निर्मायेद पुर जगतो भ्रमाय पाषाणेन प्रकल्प्य सतत युद्धाभ्यासनिरतो जगत ईश्वरतामभीप्सति। श्रूयते एतस्य कन्यैनमस्मिन् कर्मणि नियोजयति शास्ति च। यदि कश्चन चतुरस्ता राजकुमारीं सत्पथे समानीय युद्धमार्गात् प्रतिनिवर्त्य लोककल्याणे योजयेत्तदोन्नति हस्तामलकवत् सुलभा। राज्यायत प्रतिशत नवतिमुद्रा सैन्यप्रसाधने व्येति। यदि स धनराशि जगत सेवायै शिक्षायै समुन्नत्यै वीयाच्चेद् वर्षपञ्चकेनैव स्याद् गरीयसी सद्व्यवस्था—इति वृद्धोऽथ वाचा प्रसार।

अह मासद्वयेन नगरस्य, राज्ञो राजकुमार्या प्रदेशस्य च रहस्य विज्ञायैकदा मुनि वचनानुसार पार्श्ववन प्रविश्य सूक्ष्मेक्षिकया तत्र पञ्चाननस्थिति निश्चित्यैकस्मिन् प्रोच्चे तरौ सज्जशस्त्रास्त्र उपविष्ट। अपराह्णवेलायामाखेटवेशा कृष्णाश्वा श्वचतुष्कयुताप्येकाकिनी अनिन्द्यसौन्दर्या सुन्दरी वन प्रविवेश। श्वान सकेतैराखेट समीपमेव घोषयामासु। सा सनद्धाऽसि करे कलयन्ती सतर्काऽभवत्। अहमपि शरासेने शरमायोज्य प्रतीक्षायामासम्। अकस्मादनल्पक्रोधो निशितदंष्ट्र सिहो नित्यवैरिण्या वधाय कृतसङ्कल्प इव गर्जन् सत्वरमेकस्माद् गुल्मान्निसृत। सृक्विकणी लिहन्ती तस्य जिह्वा सत्वरमेव मानुषरक्तास्वादलोलुपाऽवर्त्तत। सोऽभिसुन्दरि प्रस्थित। सिंहदर्शनसमकालमेव

१ प्रयता=पविना, २ जायाया अङ्कीकृता, पुनीतत्वेन रतिर्येन स तस्य, ३ कस्यापि—।

म्लाना सुन्दरी तस्या अश्वश्चाप्रसादादुत्थाय पलायितुमना इवोद्विग्नः संवृत्तः। सिंहोऽप्यक्षमा-च्चलन्। अश्वश्च वेगेनारोहिणीमुत्क्षिप्यैकतः प्रययौ। आखेटवित्ता सुन्दरी च भूमौ-प्रसृता। सिंहश्चाप्रसादादुत्थाप्य सुन्दर्याऽऽत्तं नेत्रैः शरव्यं वीक्षितो यावदग्रे प्राचलत्तावदेव मद्बाणविद्धः करुणं क्रन्दन् धरामधासीन्। एतत्सर्वमेकस्मिन्नेव क्षणे जातम्।

"देवि, कालमस्मिन् घोरभयङ्करे वने एकाकिनी मृदुलतनुलताऽऽत्मानं सन्देहसिन्धौ निपात्य भ्रमसि, नैतत्तवानुरूपम्। निवेदय यत्र त्वां प्रेषयामि, क्व च तव पितरौ कथं पयो प्रयासि" —इत्यादरणीयं तस्याः संशयमपहरता विनीतेन मया न्यवेदि।

"अहमत्र पार्श्ववर्त्तिनो राज्ञो राजेन्द्रपालस्य पुत्र्यस्मि, मृगयाभिरुचिरहं सर्वदैवाखेटार्थ-मागच्छामि। बहवः सिंहा हेलयैव मया निपातिताः, परन्तु हन्त, अद्यानेन नवीनाश्वेन मुषितास्मि। समये यदि भवान्नागमिष्यदहमवश्यममरिष्यम्। अधुना जीवनदातृत्वेना-हं तवैव दास्यात्वमिच्छामि"—वस्त्रखण्डेन स्वेदं धूलिञ्चापनयन्त्या सुन्दर्योचे।

"आ एवम्, त्वं वात्सल्यभावपूर्णे महिलासमाजे जन्म लब्ध्वापि किरातकोलभिल्ल-सेवितं गहनं कथमङ्गीकृतवत्यसि तत्र किमु वक्तव्यम्। नाहं शान्तिसुधाप्लुतां मे वाचं भवत्या शुद्धालापेनोत्तेजयिष्यामि, क्षम्यो याम्यहमधुना, श्रीमती चेत् सभिलाषा गन्तुं स्थिरीभूतोऽस्म्यत्र आस्यागच्छतु", अश्वाभिमुखं प्रचलता मयोचे। सा च नितरां विनीताऽऽभारं हृदयेन प्रदर्शयन्ती परिचयाय मुहुर्मुहुराजग्रह। अहं चावोचम्।

देवि, समरातिपातिनी वै प्रवृत्तिः। पश्य त्वमपि युद्धकर्मणि प्रवृत्तायां का दशा तव देशस्य। सर्व एव विभागाः नाममात्रमासते। एकदाहं श्रुतमित्राख्यया तव नगरपर्यवेक्षणाय प्रवृत्तः। नगरपालिकाया आयमार्गः सम्पन्नोऽस्ति, किन्तु तत्कोषाध्यक्षाः कर्मकरा चतुर्थमंशमेव संरक्षन्ति। नगरस्य रथ्या राजमार्गाः भग्ना न कोऽपि पर्यवेक्षते। केवलं प्रासादमार्ग एव सुगमः सरलः स्वच्छश्च वर्त्तते। रथ्यासु गर्त्तान्याश्रयन् यत्र पार्श्व-गृहाणां मलमूत्रजलमागत्य रथ्यानिवासिनां स्वास्थ्यं दूषयन् दुर्गन्धितां प्रसारयति। रथ्या नितरां विषमाः। नवगृहाणि प्राचीनपद्धतौ हस्तं हस्तार्द्धमग्रे निर्मितानि सन्ति। मन्ये पौरप्रतिष्ठानाधिकारिण उत्कोचं गृहीत्वा गृहस्वेच्छानुसारमनुजानन्ति। तेन रथ्यानां सौन्दर्यं सुगमता च प्रनष्टेति। रात्रौ न प्रकाशस्य प्रबन्धः। केवलं पौर-प्रतिष्ठानसदस्यानामधिकारिणाञ्च गृहाणि पौरप्रतिष्ठानेन प्रकाश्यन्ते। इतरे विश्वसन्ति

यद्यमेतेषामेवाधिकार । प्रधानमार्गेष्ववकरस्य कूटा प्रेक्ष्यन्ते। न कोऽपि भद्रपुरुष प्राणायामाभ्यास विना तेषु मार्गेषु गन्तु शक्नोति। वराकास्तु मार्गस्थायिनो विविधचर्म रोगपीडिता गतचक्षुषोऽहर्निश कण्डूयनपरा मशकमक्षिकानिवारणमारणपराश्च स्वस्यैव दौर्भाग्य दुष्कर्मताञ्च स्वीकुर्वन्ति। नगरे वराकबालाना पोषणाय गोशालैका पौरप्रतिष्ठान स्यास्ति। गवा द्विशती तत्र दुह्यते परन्तु सदस्याना शिशव स्त्रियो भृत्या गोशाला कर्मकराश्च पय पीत्वा शेषस्य पयसो दधि विधाय नवनीतञ्च प्रधानसदस्यगृहेषु प्रेष्य केवल मुदश्वित् परिचितशिशुभ्य प्रदीयते येषा मातर सदस्यगृहेषु नि शुल्क कर्म कुर्वन्त्यो विशेषाज्ञा लभन्ते। एव तेषा नाम विलिख्य गण्डाङ्क गृहीत्वा तत् श्वेत जल दध्यम्लमिश्र तेभ्य प्रदीयते। नगरस्वास्थ्याध्यक्ष प्रधानो नगरवैद्य प्रतिदिन प्रस्थनय नवनीत दशप्रस्थ पयश्चादाय पौरप्रतिष्ठानानुसारि स्वास्थ्यविवरण ददाति। तेनैवादेशि यत् प्रात कालिक पय प्रवाहिकां करोति, अत शिशुभ्य उदश्विद् देयम्। आदेशो चास्मिँस्तस्य स्वार्थ सदस्यानाञ्च हित सन्निविष्टमस्ति। दयनीयेय दशा देशस्य। पाठशालाना नैव साध्वी व्यवस्था। अध्यापका अपसमये समायान्ति। आगत्यापि केचन विश्राम्यन्ति, अपरे वासासि प्रक्षालयन्ति, केचन पत्र लिखन्ति परे छात्रेण गृहादानीत भोज्य भुञ्जते, इतरे मित्रै सहालपन्ति। केचन कृषिसरक्षणाय छात्रान् प्रेषयन्ति, अन्ये गृहकार्यसम्पादनाय, मध्ये मध्ये कोऽपि कदापि विनष्ट कोलाहल क्रुद्ध्य छात्रेभ्यो दण्डचपेटादिक दत्त्वा पुन स्वकार्ये लगति। अधिकाक्रोशी शिक्षक श्रेष्ठो गण्यते। योग्या शिशवस्तत्र स्वबुद्धि व्यर्थयन्ति। अहह आत्महत्येयम्। लोकस्य भावि य आशा एव दुर्व्यवह्रियन्ते। स्थाने न वायो, न प्रकाशस्य, न स्वच्छताया प्रबन्धोऽस्ति। यत्र तत्र बलाना सिंघाण, शिक्षकाना निष्ठीवनञ्च प्रसृत वर्त्तते। भग्ना पट्टिका, खण्डितानि मषीपात्राणि शीर्णानि पुस्तकानि साट्टहासमध्यापकानां सूक्ष्मेक्षिका प्रसारयन्ति। श्रुत, राज्यस्य शिक्षा-विभागीयनिरीक्षक प्रतिवर्ष समेति। केवल तस्मिन् दिने वणिगागारतो मार्जनी समानीयते, पुन सा मुख्याध्यापकस्य गृह नीयते। तद्दिने प्रतिबालं मुद्रैका शुल्क गृह्यते तेन स निरीक्षको मधुरभोजनेन पुरस्कारेण च प्रसाद्यते। एव गृहीतबलि सोऽदृष्टशिशुरपि अध्यापकानुमोदित शिशुप्रमाणपत्राणि करोति। योग्या वराकबाला

बाणानां विपाकगोलकाना वमानाश्चावश्यकता। जगज्ज्ञान्तिमभिलषति। जगतो जीवनेच्छा प्रबला, एतादृशे जगति न भवादृशया आवश्यकता"।

"क्षण विश्रम्यापराधिन्या अपराध मर्षतार्यः। सापराधोऽपि परितप्यमानः साधुभिरवश्यं मर्षणीय एव।"

"क्षणिके परितापे को विद्वान् विश्वसिति। अद्य मृत्यु - सम्मुखमुपलभ्य श्मशान-वैराग्यमिव परितप्य पुनर्विस्मृत्य स एव पन्थास्त्वदेव चक्रम्।"

"देव, सजनय पर्यन्तमहं युद्धमिहचिरासम्, कन्याप्यहं पितुः पुत्रस्थानीया विश्वं विजिगीषुरास, किन्त्वद्य भवद्विचारमाकर्ण्य युद्धं त्यक्तुं कृतसङ्कल्पास्मि। मम पितु राज्ञो गजेन्द्रपालस्याहमेव युद्धपरामर्शदात्री, अहमेव बहून् राज्ञो विजित्याधुना रामपालेन योद्धुमुद्युक्तवती। परमद्य विचारः परिवर्तितः।"

"तिममहसा वीरवरेण रामपालेन सह भवत्या युद्ध सर्वथाऽसमीचीनमासीत्। एतत्त्व न वेत्सि। अहं युद्धभयङ्करं रामपाल शस्त्रास्त्रविचक्षणा तस्य चमूञ्च सम्यग् वेद्मि। तेन युद्धे निश्चित भवत्याः पराजयो हस्तामलकवत् प्रत्यक्षम्। अहमैहिकीं सर्वां शक्तिं विज्ञातवानस्मि यत् कीदृश सार श्रीमती वहति।"

"शान्त पापम्, अह भगवन्त सूर्यम्, परितः स्थितान् पादपान्, वनदेवतां जीवनदातार भवन्तञ्च साक्षित्वे न्यस्य क्षत्रियसर्वस्वं धनुश्च स्पृष्ट्वा प्रतिजाने यद् विध्वसनात्मक कार्यं विहाय राष्ट्रोन्नत्यै सर्वात्मना लगिष्यामि। तुष्यत्वधुना देवः।"

"नितरा प्रसीदामि। अस्तु, अहमेकस्मै महते कार्याय कृतसङ्कल्पोऽविलम्ब यामि, देवी द्रक्ष्यतु तावकीन बलम्।" अप्राप्तोत्तरोऽह श्रीमद्दिशि प्राचलमिति।

जनानन्दिने चन्द्राय साधुवाद वितरत्सु परिजनेषु "चिरञ्जीव, तावक बुद्धिबलं विमृश्य नितरा प्रसीदामि" हर्षाश्रूणि मुञ्चता राज्ञा प्रलपादि। "परन्तु पुन, इतोऽप्यधिक गरीयः कार्यं समापतित येनाह विषीदन् वक्तु पुर. स्थातुञ्च न शक्नोमि। नैतस्मिन् कार्ये त्वत्तोऽधिकं कमपि समर्थं पश्ये। परश्वो राज्ञी मनोरमया सह चन्द्रहदे मुक्ता कमला प्रावर्त लब्धा

परिभ्रमन्त प्रहरिणश्चौराणां सुयोगाय सूचनायै च चरन्ति। कस्यापि विपत्ति ममस्य विपद्विवरणमपि नोल्लिख्यते विनोत्कोचम्। सतीनां सतीत्वं, धार्मिकाणां धर्मः, धनिनां धनं, सुजनानां सौजन्यं भयाभिभूतम्। किं भावीति विचारे सर्वेऽस्थिर बुद्धयो नोन्नतिं कर्त्तुं समर्थाः। किमेतस्योत्तरदायित्वं त्वयि नास्ति। त्वं केवलं युद्धकर्मण्यतिप्रवृत्ता समृद्धं सम्पन्नं देशं व्यकार्षीः। यदि कश्चन निष्पक्षो न्यायालयो भवेत्त्वां देशद्रोहापराधे आजन्म कारावासं प्रापयेत्। परन्तु मा नाम भूदत्र तव कारावासः, भगवान् जगदीश्वरोऽणुकणसन्निविष्टस्त्वामवश्यं दण्डयिष्यति। शृणु नाधुना जगति कोऽपि युद्धमभिलषति। सर्वे शान्तिसुधां पिपासवः शान्ति वार्त्तामेव शुश्रूषन्ते। निरवधिनिरवच्छिन्नशान्तिप्रिये पवित्रे भारते पुनारक्तकणान् प्रसारयितुमीहसे! नाधुनाऽणुवमानानामावश्यकता। जीवः, लोकजीवने च सहायाः भवेत्येव प्राणिवर्गस्याभिलाषः। परन्त्वमधुना लोकसंहारकृतसङ्कल्पेव शस्त्रास्त्राणि निर्मापयसि! कस्य कृते! साम्यवादस्य प्रबलधारया समाप्लुतेऽस्मिन् जगति तव साम्राज्यवादस्याहैतुकः आश्चर्यकरः कदभिलाषः हास्यास्पदम्। जर्जरीभूत साम्राज्यवादः सहैव स्वैरनुयायिभिर्यथवादादिभिर्लघीयासमाघातमेव प्राप्य विनाशाय सज्ज इव स्थितः। किं भवती कस्यापि विवेकवतो हृदये साम्राज्यवादसामन्त वादार्थवादान् प्रति श्रद्धां प्रेक्षते॥

"परन्तु देव, एषा प्रवाहपतिता नौरिवाधुना महता वेगेन प्रवहति विचारधारा, किन्तु क्षुद्रोऽस्य कार्यकालः। एषा धारा न चिरं स्थातुं समर्था। अपां शीतत्वमग्निनाऽवश्यं दूरं क्रियते सकृत्, किन्तु स्थायिनी स्वाभाविकी शीतता न सर्वथाऽपहर्त्तुं शक्यते। एवमेव निर्धनधनिनो सरोगनीरोगयो दुर्बलसबलयो विवेकाविवेकवतो साम्यं न कदापि स्थिरयितुं शक्यते। एकदैवैव नौः पर्वतादाघात सम्प्राप्य प्राप्तविवेका प्रत्यावर्त्स्यति। तदा पुनरेव भवतां साम्यवादः पुस्तकालयानां ग्रन्थसङ्ख्यां वर्द्धयिष्यति।"

"अनुमोदयाम्यहमपि तावकीनं विचारम्। मा नाम चलीत् साम्यवाद आलयं, एष नवनवे समुत्सुकस्य जगतः स्वाभाविको धर्मः किन्त्वेकदैव समस्मिन् विश्वस्मिन् प्रचलिष्यति, प्राचीनमर्यादाश्च विनाशयिष्यतीति ध्रुवसत्यम्। एतदपि सत्यं यत्त्व तव

बाणानां विपाकगोलकानां चमानाद्यावश्यकता। जगच्छान्तिमभिलषति। जगतो जीवनेच्छा प्रबला, एतादृशे जगति न भवादृशया आवश्यकता"।

"क्षण विश्रम्यापराधिन्या अपराधं मर्षतार्यः। सापराधोऽपि परितप्यमानः साधुभिरवश्य मर्षणीय एव।"

"क्षणिके परितापे को विद्वान् विश्वसिति। अथ मृत्यु - सम्मुखमुपलभ्य श्मशान-वैराग्यमिव परितप्य पुनर्विस्मृत्य स एव पन्थास्तदेव चक्रम्।"

"देव, सत्यमद्य पर्यन्तमह युद्धाभिरुचिरासम्, कन्याप्यह पितुः पुत्रस्थानीया विश्वं विजिगीषुरासं, किन्त्वद्य भवद्विचारमाकर्ण्य युद्धं त्यक्तुं कृतसङ्कल्पास्मि। मम पितुः राज्ञो राजेन्द्रपालस्याहमेव युद्धपरामर्शदात्री, अहमेव बहून् राज्ञो विजित्याधुना रामपालेन योद्धुमुद्युक्तवती। परमद्य विचारः परिवर्तितः।"

"तिममहसा वीरवरेण रामपालेन सह भवत्या युद्धं सर्वथाऽसमीचीनमासीत्। एतत्त्वं न वेत्सि। अहं युद्धभयङ्करं रामपालं शस्त्रास्त्रविचक्षणा तस्य चमूञ्च सम्यग् वेद्मि। तेन युद्धे निश्चितं भवत्याः पराजयो हस्तामलकवत् प्रत्यक्षम्। अहमीदृशीं सर्वां शक्तिं विज्ञातवानस्मि यत् कीदृशं सारं श्रीमती वहति।"

"शान्तं पापम्, अहं भगवन्तं सूर्यम्, परितः स्थितान् पादपान् वनदेवतां जीवनदातारं भवन्तञ्च साक्षित्वे न्यस्य क्षत्रियसर्वस्वं धनुश्च स्पृष्ट्वा प्रतिजाने यद् विध्वंसनात्मकं कार्यं विहाय राष्ट्रोन्नत्यै सर्वात्मना लगिष्यामि। तुष्यत्वधुना देवः।"

"नितरां प्रसीदामि। अस्तु, अहमेकस्मै महते कार्याय कृतसङ्कल्पोऽविलम्ब यामि, देवो दृढयतु तावकीनं बलम्।" अप्राप्तोत्तरोऽहं श्रीमद्दिशि प्राचलमिति।

जनानन्दिने चन्द्राय साधुवादं वितरत्सु परिजनेषु "चिरञ्जीव, तावक बुद्धिवर्द्धं विमृश्य नितरां प्रसीदामि" इर्षाश्रूणि मुञ्चता राज्ञा प्रलपादि। "परन्तु पुत्र, इतोऽप्यधिकं गरीयः कार्यं समापतितं येनाहं विषीदन् वक्तुं पुरः स्थातुञ्च न शक्नोमि। नैतस्मिन् कार्ये त्वत्तोऽधिकं कमपि समर्थं प्रश्ये। परश्वो राज्ञी मनोरमया सह चन्द्रगृहे सुता कमला प्रातर्न लब्धा

येषा शृङ्गारमुख्या अहमहमिकया तालवृन्ते नियुक्ता
वैदर्भ्याद्याश्च येषा पदतलदलनप्राप्तसौभाग्यहृष्टा ।
श्लेष श्लिष्टोऽङ्गमर्दे रसिकजनमुदे शास्त्रिणा श्रीनिवासा-
नामेत् काव्ये तृतीय परिमलललित कान्तनि श्वास एष ।

इतिश्री—
मान्यमूधन्य—विद्वत्पारायणिक श्रीमन्नवगङ्गरायात्मजेन
काव्यालङ्कारेण श्रीनिवासशास्त्रिणा रचिते
काव्यकोविदकुमुदकुमुदिनीनायके चन्द्रमहीपतौ
तृतीयो नि श्वास

चतुर्थो निःश्वासः

सायं शशाङ्ककिरणाहतचन्द्रकान्त-
निःष्यन्दनीरनिकरेण कृताभिषेकाः ।
अर्कोपलोच्छ्वसितवह्निभिरह्नि तप्ता-
स्तीव्रं महाव्रतमिवात्र चरन्ति वप्राः ॥

सुभाषित रत्नभाण्डागार

जीवन्नरो भद्रशतानि पश्येत्
क्वचिद् भूमौ शय्या क्वचिदपि च पर्यङ्कशयनः
क्वचिच्छाकाहारी क्वचिदपि च शाल्योदनरुचिः ।
क्वचित्कन्थाधारी क्वचिदपि च दिव्याम्बरधरो
मनस्वी कार्यार्थी गणयति न दुःखं न च सुखम् ॥

भर्तृहरिः

स्यति चन्द्र ? क गतश्च द ?? कमपि पृष्ट्वा गतश्चन्द्र ? कदापि केनापि कुत्रापि गमनाय श्र तच्चन्द्रमुखादितिप्रश्नपारम्पर्यं विचारचातुर्यमातुर्यं सभाभवने।

भविष्यद्विदां ज्योतिर्विदां पण्डितानाञ्च प्रासादे सम्मेलो दरीदृश्यते। आदर सम्भारेण ते पूज्यन्ते सत्क्रियन्ते कौद्यमोत्तरच्छदासु सौवर्णाष्वासन्दीषु साभ्युत्थान समुपवेश्यन्ते।

केचन महोष्णीषास्तिलकाङ्कितमस्तका आप्रपदीन दधतो राजतीं यष्टि कलयन्त श्श्मश्रु शालिन प्रगल्भभाषणै महीपति मोहयन्तो धनलिप्सयाऽऽडम्बरताण्डव विरचयन्ति।

अपरे च जटिला आत्मान देश भगवतीभक्त विख्यापयन्त आरक्तकौशेयवसना भावणभूषणा भूपति तोषयन्ति। इतरे च दुग्धव्रतिनोऽखिला सिद्धि कर एव कलयन्त शोषितकाया भवन प्रभासयन्ति।

पर कोऽपि सत्य "श्व परश्वो मासतो वर्षतो नवाऽऽयास्यति चन्द्र' इति कथयति। पुनश्चप्रणयिनी जननी उपजरस वय समाश्रिता 'हा चन्द्र! मन्मन कैरवविकासक ? चन्द्र ? क गतोऽसि अप्रसूच्य प्रियां मातरम्'—इति विलपन्ती तस्य शयनागार, प्रसाधनसामग्रीं वाजिनश्च प्रतिक्षण प्रेक्षमाणा, स्मार स्मारमहर्निशमश्रुपूर्णलोचनसरोरुहा स्वास्थ्यमेव गमयाञ्चकार।

महाराजो क्षण प्रजागरकृशो निमीलन्नयनयुगलो गतसत्व इवोपबर्हमाश्रयन् स्थित। विदूरे चैको भृत्य प्रलम्बदाम्ना व्यजनमाकर्षति। न कोऽपि शक्तो मौनप्रभो प्रभुत्वमपहन्तुम्।

'विद्याधर ? हरि—सुभद्रौ महत्या प्रतिज्ञया गतौ अपि प्रतिनिवृत्तौ ? तन्द्रा साम्राज्य मर्दयन्महाराज आह।

मन्त्री—आम् देव! परिभ्रमणकृशकृष्णविग्रहौ म्लानमुखौ प्रातरेव प्रतिनिवृत्तौ। परन्तु

महा०—(मध्य एव) अकृतकार्यौ। किमेतदेव।

मन्त्री—आम् देव ?

महा०—एतदेव सम्भावितमासीत्। शतवर्षमिव वर्षचतुष्टय वीतम्, नास्ति कोऽपि जीवति नवेति प्रतिदिन पटव प्रतिदिश प्रेर्यन्ते, पर वेतनभुज पटव प्रेक्ष्यन्त

चतुरश्चिरोमणीनां समवायः समीक्ष्यते, परं कस्यापि मुखमण्डलं कृतकृत्यत्वेन साभं नावलोक्यते। प्रतिदिनमेतदेव श्रूयते, मद्भाग्यत एतदभिलाषावलिरेव लूना। (दिग्विनिःश्वस्य) मन्त्रिन्! उद्विग्नोऽस्मि, अस्माद् दुःखोदये निःसत्त्वं मर्तुकामोऽस्मि। बहु सोढम्, इतोऽधिकं सोढुं नालमस्मि।

मन्त्री—नैतच्छोभते धैर्यधारिधुरन्धरे भवति भगवन्। पुरा किल नलरामयुधिष्ठिराद्यो विपत्तिमनाकुलेन वयसा सहन्तः कालेनातुलां सम्पदं प्राप्य प्रचुरं यशस्तेनुः। शक्तिधरोऽप्यात्मनाऽस्मिन्कार्ये व्यग्नोऽस्ति ....।

महा०—(मध्य एव)—अपि अद्यावधितः कश्चन समाचारश्शक्तिधरस्य?

मन्त्री—देव, अद्यैव तेनागमन सूचितम्। मन्ये कृतकार्यः स निवर्त्स्यति। सोऽपि समदुःखसुखः।

महा०—(विमनायमान इव) श्रम् लक्ष्यते।

अथुनैव वेत्रहस्तो दौवारिकः प्रविश्य निर्जयं व्याहृत्य "देव! श्रीमन्मन्त्रिकुमारोऽपरेण केनचिदज्ञातनामधेयदेशजातिना सार्द्धं श्रीमच्चरणौ प्रणिनंसति, श्रीचरणौ प्रमाणमित्यूचे"।

महा०—[उत्थापितनयनो दौवारिकं निपुणं निरीक्ष्य] आम् प्रेषय। दौवारिक, कावश्यकता शक्तौ व्यवहारस्यामुष्य, अस्तु, शीघ्रं प्रेषय।

प्रणम्य प्रयाते प्रहरिणि समायातः ससहचरः शक्तिधरः। महाराजं मन्त्रिणञ्च प्रणम्य, राज्ञा—"पुत्र! शक्तिधर! चिरञ्जीव"—इत्युच्यमानस्तन्निर्दिष्टकाष्ठपीठिकामुपविष्टः पार्श्वे च सहचरः।

शक्तिधरोऽसौ वर्णेन शोणितप्रभः, आह्लादी सुघनाधरो मञ्जुलो वयसा पञ्चविंशतिवर्षदेशीयो, जनपदजेगीयमानमेध्य[1]-वीप्र[2]-विशङ्कट[3]-पुरुह[4] शेमुषी[5]गुणः, कोमलकलेवर उत्साहसखः प्रभावितसमस्तसभोऽस्ति।

सहचरश्चास्य विवर्णः प्रवृद्धश्मश्रुजटिलो वितततनुयष्टिरानतीतः, प्रस्वेदबिन्दुपूर्णकपोलस्थलः पीतवसनोऽसितवासा युवापि वृद्ध इव प्रतीयते।

अथ महाराजो नेत्रसङ्केतेन सचिवमुवाच—

अपि कुशलं पुत्र! त्वमपि नितरां कृशीभूतः, कोऽयं समानीतस्त्वया।

---

१ पवित्रम्। २ विमलम्। ३ विशालम्। ४ विपुलम्। ५ बुद्धिः।

शक्ति०—श्रीचरणकृपया कुशलम्। महाराज! किं विस्मर्यतेऽसौ चन्द्रमित्रं विश्वशेखरः। यो हि युवराजमहोत्सवे तस्मा उच्चकुलप्रसूतमश्वमदात्।

महा०—(विस्मृतं पूर्वोदन्तं स्मारित इव, पूर्वानुभूतां युवराजसमयच्छटामनुभावित इव विस्फारितनयनः) आः (क्षणं निश्वस्य) यथारुह्य चन्द्रोऽस्मान् दुःखितांश्चकार

शक्ति०—(कथयतो महाराजस्य मध्य एव) देव! प्राप्तिसाधनमप्येष एव।

पीयूषपरिप्लुतामिव मधुरां श्रोत्रस्रोतसा मानसमानन्दयन्तीं वाचमिमामाकर्ण्य श्रोतुमधीरो महाराज ऊचे, अप्यासादितः कश्चन समाचारः स्वमित्रस्यापि पुत्र? कच्चित्तस्य कापि गमनपदवी लब्धा? अपि कुशली क्वास्ते चन्द्रः?—विशकलय्य कथ्यतां स्वकीययात्रा-वृत्तान्तः।

शक्ति०—देव, अस्मान्नगरान्निर्गतोऽह विचित्रविचित्राणि, शोभनशोभनानि वनानि स्थानानि नगराणि कन्दराश्चापश्यम्। परतश्च नर्मदाकूलशैलशिलागुहासु जातशङ्कश्चिरं तत्र वासमकल्पयम्। नर्मदायाः सुरम्योऽय प्रदेशः। उभयतस्तटं हरिणमुख-यन्त्रकर्त्तिता दूर्वा कूलकान्ति कुर्वत्यासीत्। विदूरं यावन्नितरामकुटिला नर्मदा श्वेतसूत्रमिव प्रत्यैत। कूले श्लक्ष्णाः स्नानशिला अतीतकाले पुरुषसत्ताम सूचयन्। एकतः कूले नितरां निविडं वनमासीद्, द्वितीयतश्च विरलपादपः समः प्रदेशः। एकतः शार्दूल हरि-वराह-भल्लूक-खड्गिनां प्राज्य राज्यं, द्वितीयतश्च मृग-चमर-शश-गवय प्रभृतीनाम्। एकतो निशितनखविदारितकरिणां हरीणां क्ष्वेडा[1], परतश्चाक्रान्तकदम्बकाण्डानां केकिनां केकाः। एकतः समूलपादपोन्मूलनं बृंहित[2], परतश्च फलास्वादहारि रुतम्[3]। परस्परविरोधि प्रदेशद्वयं विभजन्ती नर्मदा प्रवहन्त्यासीत्।

अह नर्मदारोधसि स्थितासु शिलासूपविष्टोऽनन्तानन्दसुधां पिबन् कदाचन हरिणशावकानां स्वाभाविकीं तरलतां, कदाचन वन्यशशकानां सैकतप्रदेशे निरशङ्कं क्रीडनं कदाचनोपनर्मदकर्दमेषु [4]लुलायलुण्ठनं, कदाचन पादपेषु कपिपुङ्गवप्लवनं कदाचन [5]भूरिमायसमुदायमायाः पश्यन्नवर्त्तिषि।

नर्मदायास्तीरे मुनिभिरध्युषितचर एक आश्रम आसीत्। अतीतकाले केनापि

१ क्ष्वेडा—सिंहनादः। २ बृंहित—करिगर्जितम्। ३ तिरश्चां वाशितं—रुतम्। ४ लुलायो महिषः। ५ भूरिमायः शृगालः।

विरक्तेन तपस्विना स स्थापितो भवेत्। शतशस्तापसकुमारास्तस्मिन्नवसन्, हविर्गन्धिविभावसुधूमः पार्श्वप्रान्तमपुनात्, परमद्य [1]ध्वंसावशेषमात्रमासीत्। बिल्वद्रुमाणां सान्द्रच्छायासु निर्मिताः परिधयोऽपि यज्ञवेदी आम्रस्थगुदिवकेषु[2] धेनुदामनीघर्षणगर्त्ताश्च सौरभेयीणां प्रचुरां सम्पदमसूचयन्।

उद्यानं यस्मिन् तापसाः सविभ्रमं व्यहार्षुः काननीभूतमासीत्, केवलं क्वचन क्वचन स्थिता वन्यदाडिमा बीजपूराश्च तस्य प्राचीनपरिचयमसूचयन्। कोणेष्वपि देवमन्दिराण्यासन्, सन्नानि नितरां जीर्णानि। वेषां भित्तिविदार्य बहवः क्षुपा निर्गता आसन्। अग्निवेदिकानां—यासु वेदव्रतिनो वेदमध्यापयामासुः—लोष्टानि प्रकीर्णान्यासन्। तत्र [3]वामलूरपूराणां पिपीलिकापूर्णाना प्राचुर्यम्।

एकं विशालं भग्नावशेषं विनाऽत्र किमपि नासीत्। परमद्यापि—सम्प्राप्तदशमीकः[4] सोऽतिथिसेवां न व्यस्मरत्। विदूरयायिनोऽपि तस्य च्छायासु विश्राम्यन्तो ग्रीष्मभीष्मस्य प्रचण्डचण्डकरकिरणबाणानपानैषुः। विस्मृतमार्गा [5]अध्वनीना अद्यापि प्राकृदेष्वान् झञ्झावातानसहन्त। लघुलघुभिरपि स्वल्पस्वल्पैरपि फल पर्णदेवमतेपयन्। यूयमुत्थान् मृगानद्यापि स स्ववेदीमानन्तः च शायपित्वा निर्विघ्नं रात्रिं व्यतियापयितुं सहायोऽपि। अर्जुनशाखासु निषण्णाः पक्षिण आश्रमस्यातीतगाथानद्याप्यागन्तुकानश्रावयन्। नगराणां मदमत्तनानवेषु प्रासादेषु, विलासशालिषुपन्नेष्वानन्दस्य शततमोऽप्यंशो नास्ति यत्तस्याश्रमस्य भग्नावशेषेष्वासीत्। तस्य मृत्स्नरेण कम्पगते, अकृत्रिमौदासीन्ये भूतगाथायार्थे च विलक्षणा मादकताऽऽसीत्। माधुर्यपूर्णं प्रकृत्वेदं समासीत्।

सोऽयमाश्रम एव ममाधुना वास आसीत्। अहमितस्ततः सन्देहस्थानेषु परिभ्रम्य तत्रैवतिष्ठम्। तस्य भवनानि सम्प्रति वासयोग्यानि नासन्। आश्रमस्य मध्य एकः पिप्पलस्तरुरासीव स्थित आसीत्, को जानीते कतिभिर्वर्षैस्तत्रासन्, जीवने कीदृशैः झञ्झावातैर्दानानलंध्यार्य व्यथितो भवेत्, परन्त्वार्षादिस्तुतो निश्चलो निष्कम्पश्च। अधुना तस्य त्वचा वार्द्धक्यं व्याप्तासीत्। शाखासु बाल्यं युवत्वं चैतन्यमासीत्। तस्य शाखासु

१ खण्डहर—इतिभाषा। २ खूटा। ३ चींटियों का स्थान। ४ दशमी—अन्तिमावस्था। ५ अध्वनीनः—पथिक।

सहस्रय पक्षिण कुलक्रमेण न्यवसन्। शेष इव सोऽपि तान् स्वशिरसाऽधार्षीत्। ते तत्रैव न्यष्ठीवन्नमूत्रयन्नहदन्नन्नृत्यन्नकूर्दन्तारुवँश्च, परन्तु स सर्वं सह आसीत्।

मया तेषा समीपे पिप्पलस्यैकतमे उच्चै प्रकाण्डे काण्डे एको मञ्चो व्यरचि। महता श्रमेण तालकाण्डै वंशदण्डैरेकाकी तमकार्षमेव। सुन्दरसुन्दरै कोमलकोमलै पुष्पपत्रैराच्छादिता सा कौशेयास्तरणमप्यत्यशेत। वंशानामेका छिद्रमयी भित्तिरपि मया परितो निरमायि। अह विदूरादकार्यं कृत्वा समायन् सस्नेह सगर्व तां मनोरमा कुटीं पश्यन्नासम्। मन्ये न तस्या वियोग न सहमाने आस्ताम्। सापि मा नेत्रैरिव सहस्रशश्छिद्रै रनिमिषनयना पिबन्तीवासीत्। अह तस्या कोणे बहुविधानि फलानि रक्षन्नासम्। तान्येव मम जीवनस्य साधनान्यवर्त्तन्त। कदाचन तृषितो रात्रौ हिस्रभयङ्कर नद्यास्तटमगच्छन् वन्यदाडिमीफलाना रसमेवापिबम्।

एकदाह सर्व दिन कार्ये सुव्यग्र आसम्। क पर्यमासीद् यत् कति गव्यूतयो मयाद्यावजगाहिरे, परन्तु मम शरीर नितरामशक्तमभूत्। श्रान्तस्य मे सोऽपूर्वो दिवस आसीत्, मच्छरीर स्वेदरूपेण बहिर्निरैत्। अह नर्मदापवित्ररोधसि शिलाफलकमेकमधिशयान कदाचिद्गतमान, कदाचन भयङ्कर कानन, कदाचन स्वस्याबहुदर्शितामकृतकृत्यताञ्च कदाचन वन्यपशून् कदाचन चन्द्र, कदाचन भवन्त, विमृशन् श्रममपनुदन्नासम्।

दिनपति पतन्नासीत्। दिनमपि तच्छोके सुमेवक्र इव म्लानमभूत्। अकस्माद् भीषणभीषणैर्धूलिमिश्रितैर्वायुपर्वतै पर्यपूर्यत पश्चिमाशा। सुदक्षसेनानीसञ्चालितै पूर्णसाहसै सैनिकैरिवाकाशक्षेत्र व्याप्त पवनप्रेरितैर्धूलिधराधरै।

मदीयाङ्गेषु मृतप्रायेष्विव शिथिलेष्वभिनव भय सञ्चरितम्। जीवनधारणस्य ममतैक विलक्षण साहसमकरोत्, श्रान्तेष्वङ्गेषु नवीना शक्ति स्फूर्तिः समागच्छन्। अह सत्वरसत्वर पिप्पलाभिमुखोऽचलम्। मन्दवायोरेकसञ्चारेणैव विश्व पीतमासीत्। एव मन्यैद् यद् विराजो भगवत स्खलित पीतमम्बर भ्रमति प्रवृत्तम्। अकस्मात् पीततां रक्तता समपिबत्। परन्तु रक्तापि सुचिरं न स्थिता, क्षणेनैव तद्रूप कालिम्नि परिवर्त्तितम्। हस्ततो हस्तो नावालोक्यत। श्रमेणोत्पाटिताभ्यां चक्षुर्भ्यां पुर स्थितमपि वस्तु नालक्ष्यत। प्रचुर-

शक्तिभिः प्रकाशदीपैरपि तिमिरदुर्गं नाशितुमशक्यमासीत्। महेश्वरीया मायेव भुवनं व्यामोहयत्। परन्त्वहं मत्कुट्यां प्रविष्ट आसम्। मया दुर्गं प्राप्त मितीवाहं व्यश्वसम्। काननं वन्यपशुपक्षिणां रोमाञ्चकारिणा कोलाहलेनोद्विग्नमासीत्। सर्वे स्वाश्रयप्रवणा आसन्। सौभाग्येन मुहूर्तासरतस्तस्य नैश्शनैर्वियद्विशददशामाप्त्। निश्चला इडवो विपद्ग्रस्ताकाशेन सहानुभूतिमिव प्रकटयन्त्य आप्रकाशन्त।

यथाक्ष्यविशीरवता विस्तृता। वनभूमिः स्वपुत्रान् लालयन्तीव गाढनिद्रितांश्चकार। अहमपि फलानि प्राश्य सुप्तः परन्तु सशङ्कः सचेष्टश्च। शिरोवेष्टनं शिरस्येवासीत्, कृपाणः कटितटे लग्न आसीदेव, वस्त्राणि सर्वाणि परिहितान्येवासन्। केवल मुपानद्युगलमुन्मोच्यैकस्मिन्कोणे निहितम्। कुटीरस्यै एकहस्ततोऽपि न्यूने द्वार एवाहं शयान आसम्।

अकस्मान्मम निद्रा भग्ना। मम धैर्यधारि हृदयमधीरतामगृत। तस्य गतिः शततोऽप्यधिकाऽऽसीत्। आकस्मिकेन भयेनोद्विग्नः सहसा पार्श्वनिकुञ्जाद् गर्जनमश्रौषम्। उपविष्टश्चक्षुषी विस्फार्याद्राक्षं यद्यो निकुञ्जे जिह्वया सृक्किणी लिहन् सिंहो भ्रमति। तस्याङ्गाप्रतिमे अक्षिणी नैशिकमन्धकारं कर्त्तयन्ती द्योतेते। पुच्छमुत्थाप्य स गभीरगभीरं सत्वरसत्वरं बुभुक्षित इव पादान्न्यस्यन्नितस्ततोऽभ्रमत्। तस्य भयङ्करा दंष्ट्राः सन्तमसेऽपि प्रत्यक्षमैक्ष्यन्त। तस्योत्पाटितं मुखं सुपटो-पक्षेटिनः पाटवोत्पाटने पट्वासीत्।

तस्यैका लघीयसी दृष्टिर्मत्कुटीरे न्यपतत्, एकेनैवोत्कूर्दनेन स मत्कुटीरोपर्यासीत्। हृदयभावश्चक्षुषोरग्रतः समायातः। स निश्शङ्कं गर्जन् कुटीरच्छत्रे भ्रमन्ना-सीत्। तस्य मुखादाममांसगन्धो मन्मानसमुदविजीत्। मर्मरशब्दैः कुटी स्वस्याः शोचनीयां दशां मह्यं सकरुणं न्यवेदयत। परन्तु सम्प्रति जीवनसंशीती चिन्ताचक्रमसमीक्ष्य हस्तधृतनिस्त्रिंशोऽभीरिवाभूवम्। परं मम कुटी सन्नस्तैवासीत्। तस्य निशिता नखा वंशप्राचीरस्य पार्श्वतोऽन्तः प्रविश्य आसन्। .सिंहवल्गितेन पर्णकुटी सर्वाङ्गैरकम्पत। पिप्पलशाखा मर्मरयन्त्योऽ-भूवन्। कुटीप्रवेशाय केवलमेकमेवासीद् द्वारम्। यस्मिन्नहं स्थित एवासम्। मयाऽनुत्साहहतेनाऽशिणी उपरि कृते स मृदं गर्जितः। द्वावङ्गारौ मम नितरां समीपे

ज्वलन्तावास्ताम्। तस्य सक्रोधः श्वासः कुटीमपूरयत्। सिंहो भीषणं सङ्गर्ज्य उच्छल्य द्वारस्य सम्मुखीनकाण्डे समैत्। मयापि खड्गोऽक्षिणी निमील्य प्रहृत एव। परन्तु सिंहः प्रहारं वञ्चयन्नुच्छल्य पुनर्महता वेगेन कुटीरे पतितः। अधुना कुटी विश्रृङ्खला जाता। तस्या अङ्गानि शिथिलान्यभवन्। सा कड कड शब्देन स्वशरीरं छिद्रनखाग्रावद्दीपीत्। अनेनाकस्मिकेन व्यतिकरेण सन्त्रस्तः सिंहोऽपि सङ्गर्ज्य एकतः संकूर्य कुञ्चलीनोऽभूत्। मया च तस्मै नमोऽस्कारि। कुटीदशा विचित्राऽऽसीत्, भूकम्पोत्तरं नगरस्य सग्राम-सम्भ्रमगतस्य वीरस्येव।

प्राची प्राकाशत। सूर्यदीपमादाय भुवननीराजनामिवाचरन्ती सा नितरामराजत्।

अहं प्रातराशं विधाय गन्तुं व्यचारयम्। तस्मात्स्थानान्मम मनस्तृप्तमासीत्। क्षणं भग्नगात्रां कुटीं, क्षणमाश्रमं क्षणं पिप्पलं, क्षणं मत्प्रतिवेशिनः[१] पक्षिणः सस्नेहं वीक्ष्य पार्श्वपर्वतकन्दराभिमुखमगच्छम्।

उपवनमेवासीत् पर्वतः। वनपर्वतयोर्मध्ये एकं विस्तृतं सुरम्यं चक्षुःसवस्त्रं क्षेत्रं पार्वतनिर्झराणां विमलजलेन सिक्तमुपवनतां दधदासीत्। एकतः शिल्पिनिर्मितेव सरला प्रोच्चा वशभित्तिरभ्राजत। अन्यतश्च शिखरैराकाशं स्पृशन् विविधद्रुमलतागुल्मगहनः शैलोऽवनितलमाक्रम्य वियत्सुधामापिबद्भिः करीरपनसतिनिशपारिभद्रार्जुनादिभि निर्झराणामनवरतसणत्कारेण च व्याप्त आसीत्।

अहमेकस्य सच्छायमहीरुहस्य शीतले तले उपविष्टः पार्वतीः घनघना वृक्षावलीः प्रेक्षमाण आसम्। अकस्मान्मया दृष्टं यत् सान्द्रद्रुमनिलये आलपन्तौ द्वौ पुरुषौ पर्वतपाषाणविकर्त्तननिर्मितायां गुहायां प्रविशतः। क्वस्तस्या निर्माणकाल आसीत्, कियता श्रमेण कतिभिश्च वर्षैः सा सम्पादिता भवेत्, परमद्यापि सुदृढा। गुहाभवनान्निर्गतो "हे प्रभो ! हे नारायण ! हे दीनबन्धो ! मा मां जीवये"ति विरलविरलोऽस्फुटाक्षरो ध्वनिर्मत्कर्णौ सतर्कावकरोत्।

अवलनपदन्यासोऽहमपश्यं यल्लौहदण्डद्वारायां कारायां विश्वरोसरः प्रवृद्धश्मश्रुः कृशः

---

[१] पडोसी—इतिभाषा।

कृष्णो दीनो म्लानोऽपरिचीयमानोऽस्ति। तन्मुखादेव तानि पदानि निसरन्ति। तादृगवस्थं दृष्ट्वा हृदयमसाधारणया करुणया पूर्णम्। लघुरेव [1]विष्कम्भक आसीत्तदग्रे, पाषाणपातेनैव त सद्योऽभिदम्। ततदद्यैन यथाऽऽनीतवानस्मि, तथा श्रीमतामग्रे स्थित एव। अनेन कथितं चन्द्रगमनवृत्तमिति।

ततश्च सभासदा साधुवादेन सहैव विरते श्रीमति शक्तिधरे प्रवर्द्धमानायाश्च महाराजस्यावीरताया मौर्ख्यं भजत्सु च सदस्येषु शक्तिधराक्षयसङ्केतः स व्यजिज्ञपत्।

देव! केवल देहमानभिन्ने परमसुहृदि श्रीमति चन्द्रकुमारे गते द्विनेषु दिनेषु व्यतीतेष्वह मम निकेतनस्य क्षोमे[2] सुप्त आसम्। ममाकस्मान्निद्रा भग्ना। निशीथः। सर्वतः प्रसृता च भीषणा निस्तब्धता। क्रूरतामन्तर्धत्ते तमस्विनी च नितरा तिमिरिणी। झिल्लीकरुणमण्डूकारमन्तरा कोऽपि शब्दः श्रुतिपथ नावातरत्। समस्त जगदापादमस्तक भयमग्नमिवासीत्। क्षिप्रश्वाविणा श्रवणेनानुभूतो भवनस्याधोभागे कश्चनापूर्वो ध्वनिः। उद्विग्नो भीतश्चाहमसामयिकेन ध्वानेन, भित्तिमञ्जूषातः पञ्चगुटिक [3]भिन्दिपालमेकं निःसार्य कुक्षि [4]गुटिकाया संस्थाप्य, नागदन्तेषु लम्बमानानां चन्द्रहासानामेकतम लघीयास हस्ते कृत्वाऽशब्दितचरण- सोपानैरवतीर्याऽद्रर्श यन्मम द्वारा लुप्तचेतना एकस्मिँश्छिद्रारे साक्षात चोरते। तान् विहाय ध्वान विचिकित्सता मया कवाटसङ्गमच्छिद्रनिर्गमनलघु दृष्टं ज्योतिः। कपाटे पादाघातेन निरवैप यत्कपाटयुगलमन्तरतो [5]मुद्रितमस्ति। अनुभूतिः प्रत्यक्षता मभूत। कतिचन पुरुषाः शनैरालपन्तश्छिद्रितभित्तिया मम कोशजातं सत्वरसत्वरं बहिर्निरक्षिपन्। [6]विमर्द्दप्रकाशिकाप्रकाशश्चाखिल वस्तुजातं प्राकाशयत। नैते ग्रासमुन्नुद्रयिष्यन्तीति पर्यालोच्य बहिरागत्य दृष्टवान् यत् त्रयः पुरुषा मम- कोशजातं प्रमोष्य पोट्टलिकाश्चाबध्य वाजिपायोग्य गन्तु सज्जाः। त्रयः पुरुषाः शरीरेण, साहसेन, बुद्ध्या, शक्त्या, शस्त्रेण, छलेन, कोपेन च गरिष्ठाः,— एकश्चाहमिति विचार्यापि नाभवमहं शक्तश्चोर्यमाण कोशजात रक्षितुम्।

---

१ ताला—इतिभाषा। २ उपरकोमञ्जिलमें। ३ पिस्तौल। ४ पेटके पास की जेब। ५ मुँदा हुवा—इति भाषा। ६ टॉर्च लाईट।

'तिष्ठत रे! चौर्यकलङ्कपङ्किला! दुष्टप्रष्ठा—इति सगर्जनमाभाष्य सदश्वमेक माख्ढो निष्कोशकृपाकृपणकृपाणपाणिरहमन्वधावम्। किञ्चिद् र गतो व्यचारयम्, यदेते निर्दया साहसिका—एकाकिन मा हन्युस्तदा दु खदमिम सवाद क श्रावयिष्यति स्वजनसम्बन्धिन। सर्वै मित्रबान्धवैरविज्ञात एव मरिष्यामि। मम हृदयगति पदे पदे व्याकुलता चावर्द्धत। उद्धता वीरभावा एकपद एव विलीना। मुखमण्डल खिन्नम्। करोऽकम्पत। शरीर शिथिलतामभावीत्।

अकस्मादथ—'हिँ हिँ' शब्देन स्तब्धतामभनक्। तद्वाचि उत्साह आसीत्, स्वामिभक्तिरात्मविश्वासश्च। अकस्मात्स्थिरमभूद् हृदयम्। भीतिर्वीता। अहमस हायोऽस्मीति भावना नष्टा। पशुरयमस्माक किमुपकरिष्यतीति विदन्नपि तस्य हेषया—नवीनेनोत्साहेनाह प्रतिबोधितोऽद्भुतधैर्येण पूर्ण।

सम्प्रति मदीयो वाहो वातेन समलपत्। तेषा वाजिनोऽपि वेगेन मार्गमतियन्त आसन्। परन्तु ममाप्यश्वस्तेभ्यो विदूरो नासीत्। को जानीते कति क्रोश मध्वानमह व्यलायं, परन्तु नक्षत्रक्षणेन रात्रि स्खल्पैवावशिष्टा प्रत्यैत्। तेऽकस्मा दश्वेभ्योऽवतीर्णा। अहमप्यवतीर्य वल्गा करीर शाखाग्रायोज्य मर्यादया स्थितो भिन्दिपाल नि सार्य प्राहरम्। चतुर्दशी चन्द्र उदैत। व्यग्रस्य ममाक्षिणी सम्यङ् नापश्यताम्। तथापि द्वौ पुरुषावाहतौ, एकश्च परेतराजस्याध्वनीन मकरवम्।

घना वृक्षालि.। चन्द्रप्रकाशानाश्य तम। जनसम्पर्करहितश्चाय प्रदेश। यदाह मामकीन धनराशि जिघृक्षुरग्रपदे प्राचलं, तदैव "वीर! वीर! पश्यसि! पश्यसि"—इति समश्रूयत कर्णकुहरविस्फोटन करालो घोर आवाद[१]। श्रुत्वा चैतच्छुष्यद्गलनले कुण्ठित रसने विधूतधावनशक्तौ प्रोच्छलद्हृदये कम्पमानकरकरवाले भीत्या निपतित भिन्दिपाल उत्थिततरोमनिकुरम्बे स्वेदार्द्र स्तब्धशरीरे मयि निकटस्थग्रामग्रामगण्डु निःसृत कज्जलजलक्षालितेनेव, कालकम्बलेनेव मषीपूरपरीतेनेव अञ्जनशोणादिसरीसृप समूहनिर्मितेनेव, अखिलैलाकलङ्कपङ्कनिकुरम्बपरिरम्भितेनेव, कासरचर्मणेव काककोकिल कुलेनेव, पट्टपरसद्दयेव महेश्वरीयभावेनेव, दयाहृन्देनेव चैत्यहृदयेनैवाप्रदीनेन

१ आवाज।

कृष्णपटेन समावृतशरीरो नीलवस्त्रावगुण्ठिताननो भयङ्कराकारः साकार इव कालो दृढशरीरो मल्ल इव हस्तधृतभल्लः कश्चन ना।

साक्षान्मृत्युमिव पुरःस्थितं तं वीक्ष्य शोचन्नहमात्मानं धिक्कृतमकार्षम्। नश्वरवृत्ते वित्तस्य गरीयसा लोभेन प्राणानपि स्वहस्तेन संक्रीतिमारोपयता मया स्वस्याविमृश्यकारित्वं व्यक्तम्। तरङ्गचपला चपला जीवनपारावारे समभ्येति नश्यति च बहुशः, परन्तु तनुरत्नमिदं न पौनःपुन्येनाप्यते, हन्त! कथं निःसर्तव्यमस्मान्मृत्युमुखात्। कथमस्य विपत्पारावारस्य परं पारमाश्रयेयमिति चिन्ताकुलो मरणमवश्यं सम्भाव्यमानः सत्वरमेवासिना प्राहरम्।

परन्तु बलिष्ठेन प्रकोष्ठे गृहीतोऽमुना कालेन केवलं रुषा निश्वसन् अन्तःस्थित क्रोधमशिम्यां यमन्नासम्। तावदेव वायुध्वनिना[1] सकेतितः कश्चिदागत्य शिरसि विषमयप्रचुरपरिमलमूर्च्छादायकौषधपरीतं वस्त्रं प्राक्षिपत्येन प्राणप्रवृत्तिनैवाहं नष्टसंज्ञः सवृत्तः। नष्टमूर्च्छश्चात्मानं लोहदण्डनिर्मितद्वारे कारागारे प्रापम्। यस्मिंश्च कम्बलद्वयं प्रावरणविस्तरार्थं, पयःपूर्णघटं भग्नतुम्बीपात्रं विना नान्यत् किमप्यासीत्। कश्चिन्मूको दासो द्विस्त्रिरहोभिर्महामत्तं प्रयच्छन्नासीत्। तेनैवाहमियन्तं कालं दुःखमाकलय्यापि जीवामि।

अन्यदा प्रभाते स्वप्नमन्वभवं यच्चन्द्रः करेणुकामारूढो महति समारोहे समाद्रियमाणोऽस्वरे नगरे राज्ञो हर्म्याभिमुखं प्रयाति, तमन्वहमपि वाजिनमारूढो यामि। विलक्षणो वाद्यध्वनिर्ब्रह्माण्डं मुखरयति। अकस्मादेको महाँस्तोभ[2]श्चलितः। तेनमहाशब्देन व्यग्रोऽहं निद्रामजहाम्। क्षणं स्वप्नं क्षणं स्वकीयां वर्तमानां दशां विमृशन्नहं निशां व्यगमयम्।

बभूव सुप्रभातम्। अद्य दिनं मम जीवनस्य विशिष्टं दिनमासीत्। स्वर्णसूर्य उदगात्। किरणावली प्रमोदं प्रावर्षत। पक्षिणो स्तेन भाविसन्देशमिवाख्यन्। गुहावासिनो मृगा अपि सहानुभूतिं प्रकटयन्त इव नर्दमद्वारदण्डे कण्डूमपानैषान्। विचाराध्यमे मयि अविदित इव मध्याह्नमतीत्यापराह्णोऽभूत्। पादध्वनिरिवाश्रावि। मयानुमितं मूकदासो भोजनमानयति। अहं जीवने निराशस्त्वासमेव। सद्यो जीवनक्षपणाय

1 ह्विसिल, सीटी। 2 तोभः—तोप इतिभाषा।

परमेश प्रार्थयमानेन कारावासदुर्बलाभ्या नेत्राभ्या प्रैक्षि यच्छ्रीमामन्त्रिकुमार परमशक्तिधरश्शक्तिधरो द्वारस्य पुरो वेदिकामध्यास्ते। क्षण मया चन्द्रस्वप्न इवैषोऽपि स्वप्न एव मत। पर तु क्षणेनैव आहितमात्रे मनसि विवेकरेखा रामचरत्। मन्ये तालके सर्वाङ्गबलेनाहमुदतिष्ठम्। सस्नेह, सकरुण, सत्वर मज्जीवनशरणयोश्चरण सरोरुहयो पतितोऽश्रुस्रोतसा वनभ्रमणधूलिमक्षालयम्।

आभारी ऋणी कृतज्ञश्चास्मि यदद्य अपेक्षितसूर्यभ्राजा सम्राजा नितरामसम्भावित दर्शनसुखमनुभवामीति कथयित्वा विरिरसतीव तस्मिन्, 'चन्द्र कच्चित्वा —मिति साधीर भाषमाणे च राज्ञि पुन प्राभत वक्तु सोढप्रचुरकष्टस्तद्या।

देव, चन्द्र क किमर्थ वा गत —इत्यहमेव जानन्न सम्। यत स मया सहैवामन्त्र्य गत। शक्तिधरस्तु नासीत्।

महा०—आम्, अस्माभिरप्येतदेवान्वमायि यद् विश्वशेखरोऽपि तमनुगत।

विश्व०—एतदेव विचारितमासीत्, पर मध्य एव यस्मिन् विपत्पयोधौ न्यमज्ज तच्छ्रीमता पुरो निवेदितमेव।

महा०—(किञ्चिद्धैर्येण) आम्, आम् तत।

विश्व०—देव, किं न स्मर्यते भगवद्धरसिद्धियात्रा, विमलपुरेश्वरपुत्र्या च चन्द्रस्य परिणयप्रतिज्ञा।

महा०—(सोत्कण्ठेन मनसा स्मृतपूर्वोदन्त इव) आम् कथ न, चन्द्रे गते सप्ताहे व्यतीते ततस्तिलक समायात।

विश्व०—एकदा साधिवेल विधि समाप्य प्रादोषमशनमुपभुज्य भवनमुखोपवने पवनानन्दमनुभवति मयि द्वास्थश्चन्द्रागमन न्यवेदयत्। स्मितेन रात्रिमुख राजयति मौनमुपविष्टे तस्मिन्नहमवोचम् —

वातलेऽपि खिन्ना कपोलपाली गरीयांसमाधि प्रकटयति म्लान मुख कातर्यमिव व्यनक्ति स्फुरदधरो धैर्यमिवावधीरयति, स्खलन्तौ चरणौ महतीमुत्सुकता सूचयत, किमिद किवास्य कारणम्॥

चन्द्र —सत्यमुपलक्षित मित्र! वस्तुतो नितरा खिन्नोऽस्मि।

अह—कुमार, कोऽयमभिनव खेदावसर।

चन्द्रः—आम्, अभिनव, यदर्थमामन्त्रणायागतोऽस्मि ।

अहं—अयमहं श्रीमता जन्मनोऽवगेव दासः ।

चन्द्रः—सखे, सखेदोऽस्मि । पश्य पितुरप्रसन्दोनाद्रासो वस्त्राध्यक्षेण लब्धमिदं पत्रम् ।

विश्व०—देव, तदेवेदं पत्रमासीद्, यदुज्जयिन्या विमलपुरेश्वरेण लिखितम् । तदिदं पठित्वा स मूर्च्छामुदतासीत् । व्यजितक्रोधोऽवोचच ।

"जगज्जुगुप्सितमनार्यनरणीयमयशस्यमाचरितमिदं पत्रं विस्मरता तावेन, मद्दत्तवाग्दाना चेत् परिणीता, यतो न पूर्णं वयः प्राप्य विष्टन्त्यविवाहिताः कुलीनाः कन्यास्तदा मदद-न्याय्यम् ।"

"कुमार, शान्तं पापम् । अमरस्पर्धिनी ते सम्पत्तिः, नेत्रशतविलोक्या काममोहिनी ते मूर्त्तिः भूपालचक्रकीर्त्तितकीर्त्तेः श्रीलश्रीमहाराजनवेन्दुशालस्यैकाकी प्रियः पुनः, समासतरक्रन्लम बल, पूर्णे वयसि वर्त्तमानोप्येतत्सम्बन्धजिघटियषयाऽदत्तवाग्दानत्वमन्ये सापि भवच्चरणसरोरुहदासमपेक्षत एव । विलक्षणोऽयं भगवान् विधिः" ।

"सम्भाव्यते, परं स्त्रीमाविराजतिलकपर्यन्तमनः स्थित्वा परत एतदर्थं यास्यामि ।" इति ।

तदेव, चन्द्रो विमलपुरं गतः सर्वं क्षेममेव विधास्यति देव प्रमथनाथः । स्तुत्यमेव श्रोष्यते देवेन चन्द्रस्य । अहमेतत्सर्वं विदन्नपि श्रीमते निवेदनायालब्धावसर आसम् ।

"परं विलम्बे कोऽवलम्बः"—इत्युक्त्वा मूर्च्छितो महाराजः ।

* * *

प्रातःकाल, कमलवनोद्घाटनपुरस्सरं विचकास सुप्रभातम् । कार्यकरणप्रेरणामिव कार-यन्ती भास्करकिरणावली जगतः कोणे कोणे प्रसृता । शशिधरो जिगमिषुः प्रणिनंसया उद्यानकुञ्जे दर्शनाभ्यत्सुरीक्ष्यन्त स्वपितुमुपागमत् । स च हास्येनाभिनन्द्य तमाह—

"पूर्वं महानिम्बसरसायितं कटुकाढायितं परिणाममधुरं कर्म कुर्वन् नरो वरीयो यशस्समोति, अतो राजकुमारान्वेषणाय भवताद् शब्दपाथेयमरस्त्वमेव व्यवहर्त्तव्यम् ।

"मनोभावो भवत्येव श्रेयान् । परिचयवता किन्तु सतर्कमालुच्छहृदयेन च भवितव्यम् । मित्रमपि च तत्स्त्वया व्यवहर यथा त्वं प्रदाता भवेः, किन्तु मा नाम अपरिज्ञातान्यविचारैर्न्यः प्रमरः । विवादं परिहर, किन्तु प्रतिवादे तस्मिन् दृढो भवेः, यथा न स पुनस्त्वद्द्देत ।

गृणु, मा वद। सर्वेषां विचारं श्रुत्वापि निर्णये स्वतन्त्रः स्याः। निधिं निरीक्ष्य व्ययेः। वस्त्राभूषणे सभ्यतां मर्यादीकृत्य भजेः। धने नादाता नच दाता भूयाः। सत्यमालोकि भव्यभावन. सर्वदैव सक्षणो भवेः। प्रतिज्ञातपरो भूया इति।"

*　　*　　*

उपसमुद्र स्थलम्, स्वर्णकणा इव मुद्गराभिभा धूलिकणाश्चण्डकिरणसम्पर्काद् भ्राजन्ते। कस्मिंश्चिदपि दिग्भागे शकुनिकुलाकुलिता नेक्ष्यन्ते सान्द्रपादपाः। क्वचन क्वचन खर्जूराणां नारिकेलानाञ्च विरलविरलाऽऽवलिः।

शक्तिधरो यानस्य प्रतीक्षाभवने क्षणं विश्रम्य राज्ञे पित्रे च सन्दिश्य सहयोगिनोऽभिनन्द्याशुशुक्षणितरणिं प्राविशत्। तरणिश्चेयमेकाऽल्पीयसी नगर्येवासीत्। पृथक् पृथक् श्रेणिविभागः वाचनालय, भोजनालयः भ्रमणार्थं क्रीडार्थञ्च वेदिका निवासायावासाः। तेषु च शयन-विश्रम शौच स्नानादिकर्मणां कृते नितरां सौकर्यम्। शक्तिधरोऽपि प्राग्व्यवस्थापितमावासं प्रविश्य कार्यक्रमं निरमासीत्।

समुद्रोऽय उच्छृङ्खलमनुष्यैरनवरत विधीयमाना धर्षणामितोऽधिक सोढु न शक्यताव त्यैत। स्वभावगम्भीर तस्य हृदय मानवाना स्वार्थपरताया विरोधीव रणाङ्गणे गर्जतो दैत्यादपि प्रचण्ड, प्रलयकारि चासीत्। तरङ्गैस्ताडिततरे, मुसलधार पतता धारासारेण हतोत्साहस्य प्रधानकैवर्त्तकस्य मनो विह्वलतां प्रापादि पदे पदे। निमीलितेक्षण स कदाचन दूरवीक्षणेन परा नाव, कदाचन जलप्राबल्य, कदाचन झञ्झावातस्य गति, तथा प्रशमनकालञ्च परामृशत्।

जनमानसानि भगवन्नामजपे ममान्यासन्। किन्तु शक्तिधरदशक्तिधर एव। तस्य सुघटित शरीर निर्भीको यौवनसुलभ आत्मविश्वासस्तेन सार्द्धमासीत्। भयङ्करेऽपि समये सरिता पत्युस्ताण्डव पश्यन्, गायन्नास्त।

अकस्मात् तरङ्गोल्लसहत्या मृशमाहता तरिस्तिर्यग्भूता, जनताया सकरुण कालाहलस्तमस्तोमे लीन।

दिशि दिशि ततत्याते विद्वद्राजनवरङ्गतो
विततमहस शान्दे शास्त्रेऽवतीर्णगृहस्पते
व्यधित कृतधी के० के० शास्त्री मनोज्ञकविप्रिय-
नट्टलमधु तुर्यो निश्वास, स चन्द्रमहीपते।

इति श्रीटीकमानीवेदवेदाङ्गविद्यालयमुख्याध्यापकानां
पण्डितप्रवरायितच्छात्रपूजितपादारविन्दानां
श्रीलश्रीनवाङ्गरायशास्त्रिणां
तनयेन
काव्यालङ्कारेण
श्रीनिवासशास्त्रिणा रचिते चन्द्रमहीपतौ चतुर्थो निश्वास।

पञ्चमो निःश्वासः

अपि दलन्मुकुले वकुले यया
पदमधायि कदापि न हेलया।
अहह । सा सहसा विधुरे विधौ
मधुकरी बदरीमनुसेवते ॥

सुभाषितम्

अङ्गनवेदी वसुधा, कुल्या जलधि, स्थली च पातालम्।
वल्मीकश्च सुमेरु कृतप्रतिज्ञस्य वीरस्य ॥

बाण

इतो विद्युद्वल्लीविलसितमित केतकरज
स्फुरद्गन्ध प्रोद्यज्जलदनिनदस्फूर्जितमद ।
इत केकिक्रीडाकलकलभर पक्ष्मलदृशां
कथ यास्यन्त्येते विरहदिवसा सम्भ्रमरसा ॥

सुभाषितम्

देव प्रत्यूष प्राकाशत। शुकरोज्ज्वला मुक्तावर्त्तला उडुजिघृक्षन्निव वियत्क्षेत्र धावन् दिदृक्षमाण इव वा सासारिकमाश्वय भगवान् भास्वानारुरोहोदयगिरिम्। आतपोष्मणा जगत उद्भमविधमया च मम निद्रा भग्ना। मम क्षिप्रपरीम्भिणा घ्राणनानुभूतो भवने विलक्षणो गन्ध। नितरा शिथिलानि गतस्फूर्त्तीनि ममाङ्गा यपि मूर्च्छामिवासूचयन्। मम व्यायामि वपुश्च पर्यङ्कपरित्यागेऽनीहम्। पार्श्वे कमलापयङ्क निष्कमल प्रेक्ष्य मन साशङ्कमभूत्। झटित्युत्थायतस्ततो वीक्ष्य बहिरेत्य सहचरीरपृच्छम्। ता प्रत्यूचु

'मनोरमे, किं भणसि वहिस्तु न समेता स्वामिनी जागरणसमयमपेक्षमाणा चिरं प्रतीक्षमाणा भवती मुन्निद्रयितुकामा इत आयत्यः स्मः'।

'किन्तु भवने नास्ति राजकुमारी' साशङ्कमहं प्रावोचम्।

एकः प्रवाहः प्रसृतः, क्षणेन भवनस्य कोणं कोणमवगाढम्। महाराजो निवेदितः। सकोट्टपालः नगरनियामको मन्त्रिणा सहैवागत्य व्यवतस्थिरे, परं कमला नाधिगता। देव, श्रीमति याते प्रत्यह शुष्यन्ती नेममाघात सोढुं शक्ष्यति, देवस्त्वरयतु"

"राज्ञ आरक्षानियुक्तैरन्ततः किं विनिर्णीतम्"। "देव, अन्ततो मन्त्रिणा नैशः प्रासादरक्षको देवलः समाहूतः, श्वयथुमन्त्रेत्रो रज्जुबद्धः शिथिलाङ्गो निष्प्रभमुखो घर्घरवता स्वरेण सर्वं नैशोदन्तं प्राबोधयत्। अग्रे च रात्रौ प्रेषितानां चराणां मुखा देवः शृणोतु :—

'देव, परह्यो रात्रौ पञ्चषा जना मरुत्तरारूढाश्वरैः साश्चर्यं वीक्षिताः, किन्तु देवस्योत्सवे समागमाशङ्कया न विशेषत आशङ्किताः। एको मरुत्तरो राजानुपदर्म्यं वीक्षितः, स एव च रात्रौ नदीमार्गमाह्डोऽवलोकितः। नद्यास्तटे नाविकनायकेन सूचितं यदपररात्रे कतिचन पाटच्चराः शवेन सार्द्धं जीवननौकास्वारूढा वनं विविशुः" इति।

चन्द्रस्वराणां योग्यतामफला विभाव्य तान् किमपि निर्दिश्य स्वयमेवाग्रेसरोऽभूत्।

* * *

"पिपासा बाधते शुद्धं जलं लब्धु शक्यते।" नवागन्तुकेन वृद्धः प्रावोचि।

"अवश्यम्, उपनदि बाहुल्यमस्य, क्षण विश्राम्य, धूलिधूसरणमनवरतभ्रमण, दीर्घो-निःश्वासस्तनुव्यक्ती वाक् च त्वां श्रान्त घोषयति। त्वादृशानां कोमलकलेवराणामेन निरसहायं भ्रमणं मनो भ्रमयति; अहमद्य भवन्त दुर्घटनाग्रस्तमिवानुभवामि।" —गोविन्द, सद्यो जलमानय"—मुख व्यावृत्य केवर्तक आह।

"नाविक, त्वमदः कार्यं कुर्वन्नेव वृद्धो भूतः, मन्ये बह्व्यो घटनास्त्वया दृष्टाः"

"महाशय, नदीतटं दुर्घटनानां स्थानम्। यदा पन्न मरुन्महावेगेन प्रवर्षणेन च प्रावर्द्धत नदी, गृहाणि गृहिण्यः पुनाश्च विलुप्ताः, भ्रमणव्यसनिनश्च ग्राहाणां कवलीभूताः।"

"दस्यवोऽपि नद्या लाभान्विता भवन्ति" ?

'अथ किम्"।

"एषु दिनेषु त्वया किमप्यस्थाने दृष्टम्"

'परह्यो निशीथात्परतो निःशब्दगमनलघुतरमरुत्तराद्धत्रय पुरुषा समेता पार्श्व एव तमालनीला सान्द्राम्रा स्थलयस्ति, निशीथे तत आगमनमाश्चर्यकरमासीत् अह जागरित एवास वृद्धभावान्निद्रा सम्यङ् नैति, यतश्च कनीयान् मृतोऽस्ति सा न क्वापि दरीलीना, सर्वा ... "

'स्थाने," ततस्तत, औत्सुक्याद्धचस्तर्ति नोऽयतोक्तम्।

'ते मां मुद्रापथकमातर[1] दिनसवोऽतिवेलमाम्रद्वीपु, किन्तु कश्चिप्रायौत्साहनुसाहाय्य नाकृषि" तमालधूममाकृष्य पुन प्रोवाच नाविक—इत पारमस्मिन् वं विचित्रभवनानि नरान् बध्नन्ति, जगत्त्यक्तानां लुण्टाकानामेवाय निलय। ये गतास्ते न प्रतिनिवृत्ता।"

"आम्, ते क गता"

"क गता" इति तु ज्ञातुमशक्यम्। ते मरुत्तरादेक शवमिव, वायुपूर्णां मसृणस्तरणसाधना जीवननावश्चोत्तार्य नद्यां निपत्याभिवन यान्तश्चक्षुषोरगोचरे सवृत्ता मरुत्तरश्च गतो यथागतम्।"

"शवो नार्या आसीन्नरस्य वा"

वस्त्रान्तरित आसीच्छव (किञ्चिद्विचार्य) शिञ्जितमिव श्रूयते स्म। मन्त्रीशव आसीत्।"

'त्व मा पार प्रापयिष्यसि ?'

'नहि देव, नैतत्स्थान धात्रा सज्जनाना कृते व्यरचि।'

"दुर्जना सज्जनान् पीडयन्ति, तदिद मे गमनमात्त्राणाय।"

"यद्येव तर्ह्यवश्यमेव सहैष्यामि। कि नाम भवत ?"

"चन्द्र"।

* * *

उपापगमेवासीत्पवनेनापि दुष्प्रवेश्य, विवस्वद्भक्तिभिरपि दुरवगाह्यहृदय, कलाना

[1] आतर स्तरपण्यम्

कल्याणप्रस्तरतल, विशालशाखशाखिसहस्रसङ्कुल, कुञ्जभवनं कौशिकानां गृहं गण्डकानां निलयं लूतायानां, सद्म सिंहानां वेश्म व्याघ्राणां निकेतनं करटिनां कान्तारम्।

अतिशयशीतलदर्शानां वनावनावभिनवानि पदचिह्नानि पर्यवेक्षितः शुष्यन्तौ गलत्कलिकामोष्ठतोः प्रसृतां पर्यटीं प्रसन्दमान चेतश्च नाग्रहठरसेनाश्वास्य श्रुतवान्दो वचः।

"आः दुष्ट", सर्वं यौवनं दुष्कर्मसु मन्दभाग्यो विगमय्य इत्यनुपहतोऽस्मि। मया शतशो निरपराधा निर्दयं हन्त हताः, आः बत्स, हन्त गतोऽस्तमयते। सत्यः पतिताः.. महात्मानोऽवमानिताः, तत्फलं मया लब्धम्। किं ब्रवै ..(धर्मरवता स्वरेण) हन्त, वयस्यं कमला ।"

तत्रैकस्मिन् पादपे कौशेयदामनिबद्धायां दोलायां समानवयोवर्णवासोभूषणाञ्चित सुन्दर्यः रसापाकृतपीयूष सरससरस मधुरमधुर तारतार गायन्ति —

रुम् भूम् रुम् भम् सलिलद ! वर्षसि । स्थायी ।
श्रावणमासो ह्रासो भूमे सान्द्रो वातो जगदभिरामम्
मारामृतमिव वर्षसि । (१)
विद्युदिय स्वर्णारुणवर्णा विस्फूर्जितबधिरीकृतकर्णा
आहत्याङ्कुशमशयति (२)
अभितश्छन्ना नीरदमाला कालिम्ना कलुषीकृतशाला
मम मानसमसितयति । (३)
विमलेयं शाटी मम तन्वाऽऽश्लिष्टाऽऽर्द्रा तादात्म्यमुपेता
अभितो मा सखि हसति । (४)
पिक्वाणी श्रवणान्तर्विष्टा विमथितमानसवर्द्धितकष्टा
रुषा द्रष्टुमिवेच्छति । (५)
मञ्जुलवञ्जुलसान्द्रनिकुञ्जे केकाविरुत सारसरसित
मन्मथमदिरा वर्षति । (६)

गानेनाधुना विस्मृतान्यव्यापार उन्मुखो मृगगणो मन्त्रमुग्ध इव पीतमद इव वशीकृत इव रज्ज्वाऽऽबध्याकृष्यमाण इव विवशस्तत्र व्यशोभिष्ट। साश्चर्यं सावधान श्चन्द्रस्ता वीक्ष्य यावदग्रे प्रचलितस्तावत्ता दोलादाम्नैव सान्द्रपादपेष्वारूढा सर्वात्मना लीना ।

चन्द्रो व्यचारयत् —नैव मानुषीषु कदापीदृक रूप प्रैक्षि । अद्य कल्पना रूपसरसा मप्सरसां साक्षा कृत्या प्रत्यक्षीकृता। किमाभिरपहृता भवेत्कमला ? किन्त्वासां रूपमीदृग नाख्याति । किं कुशेशयकिसलय करपत्र यते !! प्रकृतिस्थ पानीयमपि प्रज्वलयति। सुषमा - वाङ्माधुर्यम् निचित्रम्। अवश्यमेता एतत्प्रदेशस्याभिज्ञान्य । एतासां साहाय्येन कमलावश्य लब्धु शक्यते।"—विचारचयभञ्जक शिञ्जितमाकर्ण्यानुशिञ्जित लब्धाशोऽन्वसरत् ।

अदृष्टचराखटवीष्वनुमितमार्गो विभीर्भ्रमन् शारदमेघनिवहमिव सित भालमिव

भुवनस्य सान्द्रसुधानिर्बुद्धवेतमसृणमिति, यूपमिव प्राचीनयशोधनानां स्तूपमिव धर्मस्य वीक्ष्य प्रासादं तासामावास मन्यमानः प्रविविशुः प्रदक्षिणं कृत्वाप्येष्ट यजितारं वर्तुलमदो भवनं यत्र नास्ति द्वारस्य पक्षद्वारस्य वा चिह्नमपि।

हृदयाहितस्मल विष्णुमिव सौधं परिक्रमतश्चन्द्रस्याशासन्तान तमःस्तोमे विलाय त्विषापतिरदृश्यतामधात्। स्वभावतस्तमखिन्यां वनभूमौ सूर्यस्यास्तमयनेन विश्वव्याप्तं तमः। वृक्षप्राचुर्यात्तमसोऽपि प्राचुर्ये धवलभवनधावल्यमप्यासीदकिञ्चित्करम्।

शर्वर्या पादपे सुप्तोऽलब्धनिद्रानन्दः प्रत्यूष एवोत्थाय भवनभावनायां लग्नः। अकस्मात् गोधामेकामारोहणसाधनामुपलभ्य कौपीनं दधत् शिरोवस्त्रेण धौतवस्त्रमायोज्य गोधाश्च सयोज्योदक्षिपत्।

मसारिलष्टभित्तौ तस्याश्चन्द्रोऽप्यनायासेनोपर्याजगाम। किन्तु दैवे प्रतिकूले सर्वं प्रतिकूलम्, यतो बहुभारायासिता बालगोधा प्राणानुदसृष्ट।

भवनस्य नीलशिलारचितः क्रीडाङ्गणमिव कालिकायाः महिषगोष्ठमिव यमस्य विलासवेश्मेव मृत्योः विशाल उपरितनो भागः। एकतो भित्तौ सुदृढं लोहनिर्मितं द्वारम्। निपुणनिरीक्षणेन निरचायि यत्सोऽय द्वारे काष्ठभागो द्विहस्तपरिमितो नीलरागेण रक्तो दुर्लक्ष्ययोगो लोहफलके प्रतिष्ठापित आसीत्।

क्षणं विचार्य शिथिलानि वासांसि सम्यगावध्य करवालेनैव तत्ततो निरीक्ष्य कृपाणाग्रभागेन कपाटसन्धिं विसर्प्य काष्ठफलकमनुन्नदत्।

नीचैरवतरणाय सोपानानि प्रेक्ष्यन्ते स्म। निष्कोशकृपाणपाणिः साशङ्कः थरथरायितध्वनिनाऽऽसन्नचतुस्त्रिंशानि सोपानान्यवतीर्य मुदितप्रदेशखिन्नः कस्यापि धनिन औदार्यं शिल्पिनश्चातुर्यं च साश्चर्यं विमृशन्नद्राक्षीत् —

अन्तः श्वेतं वर्तुलं बृहद् भवनमदः। अभितो लम्बितलविष्कम्भका भित्तिमञ्जूषा चैत्यलिङ्गा भित्तिरूपाः प्रतिभान्ति सन्ति।

कुट्टिमं केनापि धातुपत्रेणाच्छादितं, क्लिष्टलिप्तमिव शोधनाभावाच्चलतां पादयोर्लिम्पति। एकतः पाषाणाभ्यन्तरराते, प्रलम्बो लघीयान् सुरङ्गस्तत एवालीयसी तेजोरेखा प्रतीयतेऽस्ति।

रूमज्ञप्रीतिवीतभीतिरयं तमसः प्राज्यराज्ये सुरङ्गे सत्वरसत्वरं प्रविश्य तमोवरान्

क्रिन्ने पूतिगन्धी पथि पतित स्व म्रियमाणमिवामन्यत। दुरत्ययो दुर्दैवदुर्विपाकः। कामाग्निदवनकुण्डे सर्वस्व जुह्वति युवान।

निर्वपतो जीवनदीपस्य स्वल्पीयसी प्रभा तदक्ष्णोरग्रतोऽनर्त्तीत्। जीवनमरणसन्धौ स सकृत् स्वकीय सुखसमुदयमस्मरत्।

"पाटच्चराणा विनाशाय कृतया प्रतिज्ञया सहैव कमलापि नष्टा, कीदृशोऽहं दुरदृष्टः। हन्त, पालयित्री इवीं सर्वापदा मान्या जननी, वात्सल्यविगलदश्रुस्नपितश्मश्रुः पूज्य पिता क च शाकिवर। यानसूचयित्वा समायातोऽस्मि कृतघ्न। क्वागत्य मृतोऽस्मि। मत्प्रतिज्ञायामाहितविश्वासो रामपालो व्यर्थ, व्यर्थमेव च प्रियप्रजानामपेक्षणम्। व्यर्थान्येवाशाभवनानि विरचय्य प्रजा प्रलोभितवानस्मि। हन्त प्रिये मन्दभाग्य।'

*　　*　　*

प्रात काल। समुदीयमानश्रीर्भगवान् विभाकर। पर्वतशिखरे लालित्य वर्त्तते। पवतावृत प्राकृतिकेऽयं प्रदेश उपवनानि परिभावयति। तरुवारपूर्णे परमरम्येऽस्मिन्प्रदेशे फलपादपा फलभरेण मनुजमनागमनागमन सूचयन्ति, यत्र परिपिच्छन्त्येका तन्वी सरित् प्रवहति। श्रमितोऽनारोह्या पार्वती भित्ति, तत सेतुण्डस्य घना भित्ति। प्रदेशमध्य कृत्रिममिवास्ते, परमधुनाऽपरिष्कृतम्। पथिषु कुण्डिकासु वन्यविटपा उद्गता, स्थले स्थले पतितपर्णाना कूट, वेदिकासु बीजानि पक्षिपुरीषसङ्करश्चावलोक्यते। जलप्रणाल्यो धूलिपूर्णा अविदिता इवासन्। मसृणपाषाणा उद्यानविश्रामवेदिका असम्पूर्णाद्रा काठोय भजन्ते। कृत्रिमनिर्झरकुण्डिकासु मरकतपुत्रिका अङ्गभङ्गतां पातं भ्रष्टतावोपगता।

उद्यानस्यैकत एक पुराणभवन वृत्त्या दावेन वन्यै पशुभि पक्षिभिर्विकृत भ्रंशितदशमासीत्। क्वचिद् भग्न छन्न क्वचिद्दग्धे कवाटे, खण्डिता भग्ना भित्तिर्वृश्चिकसर्पपूर्णा। चन्द्र प्रकृतिदेव्या पुष्पाभरणे पक्षिसङ्गीतै कीचकवनध्वनिभिर्निर्झराणामथातनादेन सरससमीरसमीरणेन कविकल्पनाऽकल्पनीयमानन्द विभावयन् हरितहरितेषु सान्द्रसान्द्रेषु पादपकुञ्जेषु प्रसारमानदृशा मधुरमधुर कूजतां तर्जयतामिव प्रतिपक्षिणां पक्षिणां विरावं शृण्वन् शून्यहृदय शून्यनिकुञ्जषु विविक्तकोणेषु कमपि गवेषयन् नद्यास्तटेऽनोक-

हाना छायायां शिलायां विश्रम्य वासांस्यवतार्य प्रक्षाल्य शाखिशाखासु शोषणार्थमायोज्य कृतकौपीनो नद्यां चिरं स्नात्वा धौतं वासः परिधाय छायाशीतले शिलापट्टे कृतसन्ध्य उपस्थाय कृतनाधिवशिवार्चनस्तरङ्गितहृदयो नदीतटप्रान्ते भ्रमाणः मधुराणि सरसानि भृशमास्वाद्य-फलानि मनोहरदृश्यहृष्टो लब्धस्वास्थ्यः पक्षिणां प्रियाभिः समं चञ्चुत्रोटफलखण्डभक्ष महोत्सवं पश्यन्नवर्त्तत । रम्यस्थाननिरीक्षणेन तस्य रसिकवरं चेतः पाठप्रत्यावर्त्तनेनेव स्फूर्तिं शान्तिञ्चाप, परमज्ञातमार्गैषा वाणी तस्य शान्तिमभनक्:—

"मया बहुशः प्रेम्णा साम्नाऽऽगृहीता पर साऽस्मन्निन्दनादन्यत्र किमपि न ब्रूते, अत्ति, च । कथयति दुःस्पृष्टं न भक्षयिष्यामि अपि मरिष्यामि ।"

म्रियतां क्षुद्रभाषिणी सा का हानिः ।"

मैतद् ब्रूहि, महत् कष्टं विपद्यमानं सन्देहसिन्धौ निपात्य यामानीतवांस्तस्यै नैतादृग्-वचः । तथाऽऽचर यथा साऽस्मासु प्रसीदेत् । हठिनी किं करिष्यति गलभूषणातिरिच्यम् । फलानि प्रैषय ।"—

"अस्तु तथा करिष्ये ।"

चन्द्रो व्यग्रोऽभूत्, दन्ता अधरमकाम्पयन्, बाहू अस्फुरताम् । भ्रुकुटिश्चरासनायत । सामर्षे लोचने प्रावृषेण्यजलदाविवाचरताम् । स क्रोधमदिरां निपीय विवेकविकलो-भ्रान्तो मथितहृदयः क्षुद्रोरग इव श्वसन्नुत्थायानुमाय यत्सार्द्रतभित्ते रथस्तादनुनदी-प्रवाहं वाणी सनैति, अविदितान्यमार्गो लिङ्गाटमावध्य सघनध्यानेन नद्यां पतितो लीनश्चान्तः ।

* * *

विशालोऽयं प्रदेशः । ऊर्ध्वं दूर्वाया प्राज्यत्वेन नीलकण्ठकण्ठसन्निभकौशेय-वाससाऽऽच्छादितेव भूर्विभाति । क्वचित्क्वचित्पल्वा मालतीमौलिश्रीगणिकाबकुलादयः प्रतिष्ठां वर्द्धयन्तः पुष्पविटपाः महान्तो महीरुहाश्च राजन्ते । प्रिया प्रणयपरिप्लुतश्चन्द्रो वासांसि संशोष्य चिकीर्षितव्यं विमृश्य सखलया क्लमया स्वागतीकिरनाव इव दृष्टया प्रतर्कमीक्षमाणो विदूरे श्वेताष्टकोणं भवनमेकं प्राप्य मध्यद्वारे सितशिलाफलकेऽ-भिवाधरैः, "न प्रवेष्टव्यमन्तः"—इतिलिखितमैक्षिष्ट । बहुषु द्वारेषु भवनस्यास्या-न्ताराद्वेष्वेकमेव द्वारं बहिः शृङ्खलया बद्धमासीत् ।

चन्द्रस्तु ठेलनमध्यात्, तदन्तः प्रविश्य ददर्श:—सर्वाणि द्वाराणि नीलकौशेय

जवनिकया समाच्छन्नानि सन्ति। अनल्पा भित्तिमञ्जूषा वस्तुभृता भित्तिषु लग्नास्सन्ति। अभित शोभना महार्हा आसन्य[१], मध्ये च वर्त्तुलमतुल महदेक स्फाटिक पीठमास्ते[२]। यत्र पुस्तकानि रमणीयै काचखण्डै र्नेमाक्रान्तानि पत्रादीनि च राजन्ते। एकश्चर्मनद्ध पत्रपुस्तकमपि तत्रैवास्ते यस्मिन्प्रेषितान्यागतानि च पत्राणि सन्ति। तेषामेकतम पत्र दृष्टिपथमागत नि साय पपाठ —

विजयतां श्रीमान् दीप्यत्प्रतापसिंह कान्तिसिंह,

श्रीमन् भवदाशी सर्वद्धितत्तनुग्रहमाज्ञाकारी दास कमलाकान्त कमलाभवन गत्वा भूपालनौ मूर्च्छौषधि निक्षिप्य मूर्च्छा निश्चिल्यानीय च प्रच्छन्नद्वारस्य मायाभवनस्य द्वादशसख्ये कारागारे स्थापितवानस्मि। सा चाधुना नष्टमूर्च्छास्ति। अस्मद्बलेऽपि कोऽपि सन्देहो भासतेऽत श्व प्रातरेव भवद्भि समेतव्यम्। शेष कुशलम्।

श्रैमत्क —

प्रबल।

पत्र प्रान्ते तिर्यगक्षरै र्लिखितमासीत्—

प्रिय प्रबल, लब्धावकाशश्चे त् श्वोऽवश्यमायास्यामि— कान्तिसिंह।

इति पठन एवास्य क्रोधानलमवर्षतामक्षिणी रक्तभ्रात इवाभवद्विग्रहो रुषा। परन्तु पुन पर्यालोच्यामर्षमवरुध्य पत्रान्तरमपठत्—

महोदय,

मम पत्रान तरमपि देवदर्शन न भूतम्, महत खेदस्यावसर। किं नास्त्येतत्कृत्यम्। अद्य सूर्यसिंहो न जाने क गत कस्मिँश्च कार्ये लग्न। विचार्य खल्वेष विषय। सम्प्रति सपद्येवाग तव्यम्।

श्रैमत्क —

प्रबल

अपरपार्श्वे लिखितमासीत्—

सायमवश्यमागमिष्यामि, पार्श्वकानने मिल त्वम्। कान्तिसिंह।

तृतीयश्च पत्र मुद्रामुदित प्रतिज्ञापत्रमासीत्

१ कुर्सी। २ गोलमेज।

श्रीः

प्रतिज्ञापत्रम्

सूर्यं साक्षित्वे निधाय विश्वेश्वरं भगवन्तञ्च प्रणम्य प्रतिजानीवहे—

आवां सदैव श्रीकान्तिसिंहास्याज्ञां पालयिष्यावः श्रीमत्प्रतिकूलांश्च समूलमुन्मूलयिष्यावः। श्रीमत्प्रतिकूलः कमलानिस्सारणविहितप्रयत्नः केवलमासीत्सूर्यसिंहः। स चेतः पलायितोऽपि पार्श्वकाननेऽकस्माल्लब्धो हतः। उचित एवैष न्यायो विश्वासघातिनाम्। अन्योऽपि यद्येवं व्यवहरिष्यदवश्यमीदृशीं गतिं प्राप्स्यत्।

वीरवर—प्रबलसिंहौ विषयममुं प्रमाणीकुरुतः।	}	श्रीप्रचण्डचतुरचारणः कान्तिसिंहः श्वेतकन्दरा

अधुना स कमलां प्राप्तुं महोत्कोऽभूत्। विचाराधारा इव चेतसि समकाम्पन्। एका विलक्षणाकारा तालिका तत्रासीत्। तया भित्तिमञ्जूषामेकामुद्घाट्य दृष्टं यच्छतशः कीलकेषु लिखिताक्षरास्तालिका विविधाकारा राजन्ते। तासामेकामादाय निर्दिष्टभवनमुद्घाट्याद्राक्षीद् यत् कोषोऽयम्। अयोमञ्जूषा[1] उन्नवृहत्तालकाः स्वस्यां कनकराशिं ख्यापयन्ति। क्वचित्कनकसूत्रग्रथितानि पर्यङ्केषु राजन्ते गजार्हाणि वस्त्राणि। क्वचन काचमञ्जूषासु पट्टराशीसमुचितानि मणिमाणिक्यखचितानि प्रभाभाञ्जि महार्हाणि नवानीवालप्रमलानि विभूषणानि च। नागदन्तेषु सौन्दर्यसारा हाराः जाम्बूनदमयं गलसूत्रमवलम्बते। अयोमञ्जूषायां धृतेऽङ्गुरीयके चन्द्रचक्षुरपतत्। चन्द्रः सद्य एव तत् पर्यचिनोत् "एतदङ्गुरीयकं तु मित्राय विश्वशेखराय दत्तवान्। तदत्र कथम्? किं विश्वशेखरोऽपि ममानुपदं समायात एषां दुष्टानां हस्तं गतः।

सर्वमेतत्तादृगवस्थं विहाय द्वादशसंख्याकां तालिकामादाय परं द्वारमुद्घाट्य यावत्प्रविवक्षति, तावदेव पर्यपूर्यत चास्य नासा महता पूतिगन्धिना। परमयं नासाग्रेऽवरणमायोज्यान्तः प्रविश्य विज्ञातवान् यत्कारागारमदः। यत्र क्वचित् पाणिपादपतिताय:शृङ्खला अचला अपि सचष्टा आर्द्रतरक्लेवराः अस्थिमात्रावशिष्टाः प्रतीयन्ते कथामात्रावशिष्टाः। इतरतोऽपच्छुष्काः स्वदसपूरितकटाहा, वल्मीषु बद्धाः,

[1] तिजोरी।

भापयन्ते नरकङ्काला। एकस्यां शिलावेदिकायां लौहकीलकपरिवृतायामेक सद्यो मृत पञ्चजन प्रतीयते, सूक्ष्मया दृष्ट्या निरणायि यत्सोऽयं शवो य पार्श्वकानने दृष्ट। क्वचन जीर्णं झर्झरास्थि कङ्कालस्य प्राचीनत्व प्रथयति। क्वचनाधोनिम्न कश्चिद् भग्न कपालास्थि दण्डाघातेन मृत्यु सूचयति। कश्चिद्दत्तलभिन्न शङ्खास्थि भिन्दिपालगुलिकया मृत्यु प्रमापयति। क्वचन विशृङ्खलकशेरुक कङ्काल पाशमृत्युतां विज्ञापयति। इतरे वक्षोऽस्थिन प्रविष्टच्छुरिका दार्ढ्यादनपगतच्छुरिका सद्यो मारिता इवावगम्यन्ते। आयुर्वेदीयशवच्छेदविभाग इवास्मिन्नाश्चर्यचकित शोकाशङ्की भयविस्फारिताक्ष कमपि गवेषयन्नयमधुना मधुनाऽप्यहार्ये दुर्गन्धनिधानेऽनाचार प्रधाने, सद्वित्तिरोधने प्रकाण्डहत्याकाण्डभाण्डे प्रचण्डे भवनखण्डे विभीषमन पार्श्वभित्तिवातायनादाकर्णितवान् 'हा! प्रिय! प्रिये, "हा त्व न वेत्सि कथमहमस्मि' इति। करुणाकूपारपूरपरिप्लुतेऽस्मिन् वचसि काप्यद्भुतेव शक्तिरासी यतश्चन्द्रस्त्यक्तान्यविषयो द्वारानभिज्ञ उपकुड्य पाषाणानायोज्योत्थापितपार्ष्णि प्रैक्षिष्ट यत्—कूपनिम्ने कारागारे एकस्मिन् कृष्णकम्बले, रसालकपोलशालिनी कमला मलाचितवसना, शुष्कगण्डमण्डला, म्लानमुखचन्द्रा, मृतकल्पेव शिथिला, हतप्रभेव-दीपदीप्ति, शुष्यज्जलेव महानदी, नष्टद्रुमेव वाटिका, मृतनृपेव पुरी भयङ्करा, शिखेव कृपीटयोनेर्धूमाचिता, आज्ञेव सम्राजो धूर्तैरवमानिता, वीतसुषमाऽसमा वामानां, मानाम्भोधेर्वेला लौहद्वारे कारागारे भित्तिमाश्रित्योपविष्टास्ति। अधुनापि तस्या मुख—निष्प्रभमपि सुन्दरमासीत्, सत्य "रत्न पङ्के न लुप्यते"। तस्या सम्मुख चैक प्रचण्डचण्ड पिचिण्डिलो गृहीतासिधेनुक स्थितोऽस्ति। कमला क्रोधान्धा सरोष वक्त मारभत—

आ पाप! कि पीनपुच्छेन छुरिकां दर्शयसि। अरे न वेत्सि, यस्य भारतस्य परमपूतनामधेया सीतादमयन्तीद्रौपद्य पुत्र्य आसन्,—तस्य भारतस्य—यस्मिन्नङ्गना जीवन्त्य एव स्वामिनाश्चितासु भस्मीभूता भगवतो भूतभावनस्याङ्गरागतां सम्पद्यन्ते,—तस्याहमप्येका पुत्र्यस्मि। तासा चरित्र, साहस, कर्म, तदेव भारतीय रुधिर मदीयशिराजालेषु प्रवहमास्ते। अमृत्युपातिनत्यधर्मो कर्म मादृशीनां प्राणार्पणम्।

मुधैव मुहुर्मुहुरसि दीपयसि, धारां निशातयसि, यदि युवासि, वीरोऽसि

तर्हि सद्यैव प्राणानहर। पर दुष्ट!! निकृष्ट! त्वत्सम्मुखे प्राणांस्त्यक्तु नास्मि सज्जा। मह्यं देहि इमां छुरिकां, मया स्वाभीष्टं साधयामि। आः विस्मरामि, नहि तु नहि तु त्वां किं कारयामीति विचारैः परम्"—

इति कथयन्ती किञ्चिच्छिथिला जाता, परन्तु पुनः प्रोवाच—

कामोन्मत्त! पापान्ध! पश्य! अक्षिणी उन्मुद्रय, विचारय! क्षणिकजीवन लालसातृप्त्यै कीदृशं महान्तमपराधं शिरसा वोढुमिच्छसि।

कुलाङ्गार! न वेत्सि भारतरमणीनां चेतः स्वर्गसुन्दरं, सज्जनवच इव मृदुल, प्रजापालस्य इवोज्ज्वलं, तपोधनविचारवत् पवित्र शिशुस्वभाववत् सरल, कविकल्पनातोऽपि प्रबल भवति। यत्र लोभलोलुपतायाः, भयभावनायाः, विलासवासनायाः, छलच्छायाया अणुरपि नास्ति।

नरपिशाच!

मानससुधाभक्षणस्पृहा हंसी किमवस्करं किरति! बकं विलोकयति, मेघमत्तमयूरैः सह नृत्यन्ती मयूरी किं गर्हणीयं श्मशानगृध्रं स्वप्नेऽपि गणयते! मूर्ख! सुधैव कुबेरादपि, स्वाती पतिता बिन्दुरेव चातकतृप्त्यै अलं, सा महान्तं रत्नाकरमपि कुटिलेन कोणेनाक्ष्णा नेक्षते।

इतोऽधिकं चन्द्रः श्रोतुं नाशकत्। धैर्यशिला, विषादगाधे पयोनिधौ निमज्ज-मग्ना। प्रत्यङ्कुरिणा क्रमक्षयेन धैर्यद्रुमो व्यनशत्। स कटकटायितदशनः प्रलुप्त प्रतोदः "प्रिये, मा भैषीः, आः कुसुमकोमले! साम्प्रतं स्वच्छन्दमनसि किं ते? असाम्प्रतम्। धिक् रे दुष्ट! क्व ते स्थानं मदसिद्धस्त्वद्वृत्तेः। प्रिये! आगतस्ते प्रियः—इति व्याहृत्य भित्तेः पातो भविष्यति द्वारमित्यालोच्योदकूर्दत। कमला स्वप्नलोकवार्तामिव श्रुत्वोत्कर्णाऽभूत्, पर निष्फलम्, ततो भित्त्यारोहणसमकालमेव, उपरि स्फालेहदभ्रपातान्मूर्च्छितश्चन्द्रः। आशायाः परिपूर्णां दशां नैरलिलत अनपत्य चूर्णिताशा दलं पससर्प।

* * *

विचारेऽद्य प्रसादः। परितो दलेषु स्तम्भेषु मनोहरं स्थानम्। ईषद् रे मल्लानां स्थाना वाजिनामावासाय स्थानानि प्रेक्ष्यन्ते। परितो हरितो¹ हरितवन्, ...

१ हरितो दिशः।

परिमलेन प्रान्त प्रीणत्, फुल्लद्विविधसुम, लग्नविपुलफलमवकोकिल, वापीविप्रुद्व्सन-पीवरपवनपरिलसितमुपवन राजते। यत्र मधुरमधुमध्या मालतीलताया मकरन्द मत्ता मधुपा मार्यन्ति। यत्रोपवनचतुष्पथेषु स्फटिककुण्डिकासु मारकत पाचालिकासु लघुलघून् विन्दून् निपातयन् नितरामाभाति कृत्रिमनिर्झर। यथोचितमिष्टकाभिविरचिता सरणिर्मालाकारस्य कृतित्व, स्वामिनो विलासित्व ख्यापयति। प्रासादो हि रक्तपाषाण विहित सुबहूच्छ्रितो रमणीयश्चास्ते। मसृणश्वेतशिलाभीरचितानि, आसन्नविंशानि सोपानानि, करटिरदनशकलशबलिता द्वारशाखा, दृढ राजतपत्रच्छन्न कवाटयुगल, यत्र पत्रचित्रा वल्ल्यो विटपाश्च शिल्पिन शिल्पकर्मणि नैपुण्य द्योतयन्ति।

सभाभवने वार्त्तैव श्रूयते। पञ्चसु द्वारेषु केवल मध्यद्वारमेवानावृतम्। भित्तिमञ्जूषा, कुड्यमुकुरा, छत्रलग्ना [1]काचवल्ल्यो भाण्डानि[2] च परा छविमेधयन्ते भवनस्यामुष्य।

भवनेऽस्मिंस्तिस्र स्त्रिय आसन्नविंशतिवयस, गौरवर्णा, सद्वस्त्रभूषणा पीठ्यासनेषु आलपन्ति। तासा या महासुन्दरी, सुषमासनिर्जनि सौन्दर्यस्य, नायिकेवाभाति, या वय नामज्ञान यावत् 'सुन्दरी' पदेन बोधयिष्याम, मध्ये समुपविष्टास्ति।

किमिव निरूपयामोऽस्या सौन्दर्यम्। अभिनवलावण्यलतिका, स्वर्गीयसौकुमार्या चन्दनगौरा, सन्ध्येव सुषमा, प्रफुल्ललतेव ललिता, विमलसरलतरलकमललोचना, मुकुरोज्ज्वला, मञ्जुभाषिणी, कामकान्ता, पृथ्वीभूतेव ज्योत्स्ना, प्रेमप्रतिमा, सौन्दर्यशिला, पाटलतटिनी प्रज्ञाप्रभापत्तन, यस्या मानससरकमलकलिकाकमनीययो नन्दनकानन-पारिजातपुष्पस्तबकयोरिवोन्नतयो स्तनयो पद्मरागमाला, श्वेता कौशेयी शाटी कटितटे, कञ्चुकवार्या नासायां श्रोत्रे च हीरक केलि रचयति, सौवर्णे भोजनभाजने भोजन परिवेषयन्ती गृहेश्वरी आह —

'बाले! इदानीमत्र समये समेता, सोऽन्यथा क्षणेनामरिष्यत्।

चार०—अम्। मूर्च्छितस्त्वासीदेव। अहमेकाग्रचित्तेन पुष्पाण्यवचिन्वत्यासम्। अकस्मान्मया शब्द श्रुत्वा दृष्ट यत् कश्चन भित्तिमाश्रित्य मूर्च्छित। तत शीघ्रमेव मालिनो

1 विल्लौरियाँ। 2 हाँडियाँ।

माहूय तत्पादमाकृष्योद्यानस्य मध्यभवने पर्यङ्के शाययित्वा वकुलयष्टिकामायोज्य धस्मयेऽजेन तं परिवीय सान्द्रमासाद्य तत्रैव अवरम् ।

सुन्दरी०—धौतवसनं कदा निहितम् ?

चपला०—तस्मिन् वाप्यां प्रविष्टे एकस्यां शिलावेदिकायामङ्गाच्छः शाटी च धृते। तां निर्निमितनेत्र आबध्य स्मयमानः सन्ध्यां विदधाति। मन्मुखं किमीक्षसे ? शीघ्रं परिवेषय। तदागमनात्पूर्वमेवाम त्रमेतद् भवने स्थापयितुमिच्छामि। आम्ररस परिवेषय, दधितयं सयात्र च परिवेषय। अहं स्वर्णभाजनान्यानयामि (आनीय) एषु पृथक् पृथक् शाकानि परिवेषय।

सुन्दरी०—किं परिवेषयामि, विवशाऽस्मि ।

चपला०—आः मुग्धे ! बहुशः शिक्षितापि न ज्ञातवत्यसि ।

सुन्दरी—त्वं मुधैव क्षत्रियाणामेकान्तोन्त स्याऽऽडम्बरं रचयसि, परमद्य न रामसदृशा राजन्याः। अद्य क्षत्रियाणामुपद्रवा विवाहाः सम्पद्यन्ते। त्वं व्यर्थमेवारण्ये रोदिषि, अहं कथयामि यत् पार्श्वकानने दर्शनानन्तरम नीद्यास्मि मनसः।

चपला०—आम्, कामिनि ! (सत्वरम्) देहि पानं यामि ।

चपला सद्य एव निर्भर्त्सिता समेता ।

सु०—कासीत् !

चप०—नाम न गृह्णासि किम् ? (विहस्य) वाप्या आयन्नासीत्।

सु०—अस्तु, ...

चपला—अये ! कुमुदिनि ? कथ न वदसि ? अयि ! मौनीभूता किम् ?

कुमुदिनी—कः शृणोति मद्वाक्यम्। किं स्वविचारं पथि पथिकेभ्यो वितरामि ।

परिमलेन प्रान्तं प्रीणत्, फुल्लद्विविधसुमं, लम्बविपुलस्तम्बकोष्ठिं, वापीविसृमरपवनपोवरपरिलसितमुपवन राजते। यत्र मधुरमधुमत्यां मालतीलतायां मकरन्दमत्ता मधुपा मार्यन्ति। यत्रोपवनचतुष्पथेषु स्फटिककुण्डिकासु मारुत-पर्यालिकसु लघुलघून् बिन्दून् निपतयन् नितरामाभाति कृत्रिमनिर्झरः। यथोचितमिष्टकाभिर्विरचिता सरणिर्मालाकारस्य कृतित्वं, स्वामिनो विलासित्वं ख्यापयति। प्रासादो हि रक्तपाषाणविहित सुमहच्छ्रितो रमणीयश्चास्ते। मसृणश्वेतशिलाभीरचितानि, आसन्नविंशतिसोपानानि, स्फटिकदनशकलशबलिता द्वारशाखा, दृढं राजतपत्रच्छन्नं कवाटयुगलं, यत्र पत्रचित्रा वल्ल्यो विटपाश्च शिल्पिनः शिल्पकर्मणि नैपुण्यं द्योतयन्ति।

सभाभवने वार्तैव श्रूयते। पञ्चसु द्वारेषु केवलं मध्यद्वारमेवानावृतम्। भित्तिमञ्जूषा, कुञ्चमुकुरा, छत्रलम्बाः 'काचवल्ल्यौ'[1] भाण्डानि'[2] च पर्याप्तं विभूषयन्ते भवनस्यामुष्य।

भवनेऽस्मिंस्तिस्रः स्त्रियः आसन्नविंशतिवयस्का, गौरवर्णाः, सद्वस्त्रभूषणाः पौत्राङ्कय आलपन्ति। तासां या महासुन्दरी, सुषमासनिर्जनिः सौन्दर्यस्य नायिकेवाभाति, यां वयं नामज्ञान यावत् 'सुन्दरी' पदेन बोधयिष्याम, मध्ये समुपविष्टास्ति।

किमिव निरूपयामोऽस्या. सौन्दर्यम्। अभिनवलावण्यलतिका, स्वर्गीयसौकुमार्या चन्दनगौरा, सजीवेव सुषमा, प्रफुल्लेव ललिता, विमलसरलतरलकमललोचना, सुरुरोज्वला, मञ्जुभाषिणी, कामकान्ता, पुञ्जीभूतेव ज्योत्स्ना, प्रेमप्रतिमा, सौन्दर्यशिला, पाटवतटिनी प्रज्ञाप्रभापत्तन, यस्या. मानससर कमलकलिकाकमनीययोः नन्दनकानन-पारिजातपुष्पस्तवकयोरिवोन्नतयोः स्तनयोः पद्मरागमाला, श्वेता कौशेयी शाटी कटितटे, कम्बुग्रीवायां नासाया श्रोत्रे च हीरक केलिं रचयति, सौवर्णे भोजनभाजने भोजनं परिवेषयन्ती गृहीदेवी आह.—

"चपले! दैवात्त्व समये रामेता, सोऽन्यथा क्षणेनामरिष्यत्।

चपला०—आम्। मूर्च्छितस्त्वासीदेव। अहमेकाग्रचित्तेन पुष्पाण्यवचिन्वत्यासम्। अकस्मान्मया शब्द श्रुत्वा दृष्ट यत् कश्चन भित्तिमारुह्य मूर्च्छित। ततः शीघ्रमेव मालिनी

---

१ विल्लोरियां। २ हाँडियां।

गाहन् तत्पादमाकृष्योद्यानस्य मध्यभवने पर्यङ्के शायचित्वा वकुलयष्टिकामायोज्य दक्षिणेऽनेन तं परिवीय सान्द्रममलाच्य तच्चेष्टा अपश्यम् ।

सुन्दरी०—धौतवसनं कदा निहितम् ?

चपला०—तस्मिन् वाप्यां प्रविष्टे एकस्यां शिलावेदिकायामङ्गाच्छः शाटी च धृते। तां विस्मितनेत्र आनध्य स्मयमानः सन्ध्यां विदधाति। मन्मुखं किमीक्षसे ? पात्रं परिवेषय। तदागमनात्पूर्वमेवाम त्वमेतद् भवने स्थापयितुमिच्छामि। आम्ररस नवनीत, दधिदयं सशर्करञ्च परिवेषय। अहं स्वर्णभाजनान्यानयामि (आनीय) एषु पृथक् पृथक् शाकानि परिवेषय।

सुन्दरी०—किं परिवेषयामि, विवशाऽस्मि ।

चपला०—आः मुग्धे ! बहुशः शिक्षितापि न ज्ञातवत्यसि।

सुन्दरी—त्वं मुधैव क्षत्रियाणामेकपत्नीव्रतस्याऽऽडम्बरं रचयसि, परमद्य न रामसदृशा राजन्याः। अद्य क्षत्रियाणामुद्वाहा विवाहाः सम्पद्यन्ते। त्वं व्यर्थमेवारण्ये रोदिषि, अहं कथयामि यत् पार्श्वकानने दर्शनानन्तरम नीताऽस्मि मनसः ।

चपला०—आम्, कामिनि ! (सव्यङ्ग्यम्) देहि पान यानि ।

चपला सद्य एव निर्भाजना समेता ।

सु०—कासीत् ।

चप०—नाम न गृह्णासि किम् ? (विहस्य) वाप्या आयन्नासीत् ।

सु०—अस्तु, ...

चपला—अये ! कुमुदिनि ? कथं न वदसि ? अयि ! मौनीभूता किम् ?

कुमुदिनी—कः शृणोति मद्वाक्यम्। किं सविचारं पथि पथिकेभ्यो विरमामि।

चपला—(सक्रोधेव) विभ्रमं विचारयसि, किमपि कथयिष्यसि वा ? सरोजिनि, श्रावय कुमुदिनीकौतुकम् ?

कुमुदिनी—अस्तु, शृणु कथयामि, परमेतन्न कथयिष्यामि यत्कथं ज्ञातवत्यस्मि। तन्मन्त्रिपुत्रेण क्वचित्सिद्धेन विवाहार्थमानीताऽस्ति माननीया भामिनी चन्द्रमुखी कमला। तामन्वेषयन् राजकुमारो नाटमिताप्तो राजोपदर्शितपथिकचन्द्रोऽपि समेतः। यथ

पर्यङ्काङ्गने दोलास्थामपि त्वामवलोकयत्। चन्द्रनयनचन्द्रिका च प्रच्छन्नद्वारस्य मद-भवनस्य द्वारशय्याच्छायायां निगलिता

सरो०—(साश्चर्य सदर्पम्) कदा ! क वा कुमुदिनि ?

कुमुदिनी—अनीतयास्तु पक्षो व्यतीतो भवत् (किञ्चित्स्थित्वा) सरोजिनि ? त्वमन्ते कारातो निःसार्य चन्द्रस्य तस्याः पुरः प्रेम्णा वचनवत्यामदः प्रस्तुता, मन्ये कारामोचनप्रसन्ना, कृष्णपक्षनिष्पन्ती स्वपतिना विवाहमनुमोदयेत्, परन्तु मा न स कान्तिसिद्धो ग्रस्तमदो विजानीयादन्यथा सोऽस्मास्वपि प्रदुष्टः निष्ठुरो वैरायिष्यते।

सरोजि०—कुमुद ? प्रिये ! कथं ज्ञातवत्यसि ? सत्यं कथय ?

कुमुदिनी—(विहस्य) योगिन्यस्मि, योगप्रभावाज्ज्ञातवती।

चपला—नैव कथयसि यद्योगिन्यस्मि प्रवञ्चय। (उभे हसतः)

* * *

भगिनि ! कमले ! स्तोकं दाडिमीरसं पिब, पक्षो व्यतीतः, नाधुना तवाङ्गेषु दार्ढ्यम्। पीता कपोलपाली गर्तगते गल्लके निष्प्रभे नेत्रे मम सेवां कदर्थयन्ति। कथय कापि त्रुटिरवहेला यदस्ति सम्पादयामि कमपि सुचिकित्सकमाह्वयामि। त्वमेवैतस्य गृहस्य स्वामिनी, वयमाज्ञावाहिन्यः आज्ञापय।

कमला—सरोजिनि, किं वक्षि। अहं स्वस्था सन्तुष्टा चास्मि। त्वत्तः कदापि न भविष्याम्यनृणा।

कुमु०—(शनैः) भविष्यसि।

कमला—भगिनि ! नहि नहि मातः ! देवि ! (सरोजिनी हस्ताभ्यां कमलाया मुखमाच्छादयति)

सरोजिनी—प्रिये ! कमले ! त्वयाहं भगिनीनिर्विशेषं दासीनिर्विशेषं सम्बोध्या बोध्या च।

कमला—यद् भवत्यै रोचते, परमृणभारमसमर्थास्मि वोढुम्।

चपला—यदि कोऽपि भवतीमनृणां कर्तुं पारयेत्तस्मै किमपि देयं नाम ?

कमला—देयम् ? शिरोधरामुत्ताय पादयोः पातयिष्यामि जीवनधनमेव तस्मै समुत्स्रष्टुं शक्नोमि।

चपला—अपि सत्यम्?

कमला—सत्यम्, किं क्षत्रियकुलप्रसूताया रसना द्विर्भाषते। सत्यम्, नितरां सत्यम्।

चपला—परमप्रियवस्तुवितरणे वदान्योऽपि सङ्कोचमवति, अतः सम्यक् पृच्छ्यसे।

कमला—तर्हि विस्पष्टवचोभिर्वेदय कथमानृण्यमासादयितुं शक्नोमि।

चपला—सरोजिनि, त्वमधुना विश्राम्य, अहं श्रीमत्या मनो विनोदयामि। (उभे-गच्छतः) श्रूयताम्:—

नात्यन्त सन्देहस्थोऽपि यन्नन्दनपुरेश्वरो नन्दनसिंहः प्रतिभावान् सहस्रशो नगराणामधिपतिरासीत्। राजसभाङ्गनं जनसमुदयेन प्रपूरितं प्रेक्ष्यते स्म। शतशो गायकाः, कलाकाराः, चित्रकारा भवनमभ्राजयन्त। वञ्चकान् साधनं व्यटमन्। शतश्च आश्चर्यभवनान्यद्यापि तस्य प्रतिभां परिचाययन्तो राजन्ते, येषु निलीनः पुमान् प्राणानेव कष्टेन जहाति। येष्वसंख्यातं धनं निहितमास्ते। यद्यपि सर्वाः कला अद्यत्वे कालस्खलितास्तथापि तदवशिष्टांश एव विस्मयायालम्। वर्षद्वय व्यतीत स बुद्धिमत्प्रियेण निर्दोषस्वाऽऽहूतः स्वर्गं सनाथयामास। तत्तल्पोऽपि अप्सरोरूपेण सेवितुं तमनुसस्रः। नन्दनसिंहो निष्पुत्र एवासीत्। केवलमेषा, एणाक्षी सरोजिनी एकाकिन्येव तस्य पुत्र्यस्ति। अस्या यौतुक्यमाश्चर्यभवनेषु सुगुप्तमस्ति। आश्चर्यभवनस्य, तन्मार्गाणां निधेः, सरोजिन्येव पूर्णाभिज्ञा। राज्ञो मन्त्र्यपि एकः प्रजाभक्तो रक्षो राजकुले कुलीन आश्चर्यभवन-विशेषज्ञ आसीत्। महाराजे समरेते स एवैनां राज्यञ्च पल्यधारीत्, परन्तु प्रियपुत्रेण कान्तिसिंहेन मन्त्रिपदप्राप्त्यै दत्तविषः स्वामिनमनुससार।

अस्या वाणी भगवद्भक्तिरिव कवितेव सरसा, गाङ्गप्रवाहवत् स्वच्छा, शिशुहासवत्सरला पतञ्जलिभणितिरिव भावपूर्णा सुबोधा च विद्यते।

एतस्या वनितावल्लर्या सौन्दर्यवितानस्य सान्द्रशीतलच्छायायां विरिरंसया बहवो वीरा मानसं तोषयितुमैच्छन्। सैषाऽधुनाऽबोधबालिका नास्ति, अस्याः कमनीयकायकानने वसन्तेन वासो विहितः, सौन्दर्यसद्मनि प्रेमाङ्कुरो निगूढः। हृदयसरोवरे स्मरसरोजं विकसितम्। प्रततप्रतिभे पितरि परेते स्वस्याः स्वस्वामिनी। स्वभावचपलश्चेतः एकदा यशोनिर्जितचन्द्रे चन्द्रे चन्द्रेक्षणेन व्यासक्तम्। तच्चार्यकुलप्रसूताया निम्ननीतं नीरमिव न प्रत्यावर्त्तयितुं शक्यते। कथं नाम न भवेत्तत्राग्नियोगे ज्वलनम्। भवत्येव योषितां सदोत्सुकं मनो स्पृहु, पुनश्च समेते वरे नरे, मानसमुन्मथयति मन्मथे विलासशालिनि, केवलं सखीसहाये रहोनिवसने प्रचुरचातुर्यतुच्छीकृतार्यविचार्ये च मनोविचारे कथं स्याद्रक्षणं ब्रह्मचर्यस्य। अधुनैवा अखण्डब्रह्मचर्यव्रतपारणां विधातुं चेष्टते। अहमप्यभिलषामि यद् हार्दमिदयुवयोर्वयोऽन्त यावत् स्थिरं भवत्विति।

कमला—ज्ञातनिखिलतत्त्वास्मि, धन्यास्मि, यस्या मन्दभाग्याया साम्मुख्यं राजकुमारी मारीविहसिनी, सिनीवालीकेशा, केशामोदसमाकृष्टषट्पदा पदारविन्दविनिन्दिका दकाच्छतनुलता, लता गुणामृतफलानामभिरक्षति। भृशमुद्योक्ष्यामि। परन्तु हन्त! वियुक्तया मया तेषां वागेवैकदा श्रुता हा? हन्त, हतास्मि।

एवं कथयन्ती कमला मूर्च्छिता। चपलाहूता सरोजिनी कथङ्कथमपि बकुलजलेन हिमपट्टिकया, ओषधीप्रदानेन, व्यजनवातेन वा स्वस्थाञ्चकार।

* * *

अभूद्बोपःकाल। गतं स्वराज्यं विभावरीमहाराज्ञ्या भा च भव्यूहस्य। भ्रमरकुलमधुना, मधुनासमेधितसम्पदां पदाङ्कविक्षतकिसलयानां विकसन्मधुरिम्नामिभानामिव स्वमधूना यूनां मनो हरति रतिप्रणयिनामुपरि पतन् सरजं सरोजानाम्। सरसाङ्गानां सारसाङ्गनानां मृदुपदविन्यासेन विभाति विभातं काव्यमिव।

परमसरसं मरममधुरा कान्ता शान्तेयं प्रावृट्। यद्यपि नाद्य तारका घनावल्यो घना-घनध्वाना, न च सौदामिनीस्फुरच्चमत्कृतय उत्पन्नदारादरा, न च सपटापटशब्दं क्षोभित

क्षोणीक्षोणीधराः पुष्करधरा, न च नाशिताशेषपादपा झञ्झावाताः, तथापि शस्य-सम्पत्तिसम्पादिताखिलैलानन्दः, पूरितसर्वजलाशयः, रोमन्थायमानगम्भीरगमनपशुसमजोऽ-मन्दानन्दनिमीलितनयनकृषककजनलालितः ऋतुरयं संसारे समुल्लसति, वर्द्धयति च वेपावेतः।

अथ जगदनवद्यसौन्दर्यसरः सरोजिनी सरोजिनी विचार्य कर्म, वर्म परिधाय मसृण-कन्यायां निहितभोजना, जनान् जयन्ती साहसेन, लघु सुन्दरं हर्म्येकचन्द्रहासं कटितटे आबध्य, कृष्णं गुल्फलम्बि शिथिलमन्तरच्छदं परिधाय, स्वभवनान्निः ससार। इतस्ततः प्रक्षिप्तप्रेक्षणा, समुच्छलत्प्रज्ञा क्वचिदप्यनवलोक्य द्रष्टा, कलहंसगमना, मनागप्यनस्ता, भीषणाप्यतिरोहितरतिसौदर्यसौन्दर्या, लप-लपायित-चक्र-मकायितद्विधाराधारकरा, पुनः पुनस्तमेवाभितः पश्यन्ती आनन्दितसमस्तकन्याऽलघुकगाम्भीर्यया गत्याऽयासीत्।

पूर्वदिशि पार्वतपाषाणपूरपूर्णोऽविज्ञाततलः आयतः स्वच्छशीतशम्बरः सुमसृण-सितदृषत्सोपानो ह्रदो व्यद्योतते। यस्याभ्यर्णे मूलजलादानसर्वाङ्गविकसिता भूरुहाः कृतज्ञतामिव प्रकटयन्तः सन्ततं शकुनिकुलवैर्धन्यतामिवावदन्।

सरोजिनी समेषु कोणभवनेषु निपुणं निरीक्ष्य श्रान्ता हतोत्साहोलब्धचन्द्रा विभावरीव म्लाना, पादपतलमेकमासाद्य, क्षणं विरम्य, विश्रम्य विभाव्य वस्त्राणि सम्य-गाबध्य ह्रदसमीपं गता सङ्कटात्मानं सङ्कटुयानं सङ्कटसरो वीक्ष्य, अविज्ञातमर्मणि वारिणि पातयामास आत्मानम्। पतनसमकालमेव मौक्तिकानीव, तारका इव, सर्षपा इव स्नात्वा स वियासव, करन्धविन्दव उच्छलिताः। कदम्बकाण्डोपवेशिनः केकिनश्च भीकरया केक्या भुवं विरावयन्तो मुदा नेदुः।

साहित्यसारस्वतचातुरीतुरी-
धुरीणशास्त्र्येशिरोमणेः कवेः।
अरसस्यचित्तस्य कृतौ महीपतौ
ततौ सतां मूर्छयतौ नु पञ्चमः॥

काव्यकलामलधीनिधिशीतांशुना श्रीनिवासशास्त्रिणा कृ
चन्द्रमहीपतौ पञ्चमो निश्वासः।

षष्ठो निःश्वासः

यो दिव्याम्बुजलोलमत्तमधुपप्रोद्गीतरम्यं सर-
स्त्यक्त्वा मानसमल्पवारिणि रतिं बध्नाति कैदारिके।
तस्यालीकसुखाशया परिभवक्रोडीकृतस्याधुना
हंसस्योपरि टिट्टिभो यदि पदं धत्तेऽत्र को विस्मयः॥

सुभाषितरत्नम्

हृदयतृणकुटीरे दीप्यमाने स्मराग्ना-
वुचितमनुचितं वा वेत्ति कः पण्डितोऽपि॥

त्रिविक्रम भट्टः

गरलसहोदरजाता (लक्ष्मीः)
यन्न मारयति तदपि वरम्॥

स्फुटकम्।

यामिन्याः प्रथमो यामः। वायुर्न वाति। बकुलकुलशय्याशायिनां गणिकागणहारहारिवक्षसां सुगन्धशीतव्यजनेन वीज्यमानानामपि निर्लज्जेव वनिता नाङ्गं मुञ्चत्युष्णता। उष्णता उष्णता, तालुशोषस्तालुशोषः, हिम हिम, बकुलपट्टिका बकुलपट्टिका, कर्पूरलेपः कर्पूरलेपश्चन्दन चन्दनं, जल जलम् अहो स्वेदः, कण्डूः कण्डूः, मशकाः मशकाः, वायुर्वायुरित्येव श्रूयते सर्वतः श्रुतौ। क्वचन प्रलम्बगुणाकृष्यमाणव्यजनस्वन, क्वचन द्रुतनिद्रसुन्दरीनूपुरझङ्कार, क्वचित् करधृतव्यजनिकाभिर्जननीभिर्विधीयमानः स्वेदजालप्रशमनः शिशूनां रोदनप्रशमनः संलापः।

प्रत्यट्टालिक प्रतिगवाक्ष समीरमिव मृगयमाणानां मृगीदृशां वेवेष्टि वलयशिञ्जितम्। नवनवेष्वपि वासोवेष्टितेष्वपि घटेषु प्रतप्तमेव पानीयम्। उशीरनीरसिच्यमाना पक्षद्वारपट्टिका उष्णतामेव पुष्णाति।

हार एव भारोऽङ्गदमेवाङ्गदम्। ललन्तिकैवान्तिका, रशनैवाशना, वस्त्रमेवास्त्रं, तूलिकैव शूलिका, उपधानमेवापत्।

किं बहुना वायुरपि वायुं वाञ्छति, सरसामपि सलिलस्पृहा, पिपासाक्षामदेहा नद्योऽप्यद्य सद्यः समुद्रमनुधावन्ति। मीनोऽपि दीनः। तुहिनमपि हीनम्। कमलमपि समलम्। प्रतिप्रतोलि "हे भगवन्! हे नारायण! दीनबन्धो! कथं जगदिदं जीवयिष्यसि" इति श्रूयते प्रवृद्धः प्रबुद्धवृद्धघोषः।

सोष्मलोकलोक लोकं लोक वियन्मध्यमध्यास्ते चन्द्रः।

सुशीतलजलशीतलतले शयनागारस्य रम्यकुट्टिमे मञ्चे उपधानमाश्रयन् महाराजो रामपालो विनीतविशदवेषैर्भृत्यैर्मदद्भ्यां तालवृन्ताभ्यां वीज्यमानो मन्त्रिणाऽऽलपति। समीपे च न नितरां राजते राजते दीपाधानेऽप्यवरक्षितो दीपः।

अथ रामपालमन्दिरे मालिन्यसम्राजः शासनं समवलोक्यते। धावल्यं विद्रुत्प्रस्रवेषु पयस्सु, चापल्यं लतालीनेष्वलिषु, [1]अगा गीतयः प्रसृताः संसारे, चालनं व्यजनानां, फुल्लता पुष्पाणां, विकासो जृम्भितास्ये, सम्मेलोऽक्षिपक्ष्मसु। धिक् धिक् कुर्वती घटी लोल[2]ल्लोलकेनाधैर्यं व्यनक्ति।

"मन्त्रिन्! शेषा बहु व्यतीता रात्रिः"।

मन्त्री०—आम् देव! शयिष्ये। भूपेन्द्रं प्रतीक्षे, तत एव……

महा०—(मध्ये एव) किं सम्भावयसि मन्त्रिन्! यत् कमलां पुनर्द्रक्ष्यामि!… हन्त! महात्मनो नवेन्दुवर्मणोऽस्म्यहमेव, दुःखकारणम्। जीवन्नेव मृतोऽस्मि।

मन्त्री०—नहि, देव! नैव वाच्यम्। महाराजानां चरणौ शपे, यतो भूपेन्द्रो गतोऽस्ति वराकेण जगद्वराढम्। नासौ सालसो यत्कार्यमनु प्रमादेन जह्यात्। तत्पत्रमपि समायातम् (कटिगुटिकाया निःसार्य)।

महा०—किं लिखति सः—

मन्त्री०—(दीपवर्तिकां किञ्चिदुद्दीप्य) देव! स मां सम्बोध्य लिखति—

कति योजनानि प्रत्यहमहो! मयाऽऽगम्यन्ते। षष्टिघटिकात्मके काले सर्वेऽपि

---

१ नास्ति गो यासां ता अगाः—ग—रहिताः—ईतय इत्यर्थः। २ लोलक=पेण्डुलम्।

शान्ति न लभे। विविधरूपपरिवर्त्तनेन प्रतिक्षणमात्मानं सन्देहसिन्धौ निमज्जयल्लघुनापि साधा। क्षमश्चेद् गुरौ भवता मिलितुमिच्छामि, मद्वचनात्सप्रणामं सान्त्वनीयो महाराज। जीवनेन कार्यं विधास्ये। शेषं कुशलम्।

टिपासर }

आज्ञापालको—
भूपेन्द्र

महा०—अद्य

मन्त्री०—आम् देव ? अद्य गुरुदिनम्। मन्येऽधुना स आगत्यास्मान् हर्षयिष्यति।

महा०—दृश्यताम्, किं भावि, मन्त्रिन्! विरक्तोऽस्मि।

मन्त्री०—देव! आपदः प्राणिष्वेव पदं दधति। पुरापि पृथुप्रतिष्ठाः पार्थिवा आपत्तीराप्यापि धैर्यं न तत्यजुः। धैर्यधाधिधुरन्धरा भवादृक्षा अपि धैर्यं हारयन्ति, चेत् तदा हन्त ? क नामाश्रयिष्यत्यनाश्रया धीरता। गगनमेव गतिं शक्नोति सूर्यमण्डलस्य।

द्वाःस्थो भूपेन्द्रागमनमसूचयत्। आगतश्चैकः सभ्यवेशः प्रभावितमुखोऽरूक्षाकृतिः उपविशवया, दीर्घाकारो व्यायामिविग्रहोऽदृष्टजन्मज पुरुष।

मन्त्री०—भूपेन्द्र, अपि कुशलम् ? कश्चिल्लब्धो वृत्तान्तः ? भूप, तदैव चर्चा भवति यामेष्वटसु।

भूपेन्द्र—किमिव कथयामि देव, अनवरतं रतो भवत्सपर्यायां पर्यायेण प्रचुरनगराण्य वगाहमान स्वास्थ्य गमयित्वापि पूर्णोदन्तं न ज्ञातवानस्मि। श्रीमौर्यचन्द्रो महत्तरारूढो गतवान्, तदा चालकेन किमपि प्रत्यावृत्य न निवेदितम् ?

मन्त्री—विपत्तौ विपद एव पदं कुर्वते। को जानीते ततः किं सूचितमार्गेण, परन्तु स वराकः समायात् पथ्येव पेऽपि हतः। महत्तरश्च नीतः। सोऽयं ह्य एव भ्रमणाय आनीतोऽन्वेषकैः। सत्पदपर्थश्च गृहा महत्या कुशलधारया वृष्ट्या।

भूपेन्द्र—(निश्वस्य) तर्हि देव ? पेय ? गन्तुमेवागतोऽस्मि। कदाचित्तन्न प्रदिशुवानि, तत्काय श्रीमद्भिः सत्वरमेव निर्देष्टव्यम्।

* * *

'परडे ? अकारणबान्धवे, बहुभिर्दिवसैरस्मान् सेवयति। स्वकीयममूल्यं समय व्ययंयसि। कुसमयागमनेनास्मान सद्ये आरोपयति। यदि, तवाभिलषित

ददामि, ते स्वामिन्या अभिलषितं पूरयिष्यति परमेश्वरः। परन्तु चपले! सरोजिनी विवाहमहोत्सवे वयं न विस्मर्त्तव्याः।"

'आम्, अपरं शृणु, कोऽपि पटुवीरः प्रबलसिंहस्तवत्स्वामिनीप्रेयांसं चन्द्रं द्रुह्यति, अपि जानासि तम्?

चपला—आं देव! तपमाविगतसिद्धेर्भवतः किं तिरोदधामि। स एव मम सहचर्याः कुमुदिन्याः प्रणयपात्रं वर्त्तते। तस्याः सूचनादेव कमला मोचिता। सर्वं वृत्तमवगतम्। परन्तु सोऽस्मत्कृत्यमण्वपि न जानाति। न च कुमुदिनी तस्मै सूचयति। अस्तु, तर्हि तदर्थं किमपि करणीयं किम्!

महात्मा—नहि, किं करणीयम् न करणीयम्। कुमुदिन्यपि न सूचनीया। अन्यथा सत्यवीरः प्रबलः कान्तिसिंहदुष्टाय सूचयिष्यति। कीदृशो वीरो दुष्टस्य हस्ते समापतितः।

चपला—देव! एते सर्वे राज्ञो नन्दनसिंहस्य भृतिभुज आसन्, परन्तु दैवाद्देवे-दिवं गते दुष्टस्यैतस्य हस्ते पतिताः। परन्तु प्रबलः सम्प्रत्यपि सरोजिनीं मानयति।

महात्मा—अस्तु, त्वमधुना गच्छ।

सोऽयं महात्मा कस्मादकालात्तपस्यति—इति सर्व एव इतस्ततस्त्या जानन्ति। विरस्त्यास्य एतत्प्रान्तीयाः सर्वे एव परिचिताः विशेषतश्चौरधूर्त्ताः। कार्यसिद्धयै त एनं स्तुवन्ति, आद्रियन्ते। एवा चपलाप्येकदा महात्मकीर्त्तिमुखरितया सरोजिन्या कार्यसाफल्याय प्रेषिता। महात्मना—"देवि! महात्मनां सेवैवानन्यतन्त्रं वशीकरणम्, सैव करतलगता सिद्धिः। ते नान्यत्किमपीच्छन्ति"—इत्युक्ता प्रतिदिनं सेवितुं विनीतवेषा प्रत्यैति। महात्माप्युत्कण्ठया सरोजिनीक्रियमाणं चपलया विनियमाणं कर्म ध्यानेन शृणोति। महात्मन्ययं विशिष्टो गुणो यद् येन सह्दालपति तमाजीवन वशयति। युक्त्युक्तिभिर्मोदयति। सर्वैः सह मृदु भाषते विहस्य वक्ति, परन्तु यस्मैचन यदा कदा क्रुध्यति, तदपि कर्णे। अत एव एनं सर्व आद्रियन्ते। प्रबलसिंहादयोऽप्येतस्य नितरां परिचिताः यत्कुर्वन्ति चिकीर्षन्ति च महात्मने सूचयन्ति।

सोऽयं महात्मा एतत्प्रदेशजानां कर्मणामभिज्ञाता, परं स्यान्नाम किमनेन महात्मकः। स तु एकेन कर्णेन शृण्वन्नपि अपरेण निष्कासयन्, स्वयजनयाजन एव रत आस्ते।

*   *   *

कृष्णः पक्षः। निशीथः समयः। सधूलिर्वायुः सकम्पाः पादपाः। निद्रितोऽशेषजनं जगत्।

निशयाऽष्टमीन्दुं विजित्य स्वसाम्राज्यं विस्तारितम्। तस्याः पैशाचिकी चमूश्चराचरे प्रभावमाच्छादयत्। सद्वृत्तयश्चन्द्ररश्मय इव न्यलीयन्त। वन्यहिंस्रजन्तवोऽसद्वृत्तय इव विस्रब्धसुप्तानां वराकजन्तूनां जिघांसयाऽभ्रमन्।

स्वच्छसलिलं सरः। सरस्तटे अतिथिविश्रामायावासभवनानि। आलवालेषु पिप्पलनिम्ब न्यग्रोधा यथास्थानमराजन्त। भूपेन्द्रः शिशयिषुः, सहचरैः सम्मन्त्र्यैकस्मिन् भवने व्यरमत्। श्रान्त आसीदेव पतन्नेव गाढमाक्रान्तो निद्रया।

"सहयोगिनः! अधुनैवाहं स्वप्नमन्वभवम्"—भूपेन्द्रेणोत्थायोक्तम्।

यदहं शून्यनगराद् बहिरश्वारूढो यामि। अकस्मादश्वो गहनं वनं प्रविष्टः। पार्श्वतो वृकव्याघ्रशार्दूलाः शब्दायन्ते। मम हस्ते चैकं वेत्रमास्ते। परं यथाकथंचिन्मनो दृढयन् वनाद्बहिर्वृत्तः। अग्रे एका नदी प्रवहति। तस्यां जानुमितं जलम्। तस्यामश्वारूढ एवाहं पारं प्राप्तुमिच्छुर्यामि। अकस्मान्नदीजलमल प्रवृद्धम्। जलप्रवाहो वाहोद्वेगकारी क्रोशेषु विस्तीर्णः। जले प्रोच्चा जलावर्ताः प्रादुरभवन् समीरस्योत्थापितसलिलेनाक्रान्तोऽहं साश्वो निमज्जन् केनापि तपस्विनाऽकस्मादागत्यैव निष्कासितः पारं गतः पदातिर्भूतः। अकस्माद्वने दावानलस्य प्रचण्डो वेग उत्थितः। अहञ्च भीतो यथा पलाये, तथा पथि विस्तीर्णे जाले पतितो बद्धश्च। तेन भयेन स्वप्ने यथाऽरोदिषं तथा मम निद्रा भग्ना" इति।

स्वल्पावशिष्टाधुना रात्रिर्गन्तव्यमस्माभिरिति सम्मन्त्र्य चलितः स उपरिष्टाज्जातवेदसं दृष्ट्वा, तमेव लक्ष्यीकृत्याचलत्। चतुरस्रो भूभागः। एकतो लघीयसी नवीना कुटी। अग्रभुवि च कम्बलं विस्तृतम्। अग्निः प्रज्वलति, यस्मिन् कमण्डलुमिता आहुतयः आप्यन्ते। अनतिदूरं एवैकः शान्तो निष्प्राण इवाचलः, निमीलितनयनः, सान्त्वप्रदहस्तयुगलः, धृतशरीर इव धर्मः कलिकालकालनभयेन विजनवनवसनतिरोहितः,

हितः प्राणिमात्रस्यैव सत्यः, अहेतुकघातुकप्रकृतिनिष्ठुरदुरसन्त्रासनस्तथाऽलब्ध-शरण्यया दयया पूरिताङ्ग इव पीवरः वासश्शकलत्रेष्टित-कटिभागो, नाग इव निर्भीको निर्जितप्राणः, स्वाच्छान्तरसः, करुणाप्रवाहप्रवर्त्तकः, अनात्तपःपारावारपारीणधुरीणः, भषितसितकेशपक्ष्मश्मश्रु व्यायतललाटो महात्मा कुशासने स्थितः। समीपे चैका तुम्बी नारिकेलस्य खर्परपात्रं चिम्मटं दण्डः इति।

अथासौ प्रचुरं विचार्य महात्मनोऽनतिदूर उपविष्टः समाधिभङ्गमपेक्षमाणस्तन्मुख-प्रेक्षणे आस्त। घटिकात्रयेण महात्मा ध्यानमर्दं सजम्भमुत्थायाऽपि प्रदक्षिणी-कृत्याचम्य हस्तयुगलमायोज्य श्लोकमिममपठत्—

अपार-संसार-समुद्र-तारिन्।
स्वभक्त-भूताखिल-दुःख हारिन्।
निशाचर-स्तोम-विनाश-कारिन्।
त्रायस्व मामुत्पलमालभारिन्।

"श्रीमतां चरणसरोरुहयोः प्रणमामि" महात्मना सावधानं वीक्षितः प्राब्रूत भूपेन्द्रः।

महात्मा०—(तूष्णीम्भूतः किमपि विचारयति)

भूपेन्द्रः—भगवन्, देदीप्यमानप्रबलसाम्राज्यस्य कलेः केलिकाले, पादैः प्रमथ्यमान-तपोधनगोधननिकुरम्बे महात्मनां तपोऽभिवृद्धिरवश्यमानन्दावहा। असारे भगवद्भजन-मेव श्रेयः। तदन्तरा पुंसः परस्मिंल्लोके नैका काचिदपि प्रादुर्भवति। विषयसुखं [1]माहेय [2]माहेयमिव हेयम्। देव! भवादृशा एव जगदर्णवकर्णधाराः सन्ति। भवादृशानां योगक्षेमेनैव स्थितास्ते भूः।

भगवन्! दुःखहारिन्, वराकोऽस्मि, भवतां लघीयसापि हस्तेन अस्यावर्तपतिता नौ रुद्धरिष्यति। महात्मन्! दयनीयोऽहम्। भवन्ति किल मादृशाः साधूनामनुकम्प्याः।

महात्मा०:—(अस्य वचनभङ्गीमाकर्ण्य क्रुद्ध इव सिन्दूररञ्जिताभ्यामिव, पुरः स्थितकुटिलोनिप्रतिबिम्बिताभ्यां, तिरोहिततरोरागाभ्यां विशालाभ्यां नेत्राभ्यां दहन्निव, उदरसात्कुर्वन्निव, जिघृक्षन्निव, चेतनीकृतसमस्तकाननया, गम्भीरया प्रतिध्वनि चतुर्गुणया वाचाऽनमयोऽपि सामर्ष इव सम्भर्त्सयन् प्राह) कः नाम विस्मृतदु खा-

---

1 मद्यं मनं माहेयम्। 2 अहो भवनहेतं—विषम्।

दुष्पारगर्भप्रतिज्ञानाम्, ज्ञानाम्भोधिपानागस्त्यानाम्, सततसन्ततितर्तिकर्यविस्तारगतचेतसाम्, अद्यश्वीनमरणाय अकार्यकरणापेयपानाखाद्यखादनापठ्यपठनादृश्यदर्शनकुपितैन पूरितनिन्दानिधिमेधानाम्, असदभिनिवेशप्रदुष्टस्वान्तानाम्, दुष्कृत्यसम्पादितयशसां, 'अनभ्यासमित्यानां पशुप्रसक्तिपराणां नराणां वार्त्तया आवश्यकता। एवं भगवद्भजनमाहात्म्य कथयित्वा सम्प्रति नावमावर्त्तपतिता शोचति। मम कौपीनग्रन्थौ निबद्धास्ते नौ, उन्मोचय मम कक्षे विलीनास्ते निष्कासय। धूर्त्त! मा नाम गार्हस्थ्यवार्त्तया दूषितं विधेहि मनः। अपेहीतः। नाहं तव अग्रे पतिष्यामि धूर्त्त! कुलाङ्गार! कपटप्रिय! पथिकवञ्चक! हँ हँ हँ हँ (हसति)

विचित्रमदो हास्यमासीत्। भूपेन्द्रो गतप्राण इव सम्भूत—तस्य चेतसि साशयिका विचाराश्चेरु स शोचन्नासीद् यदद्य कीदृशेनाज्ञातस्वभावेनावसरः समापतित। ईश्वर एव क्षेममाचरिष्यति। परन्तु हासेन जात किञ्चिदाशाबन्धन प्राणेषु। क्षण पक्षद्वयत एव नीरवताऽऽच्छन्ना। पुन प्रशान्तया वाण्या मधुरशब्दैराह महात्मा—

पान्थ। किमिच्छसि! कथ तव नौरावर्त्ते पतिता। वयं साधवो गतस्पृहाः। न कमपि प्रेक्षामहे। अखिल विद्म। प्रेमपात्रस्याग्रे कथयामोऽपि। कथय किन्ते प्रयोजनम्!

, भूपेन्द्र—महाराज! बिभेमि! यद्यभय भवेत्तदा किमपि निवेदयेयम्।

महात्मा०—अभयन्तेऽस्तु, कथय।

भूपेन्द्र०—महाराज! राज्ञो रामपालस्य पुत्री कमला रात्रौ सुप्ता प्रातर्न लब्धा। तदन्वेषयन्नस्माकं राज्ञो भावी जामाता नाम्ना चन्द्र—राजनगरराजकुमारोऽपि गत। यदि श्रीमता मतिमता शान्तात्मना महात्मना दया भवेच्चेत्तयो स्थिति सूचयेयु-स्तदाहमपि लब्धमहोपहारस्सन् जीव्यास शरद शतम्।

महात्मा०—चन्द्र कमलां त्वदोपहार लप्स्यसे, किमनेनास्माकम्।

भूपेन्द्र०—नहि नहि देव! कल्याणभुजो भविष्यन्ति भवन्त। साधवो जगतां कल्याणकर्त्तारो यतः

---

१ दुरत० परित्यक्तव्यानम्।

महात्मा०—भवत एवाः कः विश्वसिति, हुम्, अस्तु तर्हि सत्यं कथयामि किम्।

भूपेन्द्र०—आं महाराज।

महात्मा०—चन्द्रोऽधुना "नन्दन पुरे" आस्ते। तत्रैव च तत्स्वामिसुता कमला। परमशक्तस्त्वं तौ लब्धुं; यतः कस्याश्चन प्रेम्णि बद्धः सः।

भूपेन्द्र०—नैवं प्रवक्तव्यम्। अहं पातालादपि शक्तोऽस्मि निस्सारितुम्, का कथा नन्दनपुरमठिकायाः।

महात्मा०—आ, एवम्। व्रज साधय, कुरु कार्यम्।

कारा, कारावन्धनं तस्य शोचन्ती, तदुद्योग तल्लक्ष्यं क्षणेनैव ज्ञातवती। चिरं चिन्तयामास हन्त! महानयमनर्थो जातः। अस्तु यज्जातं तज्जातम्।

* * *

पाथोनिकेतने दैत्यन्यक्कृततूल कूलमासाद्य परं परमश्रमलुलितलोहितलपनपद्मलक्ष्माम्भःकणैः सरोजिनीव बभौ सरोजिनी। सा चोत्पन्नमहाऽपदायोदस्वन्ति वर्त्मनि मसृणमञ्जूषया शुष्कवस्त्राणि धृत्वा भीरुभामिनीभूषणं दूषणं साहसिकानामपहाय शोकलोकं वाह्लीकभूमावागत्याभिनवां रथलेखामविदूर एवापश्यत्। आशङ्कितमना एकस्मिन् प्रोच्चं गण्डशैलमारुह्याऽभितः पश्यन्ती गव्यूत्यन्तराल उद्घाटिन्या भुवि शनैश्शनैर्यन्तं रथमेकमैक्षिष्ट। रथसम्मुखपादपेभ्योऽकस्मान्निस्सृतया तया सारथेरेवमभूवन्नालापाः।

सरोजिनी—क्व यासि रे! पाटच्चर, तिष्ठ, पश्यामि। रथे किमस्ति।

सारथिः—मन्ये धृतस्त्रीवेशः कोऽपि धूर्तोऽसि, परं नाहं वेशेन दर्पिष्ये। जिह्वां चर्वयिष्यसि चेल्लप्रचपेटो धरां धास्यसि। व्रज, अपेहि, न तेऽवस्था (कशयाऽश्वौ ताडयति)।

सरोजि०—मूढ? महाशामवज्ञाय क्व पलायितुमिच्छसि, पश्य सज्जो भव।

सरोजिनी एकतो भूत्वा रथ्यस्य शिरोधरां कृपाणमोघकेन सद्य एव हारयाचकार। गतग्रीवे चार्वति, अतिरोषकषाये च सारथेस्तुण्डे क्रोधोद्यमतरलनेत्रायां सरोजिन्यां समजनि जन्यम्। पादाहतः कृष्णोरग इव प्रादुर्भूतमदः करीव भीकरकायः रोषोच्छलद्धानः स सरोजिन्या वराक्या उपरि कटकटायितदशनः कृपाणपाणिः पतितः। परन्तु सरोजिनी सौन्दर्य एव केवल नाग्रगण्या, किन्तु कलाकलापालापिनामपि, यत स्तत्प्रहारं व्यर्थीकृत्य लघीयसा हस्तेन तच्छिरः फलमिव पक्वं बिल्वस्य निपातयाञ्चकार। मृते सारथौ रथ्ये परस्थ्ये च गन्तुमसमर्थेऽर्थे सफला सा सद्य एव रथान्मूर्च्छितं वस्त्रवेष्टित पुरुषमेकमुत्तार्यापश्यत् फेनमृतमुखचन्द्रं स्वमनःकुमुदचन्द्रं, रिपुपूतमश्चन्द्रचन्द्रम्।

तमेव चिन्त्यां दशामनुभवन्तं वीक्ष्य नालभन्ताश्रूणि स्थानमन्तः। तानि सत्वरमन्तर्गतदुःखताडितानि धावमानानि नेत्रद्वाराभ्यां बहिरागत्य तद्दुःखदुःखितां

मुखमपि सिषिचुः। "कथमेकाकिनी श्वापदसङ्कुले सोपद्रवे विजने वने तिष्ठामि। कोऽत्र मत्यां विपत्तौ साहाय्यमाचरिष्यती"ति चेतसा सतर्कीक्रियमाणा निपुणं नाडीं परीक्ष्य मूर्च्छां विज्ञाय तदपनयनौषधीं तस्मा आघ्राप्य, कांश्चिद्बिन्दूनपि तन्मुखे नेत्रयोश्च निपात्य प्रतीक्षमाणातिष्ठत्। घटिकापष्ठांशेन स नेत्रे उन्मील्येतस्ततो दृष्टवान्, तत्क्षणादेव प्रकृतिस्थमभवत्। मुखं प्रोञ्छ्य यावदुत्तिष्ठति प्रमदामेकां चन्द्रहासतारल्येन चक्षुश्चञ्चलयन्तीं वीक्ष्य "नहि शस्त्रात्यन्ताभावशालिनि पुंसि श्रेयान् शस्त्रपात" इत्याह।

सरोजिनी त्वेकतः पतितं सारथेः खड्गं लक्ष्यीकृत्य "गृहाणामुं खड्गमहमपि वीर कर्म दिदृक्षे" इत्युक्तीर्ये योद्धुमसज्जत। घटिकां यावदभूद् बहुलविधानं द्वन्द्वम्।

"वत्सम्, अप्रहरन् युध्यसे।"

"महाराज! एते दुष्टाः श्रीमन्तमावध्यानैपुरिविहृतमहं ज्ञात्वा मनाक् सेवितवती। मूर्च्छाशिथिलाङ्गस्य भवतो मनोविनोदाय आलस्यापनयनाय च क्रीडिता, न रुषा, सैवं धृष्टता साधुशीलैः क्षम्या। सम्प्रति अनुकामीन,[1] मीनमिव पीन स्थावशिष्टमश्वनारुह्य यथाभिलषितं प्रदेशं प्रयातु देव, अहमपि यामि। "किंनाम देवस्य।"

"चन्द्र" "कुत्र भवती निवसति! किञ्च नाम भवत्याः।"

"पार्श्व एव नन्दनपुरं तत्रैव मम वसतिः आख्या च सरोजिनी स्मर्तव्येयं कार्ये" इति कथयित्वा स्वीयं गुम्फलम्बि, अङ्गरक्षक सङ्कदपहाय फट्कारेण धूलिकानसार्य पुनरायोज्योत्तरमनपेक्षमाणा, प्रस्थिता। चन्द्रश्च व्यतिकरेणानुना दिग्भ्रमे व्यमुहत्।

अथ विरोचनो रोचींषि समकोचन्। विदूरप्रसृतहिमततिताडनसङ्कुचितास्विव काष्ठासु नवस्य बभूव तमसः। सर्वेनाकाशे तत सोमो व्यापप्रे। दुर्दिनानीव दीनान् तमांसि मुखं व्याहरन्नामुः।

देवदत्तेन दृष्टः शशिलयेऽपि शिवभवनेऽपि सुखी न तिष्ठति। तस्यानन्दनमपि विषायते, सुखसाधनं दुःखायते, प्रसूनान्यपि प्रहारायन्ते, मन्मथमन्दिरमपि यमनन्दिरायते। अहेतुका आनन्द एकतोनयन्ति।

---

1 अनुकामीनो – यथेष्टगन्ता।

भुवमपि सिषिचुः। "कथमेकाकिनी शत्रुसङ्कुले सोपद्रवे विजने वने विलपामि। कोऽत्र सत्यां विपत्तौ साहाय्यमाचरिष्यती"ति चेतसा सतर्कीक्रियमाणा निपुणं नाडीं परामृश्य मूर्च्छां विज्ञाय तदपनयनौषधीं तस्मा आघ्राप्य, कांचिद्विन्दूनपि तन्मुखे नेत्रयोश्च निपात्य प्रतीक्षमाणातिष्ठत्। घटिकाषष्ठांशेन स नेत्रे उन्मील्येतस्ततो व्यैक्षत, तावदेव प्रबलमवमत्। मुखं प्रोञ्छ्य यावदुत्तिष्ठासति प्रमदामेकां चन्द्रहासताल्वेन चक्षुश्चकितयन्तीं वीक्ष्य "नहि शस्त्रात्यन्ताभावशालिनि पुंसि श्रेयान् शस्त्रपात" इत्याह।

सरोजिनी रथेकतः पतितं सारथेः खड्गं लक्ष्यीकृत्य "गृहाणामुं खड्गमहमपि वीर कर्म दिदृक्षे" इत्युक्तीर्य योद्धुमसज्जत। घटिकां यावदभूद् बहुलविधानं जन्यम्।

"चरूलम्, अप्रहरन् युध्यसे।"

"महाराज! एते दुष्टाः श्रीमन्तमावध्यानैपुरिविहृतमदं ज्ञात्वा मनाक् सेवितवती। मूर्च्छनशिथिलाङ्गस्य भवतो मनोविनोदाय आलस्यापनयनाय च क्रीडिता, न रुषा, सैव धृष्टता साधुशीलैः क्षम्या। सम्प्रति श्रनुगामीनं,[1] मीनमिव पीनं स्थावशिष्टमश्वमारुह्य यथाभिलषितं प्रदेशं प्रयातु देव', अहमपि यामि। "किंनाम देवस्य।"

"चन्द्रः" "कुत्र भवतो निवसति! किंच नाम भवत्याः।"

"पार्श्वे एव नन्दनपुरं तत्रैव मम वसतिः आख्या च सरोजिनी स्मर्तव्येयं कार्ये" इति कथयित्वा स्वीयं गुल्फलम्बि, अङ्गरक्षकं सकृदपहाय फत्कारेण धूलिकणानपसार्य पुनरायोज्योत्तरमनपेक्षमाणा, प्रस्थिता। चन्द्रश्च व्यतिकरेणामुना इतिकर्तव्ये व्यमुहत्।

अथ विरोचनो रोचींषि समकोचत्। विदूरप्रसृतहिमततिताडनसङ्कुचितास्विव काष्ठासु प्राबल्यं बभूव तमसः। सर्वत्राकाशे तम स्तोमो व्यापत्रे। दुर्दिनानीव दीनान् तमांसि भुवं व्याकुलयामासुः।

दैवदत्तेन रङ्कः शासिलयेऽपि शिवभवनेऽपि सुखी न तिष्ठति। तस्यामृतमपि विषायते, सुखापनं दुःखायते, प्रसूनान्यपि प्रहारायन्ते, मातृमन्दिरमपि यममन्दिरायते। अहेतुका आपदः स्वकारीभवन्ति।

---

[1] अनुगामीनो—यथेष्टगन्ता।

भुवमपि सिषिचुः। "कथमेकाकिनी शत्रुसङ्कुले सोपद्रवे विजने वने विलपामि। कोऽत्र मम विपत्तौ साहाय्यमाचरिष्यती"ति चेतसा सतर्कं क्रियमाणा निपुणं नाडीं परामृश्य मूर्च्छां विज्ञाय तदपनयनौषधीं तस्मा आघ्राप्य, काँश्चिद्बिन्दूनपि उन्मुखे नेत्रयोश्च निपात्य प्रतीक्षमाणातिष्ठत्। घटिकापादांशेन स नेत्रे उन्मील्येतस्ततो व्यैक्षत, तत्रैव प्रकृतिमगमत्। मुखं प्रोञ्छ्य यावदुत्तिष्ठति प्रमदामेकां मन्दहासतारास्येन चक्षुश्च क्लिश्यन्तीं वीक्ष्य "नहि शस्त्रास्त्राभ्यासमात्रशालिनि पुंसि श्रेयान् पक्षपात" इत्याह।

सरोजिनी स्वेच्छतः पतितं सारथेः खड्गं लक्ष्यीकृत्य "गृहाणामुं खड्गमहमपि वीर कर्म दिदृक्षे" इत्युत्तीर्य योद्धुमसज्जत। घटिका यावदभूद् बहुलविलपनं क्रन्दनम्।

"कस्त्वम्, अप्रहरन् युध्यसे।"

"महाराज! एते दुष्टाः श्रीमन्तमावध्यानैर्पुरितिहतमर्दं कृत्वा मनाक् सेवितवती। मूर्च्छाशिथिलाङ्गस्य भवतो मनोविनोदाय आलस्यापनयनाय च क्रीडिता, न रुषा, सैवं कृत्वा साधुशीलैः क्षम्या। सम्प्रति अनुकामीनं,[1] मीनमिव पीन रथावदिष्टमश्वमारुह्य यथाभिलषितं प्रदेशं प्रयातु देव, अहमपि यामि। "किन्नाम देवस्य।"

"चन्द्रः" "कुत्र भवती निवसति। किञ्च नाम भवत्याः।"

"पार्श्व एव नन्दनपुरं तत्रैव मम वसतिः आख्या च सरोजिनी स्मर्तव्येयं कदे" इति कथयित्वा स्वीयं गुच्छलम्बि, अङ्गरक्षकं सङ्गृह्य फूत्कारेण धूलिकाजालमार्य पुनरावोऽन्योत्तरमनपेक्षमाणा, प्रस्थिता। चन्द्रश्च व्यतिकरेणामुना किंकर्त्तव्ये व्यमुह्यत्।

अथ विरोचनो रोचींषि समकोचत्। विदग्धप्रचण्डहिमततिताडनसंकुचिताः इव काष्ठासु प्रचयं बभूव तमसः। सर्वेनाकाशे तम स्तोमो व्याप्नोत्। दुर्दिनानीव दीनान् तमांसि पुरं व्याप्तमासुः।

दैवदत्तेन दृष्टः शाण्डिल्येऽपि शिवमन्दिरेऽपि सुखी न तिष्ठति। तस्मान्मृतमपि विमनायते, सुधाधामं दुःखायते, प्रसूनान्यपि प्रहारायन्ते, मातृमन्दिरमपि यममन्दिरायते। अहेतुका भवन्ति रोमाञ्चाः भवन्ति।

---

१ चतुरगामिनो – दक्षेगन्ता।

भुवमपि सिषिचुः। "कथमेकाकिनी शत्रुसङ्कुले सोपद्रवे विजने वने विलपामि। कोऽत्र सत्यां विपत्तौ साहाय्यमाचरिष्यती"ति चेतसा सतर्कीक्रियमाणा निपुणं नाडीं परामृश्य मूर्च्छां विज्ञाय तदपनयनौषधीं तस्मा आघ्राप्य, कौश्चिद्विन्दूनपि तन्मुखे नेत्रयोश्च निपात्य प्रतीक्षमाणातिष्ठत्। घटिकाषष्ठांशेन स नेत्रे उन्मील्येतस्ततो व्यैक्षत, तावदेव प्रबलमवमत्। मुखं प्रोञ्छ्य यावदुत्तिष्ठासति प्रमदामेकां चन्द्रहासतात्पर्येन चक्षुश्चक्कितयन्तीं वीक्ष्य "नहि शस्त्रात्यन्ताभावशालिनि पुंसि श्रेयान् शस्त्रपात" इत्याह।

सरोजिनी स्वेक्तः पतितं सारथेः खड्गं लक्ष्यीकृत्य "गृहाणायुं खड्गमहमपि वीर कर्म दिदृक्षे" इत्युक्त्वीर्य योद्धुमसज्जत। घटिकां यावदभूद् बहुलविधानं जन्यम्।

"कस्त्वम्, अप्रहरन् युध्यसे।"

"महाराज! एते दुष्टाः श्रीमन्तमावध्यानैपुरिविन्नतमहं ज्ञात्वा मनाक् सेवितवती। मूर्च्छनशिथिलाङ्गस्य भवतो मनोविनोदाय आलस्यापनयनाय च क्रीडिता, न युद्धा, सैवं घृष्टता साधुशीलैः क्षम्या। सम्प्रति अनुकामीनं,[1] मीनमिव पीनं रथावशिष्टमश्वमारुह्य यथाभिलषितं प्रदेशं प्रयातु देवः, अहमपि यामि। "किंनाम देवस्य।"

"चन्द्रः" "कुत्र भवती निवसति! किंच नाम भवत्याः।"

"पार्श्वे एव नन्दनपुरं तत्रैव मम वसतिः आख्या च सरोजिनी स्मर्तव्येयं कार्ये" इति कथयित्वा स्वीयं गुल्फलम्बि, अङ्गरक्षकं सकृदपहाय फूत्कारेण धूलिकणानिरसार्यं पुनरायोज्योत्तरमनपेक्षमाणा, प्रस्थिता। चन्द्रश्च व्यतिकरेणामुना किंकर्तव्ये व्यमुहत्।

अथ विरोचनो रोचींषि समकोचत्। विद्रुमप्रसृतहिमततिताडनसंकुचिताखिव काष्ठासु प्राबल्यं बभूव तमसः। सर्वेनाकाशे तमःस्तोमो व्यापत्रे। दुर्दिनानीव दीनान् तमांसि भुरं व्याकुलयामासुः।

दैववशेन दृष्टः शशिलयेऽपि शिवभवनेऽपि सुखी न तिष्ठति। तस्यामृतमपि विषायते, सुखसाधनं दुःखायते, प्रसूनान्यपि प्रहारायन्ते, मानुर्मन्दिरमपि यममन्दिरायते। अहेतुका आपदः एकीभवन्ति।

---

1 अनुकामीनो—यथेष्टगन्ता।

कारा, काराब-धन तस्य शोचन्ती, तदुद्योग तल्लक्ष्य क्षणेनैव ज्ञातवती। चिर चिन्तयामास हन्त! महानयमनर्थो जात। अस्तु यज्जात तज्जातम्।

* * *

पाथोनिकेतने स्वैत्यन्यक्कृततूल कूलमासाद्य पर परगश्रमललितलोहितलपनपद्म स्नाम्भ कर्णे सरोजिनीव बभौ सरोजिनी। सा चोत्पन्नमहाऽपद्दायोदस्वन्ति वासासि मसृणमञ्जूषया शुष्कवस्त्राणि भृत्वा भीरुभामिनीभूषण दूषण साहसिकानामपहाय शोरुलोक बाहीकभूमावागत्याभिनवा रथरेखामविदूर एवापश्यत्। आशङ्कित-मना एकस्मिन् प्रोच्च गण्डशैलमारुह्याऽभित पश्यन्ती गव्यूत्यन्तराल उद्घातिन्या भुवि शनैश्शनैर्यन्त रथमेकमैक्षिष्ट। रथसम्मुखपादपेभ्योऽकस्मान्नि सृतया तया सारथेरेवमभूवन्नालापा।

सरोजिनी—क यासि रे! पाटच्चर, तिष्ठ, पश्यामि। रथे किमस्ति।

सारथि—मन्ये धृतस्त्रीवेश कोऽपि धूर्तोऽसि, पर नाह वेशेन दर्पिष्ये। जिह्वां चर्वयिष्यसि चेत्करचपेटो धरां धास्यसि। व्रज, अपेहि, न तेऽवस्था (कशयाऽश्वौ ताडयति)।

सरोजि०—मूढ! मदाज्ञामवज्ञाय क्व पलायितुमिच्छसि, पश्य सज्जो भव।

सरोजिनी एकतो भूत्वा रथ्यस्य शिरोधरां कृपाणमोघकेन सद्य एव हारयाञ्चकार। गतग्रीवे चार्वति, अतिरोपकषाये च सारथेस्तुण्डे क्रोधोद्यमतरलनेत्रायां सरोजिन्यां समजनि जन्यम्। पादाहत कृष्णोरग इव प्रादुर्भूतमद करीव भीकरकाय रोपोच्छलद्गात्र स सरोजिन्या वराक्या उपरि कटकटायितदशन कृपाणपाणि पतित। परन्तु सरोजिनी सौन्दर्य एव केवल नाग्रगण्या, किन्तु कलाकलापालापिनामपि, यत स्तत्प्रहार व्यर्थीकृत्य रभीयसा हस्तेन तच्छिर फलमिव पक्व बिल्वस्य निपातयाञ्चकार। मृते सारथौ रथ्ये परारथ्ये च गन्तुमसमर्थेऽर्थे सफला सा सद्य एव रथान्मूर्च्छित वस्त्रवेष्टित पुरुषमेकमुत्तार्यापश्यत् फेनमृतमुखचन्द्रमन कुमुदचन्द्र, विधुरतमश्चन्द्रम्।

तमेव चिरस्यां दशामनुभवन्तं वीक्ष्य नालभन्ताश्रूणि स्थानमन्त। तानि सतमन्तर्गतदुःखताडितानि धावमानानि नेत्रद्वाराभ्यां बहिरागत्य तद्दुःखदुर्दिता

भुवमपि सिषिचुः। "कथमेकाकिनी शत्रुसङ्कुले सोपद्रवे विजने वने विलपामि। कोऽत्र सत्यां विपत्तौ साहाय्यमाचरिष्यती"ति चेतसा सतर्कीक्रियमाणा निपुणं नाडीं परामृश्य मूर्च्छां विज्ञय तदपनयनौषधीं तस्मा आघ्राप्य, काँश्चिदिन्दूनपि तन्मुखे नेनयोश्च निपात्य प्रतीक्षमाणातिष्ठत्। घटिकापष्ठांशेन स नेत्रे उन्मील्येतस्ततो व्यैक्षत, तावदेव प्रबलमदमत्। मुखं प्रोञ्छ्य यावदुत्तिष्ठासति प्रमदामेकां चन्द्रहासतारल्येन चक्षुश्चकितयन्तीं वीक्ष्य "नहि दास्त्रात्यन्ताभावशालिनि पुंसि श्रेयान् शस्त्रपातः" इत्याह।

सरोजिनी त्वेकतः पतितं सारथेः खड्गं लक्ष्यीकृत्य "गृह्णाणामुं खड्गमहमपि वीर कर्म दिदृक्षे" इत्युत्तीर्य योद्धुमसज्जत। घटिकां यावदभूद् बहुलविधानं जन्यम्।

"कस्त्वम्, अग्रहन् युध्यसे।"

"महाराज! एते दुष्टाः श्रीमन्तमावध्यानैपुरिविद्वत्तमहं ज्ञात्वा मनाक् सेवितवती। मूर्च्छनशिथिलाङ्गस्य भवतो मनोविनोदाय आलस्यापनयनाय च क्रीडिता, न त्वया, सैयं धृष्टता साधुशीलैः क्षम्या। सम्प्रति अनुकामीनं,[1] मीनमिव पीनं रथावशिष्टमश्वमारुह्य यथाभिलषित प्रदेशं प्रयातु देव', अहमपि यामि। "किंनाम देवस्य।"

"चन्द्रः" "कुत्र भवतो निवसति! किंच नाम भवत्याः।"

"पार्श्व एव नन्दनपुरं तत्रैव मम वसतिः आख्या च सरोजिनी स्मर्तव्येयं कार्ये" इति कथयित्वा स्वीयं गुल्फलम्बि, अङ्गरक्षक सकृदपहाय फट्कारेण धूलिकणानपसार्य पुनरायोज्योत्तरमनपेक्षमाणा, प्रस्थिता। चन्द्रश्च व्यतिकरेणामुना किंकर्त्तव्ये व्यमुह्यत्।

अथ विरोचनो रोचींषि समकोचत्। विदूरप्रसृतहिमततिताडनसंकुचितास्विव काष्ठासु प्राबल्यं बभूव तमसः। सर्वेनाकाशे तम स्तोमो व्यापप्रे। दुर्दिनानीव दीनान् तमांसि भुवं व्याकुलयामासुः।

दैवहतकेन हतः शाद्वलियेऽपि शिवभवनेऽपि सुखी न तिष्ठति। तस्यामृतमपि विषायते, सुखसाधनं दुःखायते, प्रसूनान्यपि प्रहारायन्ते, मातृमन्दिरमपि यममन्दिरायते। अहेतुका आपदः स्फारीभवन्ति।

---

१ अनुकामीनो—यथेष्टगन्ता।

यतश्चन्द्र सरोजिनीमनुचलितो गहने गहने मदमत्त इवैवाय ।

चन्द्र प्रथमन्तु ज्वलित जातवेदस महात्मानञ्च वीक्ष्य 'क्वाऽऽयातोऽस्मीति भीतोऽपि, महात्मन समीपमयासीदेव। स च चरणध्वनिना सतर्क आगन्तुकमपश्यत्। इतश्चन्द्रोऽपि साधुवीक्षणसमकालमेवाश्वादवतीर्य वल्गामाकर्षयन् साधोरभ्यर्णमुपेत ।

चन्द्र —(प्रणाम कर्त्तु मीहमान इव) भगवन्!

महात्मा—नाह प्रणम्यस्त्वया वधिक! वराका मुधैव हिंसन् भ्रमसि ।

चन्द्र —(महात्मनस्त्वनुचित कोप प्रशमय्य) महात्मन्! भवता कथ ज्ञातोऽस्मि यदह वधिक ।

महात्मा०—(हृष्टोऽपि कृत्रिमकोप प्रदर्शयन्) आम् महात्मन्! कृपाणपाणे! जगद्रक्षक! त्व नासि वधिक । वय स्मो वधिका । योगिराज! स्वागत तेऽस्तु ।

चन्द्र —(निरीहो वास्तविक स्तवनीयकीर्त्तिमहात्मायं प्रतीयते) महात्मन्। किं खड्गधारिण एव वधिका भवन्ति, किं मालाविक्रेतारो भगवद्भक्ता ? गङ्गाम्बुपायिनो दर्दुरा अपि स्वर्गसौभाग्यभागिन !

महात्मा०—नाह भवत उपमान शिक्षयामि । कस्याश्चन नायिकाया समीप व्रज ।

चन्द्र —लक्ष्योऽखिलक्रूरचक्षुषा, विपदाच, पात्य प्रेयसा त्याज्य सर्वदेहिनामस्मि। भवतापि वधिकपदेन सम्बोध्ये ?

महात्मा०—(शान्तो भूत्वा) अस्तु, उपविशासने । अश्व तरु आयोजय। कुटीरे शष्प वर्त्तते, अश्वाय देहि । श्वो गन्ता ।

चन्द्र —दया भविष्यति चच्छ्रीमताम् ।

अथ प्रलम्बया वल्गया वृक्षे नियम्य शष्पश्चाग्रे निपात्य महात्मप्रदत्त फलमूलादिक मुपभुज्य चन्द्रोऽपि महात्मन समीप एव कृष्णकम्बले पाण्डुकम्बलार्हे शयन कल्पितवान्। द्वयोरेव चित्त प्रचुरविचार पूर्ण द्वावेव च महोत्कौ प्रत्यैताम्। द्वयोरेव नेत्र सम्भाज सकुटिलेक्षणवीक्षण पारस्परिक भाव विज्ञातु मुखरिते आस्ताम्। परन्तु द्वावेवावसर प्रक्षाताम्। अन्तत स्वभावचतुरो महात्मैव वचसन्दोह प्रावर्त्तयत्।

महात्मा०—पान्थ! किन्ते नाम! का च जाति !

चन्द्रः—मां लोका 'चन्द्र' इति सम्बोधयन्ति। जात्या क्षत्रियोऽस्मि। महात्मन्! किं नाम भवतः?

महात्मा०—(स्मयमानमुखः) अस्य शरीरस्य 'शक्तिनाथ'—इति संज्ञा। अस्तु, चन्द्र! सत्यं कथयिष्यसि, यदहं प्रक्ष्यामि।

चन्द्र०—आम् देव! कथं स्यात्तिरोधानं करामलकजगतां भवतां पुरः।

शक्ति०—न तेऽङ्गानि श्रमक्षमाणि, न च प्रतीयते आहितश्रमं वपुः। न च विदितवृत्तान्तं मनः, न च क्रूरवृत्तिः प्रकृतिः। पुनः किमर्थं [1]च्यौत्नीभूयाटवीतोऽटवीं, पुलिन्दकुणिन्दा[2]न् धाव धावं पुरः पुरं नगादगं भ्रमसि। [3]कुन्दरवासिनो भवादृशा नाररु[4]रुरु[5]शोदितशिवास्कन्दनसिंहक्ष्वेडाव्याघ्रविजृम्भणव्यालकरालकेलिललिते-शार्दूलदोलनशाक[6]चावनविधुतधैर्यैं, [7]क्रुशक्र्‌टे अन्यान्यवन्यशीव[8]विसरद्धते, [9]सत्वनस्तितृ द्विपद्व्यासेऽवने[10] वनेऽनवना[11] भ्रमन्ति इति न चेत् कापि क्षतिस्तर्हि सङ्क्षिप्य कथनीयस्तावकोऽयं वृत्तान्तः।

चन्द्र०—किमविदितं भगवत्पादानाम्। सर्वं विदन्नपि बाल्यदाचरसि। धन्या भवन्तः, यैरखण्डाच्छेद्याकाट्यतपोहुताशेन भस्मितममितं कुलस्याघेनः। पावकपूतं वनमिवाङ्गारावशेषं पूतं प्रतिभाति येषां वपुः। धन्यौ भवतां जनितौ यावीदृशं पुत्ररत्नं प्रासूताम्। भगवन्! अलमेतादृशमलिनवृत्तं श्रुत्वा। भगवन्! भृशं दुःखितोऽस्मि, दुःखकल्मषयुजामसञ्जातसुखसूर्योदयानां भवादृशा भवविमोचका एव भवन्ति शुभाश्रया इति कवोष्णं निःश्वस्य चन्द्रः स्वकीयमुदन्तं विस्पष्टं न्यवेदयत्।

गलितयौवना कामिनीव यामिनी शैथिल्यमभजत। चन्द्रो निःशङ्कं सुप्तः। शक्तिनाथस्तु निभृतमुत्थाय, गतो यथेच्छम्।

अराजत प्राचीकामिन्याः सौभाग्यारुणसिन्दूरबिन्दुर्विशालभाले। बभूव चाम्बरात् उन्नतिपथे त्यक्तमेरुः पेरुः। प्रहरमात्रेणैव बभूव मध्यमह्नः। परन्तु युवराजश्चन्द्रः सुप्त एव। तस्यानल्पघोषा घोणा निद्राभरं व्याज्ञोत्। परं कोमल-दूर्वाङ्कुरभक्षण-

---

१ च्यौत्नो - गमनशीलः। २ कुणिन्दः शब्दः। ३ कुन्दरु वक्रगृहम्। ४ नररुः रानः। ५ रुरुर्मृगभेदः। ६ शाका=हस्ती। ७ क्रुश्वा शृगालः। ८ शीवाजगरः। ९ सत्वा - मक्षा। १० अवने - निर्जले। -११ अरक्षणः।

गतश्रमो हर्षकृतहेष. शरीरं धुन्वन् वाजी एनमुदनिद्रयत्। अथ चकितो भीतश्चोत्थाय क्व गतो मुनिरिति सकृत् सम्भ्रान्त. अथवाऽऽयास्यति किमस्माकमिति निश्चिन्त., स्नात्वा प्रचण्डबुभुक्षाक्षामवदनो मुनेराज्ञां विनापि कुटीकोणधृतानि फलानि समुपभुज्य वाङ्मारहद्याभिमुखं दण्डमार्गमाश्रित्यायासीत्।

नन्दनपुरप्रवेश एवासीच्छुल्कशाला। अध्यक्षेण चन्द्रस्याभूदालापः।

"भोजनालयोऽप्यन्तः?"

"आम्, भोजनालय., दौत्याधःकृतहिमालयो जलालयः। पत्रवाचनालय. भोजनसमये च नृत्यस्य प्रबन्ध, रात्रौ च मनोरञ्जनाय गानवाद्यमिति सर्वा सुखदसामग्री भवता पुरो नृत्यति"।

"कस्यां भूमौ स्थान दास्यते"।

"तृतीयायाम्, यतस्तत्रैव शङ्खवास्तरणास्तृताः सुसज्जा. पर्यङ्काः। महार्हा आसन्दः। विचित्राणि चित्राणि। सर्वा राजोचिता व्यवस्था।"

"घोटकस्य..."

"आम्, घोटको मन्दुरायां स्थास्यति। अस्मै घासादिकमप्यस्माभिर्दास्यते।"

"भोजनशालायां प्रबन्धः कीदृक्?"

"देव! सामिषं निरामिषञ्च भोजन पृथक् पृथक् स्थानेषु निर्माप्यते। सुपाचकपक्व वैद्यैः परीक्षितं विशुद्धं भोजनं दीयते।

"तर्हि निर्दिश पन्थानम्।"

"कियच्छुल्कमेतस्य"—

"प्रतिदिनं दशमुद्रा" इत्युत्तीर्य तालिकां समर्प्य "कस्यापि वस्तुन आवश्यकतायामहं सूचनीय—इति वदन् गत.।

भवने शौचस्नानवेशागारं आसीत्। स च स्नात्वोपस्थाय पाचकानीतं मधुरमधुरं स्वादु भोजनं प्राश्य भवनाग्रभूमावेव शतपदीं विरचय्य भृत्यानीत ताम्बूलदलमेकं सचर्व्य निरशङ्कमशयिष्ट।

* * *

एकस्मिन् भवने लघीयसि दीपाधाने स्थितः प्रदीपो मन्दं मन्दं प्रकाशते।

प्रकाशेनामुना न शक्यते शमयितुममन्द कौटं तमः। एकस्मिन् भग्नकाष्ठपीठे स्थितौ द्वौ पुरुषौ शनैश्शनैरालपतः।

"न जाने कोऽस्य कथ साहाय्यमाचरति वीर !"

"कापि विशेषा शक्तिरेनं रक्षति प्रबल ! परमधुनाऽस्माकं जाले तथा पतितोऽस्ति यथाऽस्यावशेष एव संवर्त्स्यति। कान्तिसिंहाय पूर्वमेव बहुशोऽस्य वधायावोचं पर न जाने स किमिव विचारयति, यतः 'गुप्तगुहायामेव प्रेषयितुमिच्छन् परमयं सारथिमथच निहत्य इहायातः।"

प्रबल०—(चायचषक निपीय) अस्तु, गत. सोऽवसरः, अधुना करणीय विचारणीयम्।

वीर०—विचारितमेव विद्यते। आवा तारस्वरेण चौरश्चौर.—इति कथयिष्यावः। सर्वेण सर्वे नष्टनिद्रा भविष्यन्ति, न चन्द्रः। यतस्तस्य भोजने पाचकेन प्रचुरं भङ्गा दत्ता। मादिनीमत्तः स नूनं शेते तद् दृश्यमेव। तत आवां तद्भवनस्याग्रे स्थितौ "अस्मिन् भवने प्रविष्टश्चौरः" इतिकथयिष्यावः। एष उपायः कार्यसाधक.। शुल्कशालाध्यक्षश्च मुद्राशतं दत्वा सानुकूलः कृत एव।

क्षणेनैव "चौरश्चौर" इत्युत्थितः प्रचण्डो ध्वनिः। जनश्चोच्चिद्रितः। चन्द्रस्तु सुप्त एवासीत्। शुल्कशाल.कोट्टपालोपि कोलाहलममुमाकर्ण्य ससहचरः समेतः। ते सर्व एव तेषां कपटपटूना कथनानुसारं सद्य एव चन्द्रभवन प्राप्ताः। पद्भ्यां कवाटयुगलमाजघ्नु.—प्रबलमाजुहुवुश्च पर स नोत्थितः। अन्ततः कर्णविस्फोटकेन 'धडधड' निनादेन चकित स उत्थितः। स्वप्नेऽप्येष शत्रु-भिर्युध्यमान एवासीत्। उत्थायापि 'धडधड' ध्वान कुर्वतस्तान् शत्रूनेव विज्ञाय सामर्ष- पर्यङ्कस्थ कृपाण पाणौ कृत्वा कोशादाकृष्य द्वारमुद्घाट्य युयुत्सु- सवृत्तः। को नाम मृत्योर्मुखे ऽत्मान निपातयेत्, सर्वे एव दर्शका- कान्दिशीकाः स्खलन्तो निपतन्तो दुद्रुवुः। केवल ससहचरः कोट्टपाल- प्रबलवीरवरौ च स्थिताः। कोट्टपालस्य मनस्यपि कृपाणपाणौ तस्मिन् दृढत्वमाप चौरविश्वासः। "महादुष्टश्चौरोऽय यद्नमपहृत्यापि युयुत्सुर्विद्यते,-इति चेतसा निश्चित्य ससहचरः कोट्टपालो वीरवरः प्रबलश्च युगपदेव खड्गपातचक्रुः। परञ्चन्द्रस्तु चन्द्रहासचालनचुञ्चुरासीद् यतस्तेषा मध्यादप्रोच्छल्य वीरवरशिरो भूमिसात्कृत्वा यावदपर प्रजिहीर्षति तावदेव पृष्ठतः प्रयत्नेन दृढमाबद्-

हस्तयुगलोऽवर्तत। तं च सामर्षा मुष्टिचपेटापादाघातैर्भृशं व्यथयन्तः कटुवचोभिर्मर्माणि स्पृशन्तो युवराजं प्राध्वङ्कृत्य[1] भीषणाकाराया कारायां निपातयामासुः।

* * *

प्रातः समयः। न्युष्टवायुर्नवीनं जीवनं सञ्चारयन् रयं मन्दोऽमन्दमानन्दं तन्वन् वाति। उदीयमानः सूर्यः पूर्वत एवारुणदूतं प्रेष्य स्वागमनं सूचयति। अमरेश्वरराजभवनमिव वीक्षितुमुच्चैः शिरा, पञ्चतोच्चप्राकारो रक्तभित्तिः कूपनिम्नया कण्टकिद्रुमया नितान्तदुर्गमया महत्या परिखया परीतो विचित्रकक्षो विहितरक्षो रक्षोदर्पघ्न अदभ्रदुर्गो राजते।

महाराजः श्रीमान् कामेश्वरसिंहो वाजिनमारुढ, एकाकी प्राभातिकपवनसेवनाय वनाय जगतः प्राकृतिकं सौन्दर्यं समयस्य रामणीयकं च विलोकयन् मनस्येव मग्न इतस्ततश्चक्षुर्विक्षिपन् यन्नासीत्।

सघनवटवृक्षस्यैकस्य तले आलवालकृतासनो माला विभ्रामयन्नेकाक्येवासीत् प्रचुरशक्तिश्शक्तिनाथः। कामेश्वरसिंहोऽप्येतस्य नितरां भक्तः एतस्य वैराग्यव्याख्याने सर्वोदयप्रवचने बहुशः उपस्थाय स्वमतुलात्मनो महात्मनश्चरणयोरार्पयत्। बहुश एनं नन्दनपुरागमनायाग्रहीच्च। तमद्यान्तोपविष्टं वीक्ष्योपगम्य अश्वादवतीर्य देहं नमयन् 'साधो! प्रणमामि"—इत्याह।

शक्ति०—(शनैः) चिरं जीव।

कामेश्वर०—(शक्तिनाथेन निर्दिष्टशिलातले उपविशन्) भगवन्! अनीहया औदास्यं कथम्। केनाप्यपराद्धं किम्। कथं दुःखित इव प्रतीयते भवान्।

शक्ति०—राजन्! अपराधस्तु साधुसद्धर्मरक्षितरि भवति भर्त्तरि न सम्भावयितुं शक्यते। परन्तु यस्य योगक्षेमनाशिताशापभीतयः साचाराः प्रजाः सुखं शेरते, येन विश्वविश्रुतयशसा शशाङ्कनिर्मला ख्यातिर्वर्द्धमानमहाप्रचारेण धर्मेण सदैव दिगन्तं नीता, यस्य प्रभावेण त्यक्तवैरा विरोधिनः पशवोऽपि परस्परमङ्कादङ्कं क्रीडन्ति स्म। येन चुरापहृतहिरण्यं समुत्पादितभयं भृशं दण्डितं लुण्टाककुलं यस्यारातिहृदयदाहकेन प्रतापवह्निना

1 बन्धनेनानुकूल्यं विधाय 'प्राध्वबन्धने।'

विद्रवभीतयो भामिन्यो गृहाणा द्वारमेव नात्र य पितरमिव पालक मातरमिव मानदात्व भ्रातरमिव क्रीडाकर गुरुमिव शिक्षक, कुवेरमिव धननिचरनूतकोश प्रजा मेनिरे प्रजापतिम् तस्यैव वर्णाश्रमव्यवस्थापकस्य सनातनधर्मसमाश्रयस्य श्रीमतो नन्दनपुरनरेशस्य शस्यश्यामलन्द योगिजनसम्पदा पद र राज्य नष्टप्रायमिति विचार्य दु खित मे चेत ।

'किमिति कथमिति कुत इति" वामप सगव सविस्मय सभय सनयनेत्स्कार सासूय कथितवति श्रीमति नन्दनपुरब्रह्माण्डब्रह्मणि स पुन प्रावोचत्।

वीरवर! वयमेवागा शयाधारा विचराम । समेषा मुग्धाप्यपि मानवमहोदधि लीनानि रत्नरत्नानि परेशादरया विद्म ।

कामे०—आम्, निश्चितमेव।

शक्ति०—भावी विमलेश्वरजामाता, माता वारवैशाखा राजन राजकुमारो भवत्पुरे समायातो राजकीयनुकम्पाल्पानावास परिकल्पितवान्। स चाधुना धूर्तैश्चौरोद्धतो व्यथितश्च कारायां शय्या निर्विनिगडित आस्ते। तमुन्मोच्य तत्प्रसादाय स्वपुत्रीं सपोत्रिनीं च समस्तगुणान्यपि तस्मै प्रदाय सुखाभविनुमिच्छसि चद्गत। मा नाम अतुल शास्य विपुलकौशलसुस्थूल देश स्वरक्षितभुव भुव वीराणा, रोरुद्यमानचेल्लियमान चक्लिश्यमान नारीव्रातबालसमुदय कार्षीः। महती क्षतिसम्पन्ना सेनस्य। राजनगराधिपतेरस्य पितुरपि प्राप्तप्रशस्तिका चमू। तस्यमय एव हृदयशल्यरु मद्वाक्यम्।

कामेश्वरसिंहस्तु श्रुत्वैतच्छिथिलाङ्गो गूढ सम्मन्त्र्य प्रजविना जवनेन गुल्कशाला सद्य एव प्रापत्। शौल्कशालिकाश्चासूचितमहाराजागमनसम्भ्रान्ता भीता हस्तयुगलान्यायोज्य प्रणमन्त क्षमा याचमाना अयान् भापनाथा एकत सन्तस्थिरे। क्वास्ते कोट्टपाल" इत्युक्तेऽङ्ग सकुञ्चन् विदूरत एव प्रणमन् महत कृच्छ्राद्धृतधैर्ये आययौ स ।

महाराज०—कति सवका सन्ति सम्प्रति।

कोट्ट०—देव! आगत प्रबलप्रतापतपनेन नाशित भीषणवृत्तसन्तमसम्। तदह द्वौ सेवकावेव पयासौ विहाय नियुक्तवानस्मि। अग्रे श्रीचरणाभिधानम्।

महा०—नपि नाभूत्कापि घटनागतेऽह्नि?

कोट्ट०—जगत्पते! रात्रौ वनपङ्क्ता चौरेणकेनापहृत प्रचरो रा । बन्धन

समये मारितश्चैक पथिक । अधुनापि स सिंहवद् गर्जति। श्रीमद्भ्यो निवेदयन्नेवास श्रीचरणै पूर्वमेव पृष्ट ।

महा०—(विमनायमान इव) कोट्टपाल! न्यायाधीशतामुपगतोऽपि अविमृश्य कारी मूढ इव अन्याय्यमाचरसि। किं तस्य समीपे चुराप्रमाणमासादितम्!

कोट्ट०—(विभ्यन्मुख पश्यति) प्रमाण तु नाधिगतम्। यथाज्ञाप्यते।

महा०—तत्कथ स निगडित । त्वादृशे न्यायभार दत्त्वा विषीदामि। अस्तु तस्य कृते राजसम्मानमायोजय। त्वरा विधेहि।

कोट्ट०—दयानिधे! यामि

महा०—आम्, शीघ्र यतस्व।

कोट्टपालो राजोचिता सामग्रीं विरचय्य मन्त्रिणमपि विदितवृत्त विधाय राजाह्वानास्तु पायनद्यादाय क्षणैरेव राजान्तिकमायया। तानि च उन्मोचितशृङ्खलाय सदावास स्थिताय चन्द्राय राजोपहारेण प्रैष्य स्वागमन ससूच्य आजगाम आतिथ्यवर कामेश्वरसिंह ।

चन्द्र०—(उत्थाय अञ्जलि बद्ध्वा) श्रीमच्चरणसरोरुहयो प्रणमत्ययम्।

महा०—चिरञ्जीव! अज्ञानतो भ्रमतोऽनुष्ठित नृपकृत्य मर्षणीय कुमारेण।

चन्द्र० कथमसह्यो भारो निपात्यते।

महा०—नहि नहि! युवराज! ज्ञातोऽसि यच्छ्रीमानेव राजनगर प्रजापति श्रीमानेव विमलपुरनराधिपकन्यारत्नसौभाग्यभागी। मन्ये एत द्राज्यमपि भवत केनापि सम्बन्धेन पवित्र भविता। अतो मर्षणीया इमे भवतो भृत्या ।

चन्द्र० क एषां दोष क्षम्यां एते। दैव हि जगता मानापमाने सुखदुःखे लाभालाभे च हेतु ।

महा०—कुमार! उत्कण्ठामावहन्ति दर्शका तत्सपद्यव राजधानीं सुनाथय।

अथ चन्द्रो घोटकारूढोऽसङ्ख्यजनानुगतो राज्ञा स्वय निर्दिश्यमानविशिष्टरचनो राजधानीमार्ग य सज्जनविश्रमे व्यश्राम्यत्।

शक्तिनाथस्यानुजं पुरोहितमामन्त्र्य विवाहतिथिं निश्चिन्वति राज्ञि चन्द्रेण न्यवेदि यत् पूर्वं कमलया सह विवाहो भविष्यति तदनु चान्यो विचारः, इति ।

विमलपुरे व्यग्रतामाकलय्य श्रीकामेश्वरसिंहेनामन्त्र्य कुमुदिन्या मुक्तं भूपेन्द्रं विमलपुरं प्रैषयदलिखच्च ।

देव, सादरमभिवादनम् । श्रीचरणानुकम्पया कुशलमिह परेशानुकम्पया प्राप्तव्यं प्राप्तवानस्मि; सर्वं वृत्तं भूपेन्द्रो निवेदयिष्यति । श्रीमन्नन्दिनी नाद्यापि स्वस्था, स्वास्थ्यप्रदः सुलभसर्वसुखसामग्रीको रम्यश्चाय प्रदेशः—इति कतिचिद्दिनान्यध्युष्याऽऽयास्यामि, न कापि व्यग्रता कार्या । शेषं कुशलम् ।

ललितवनम् । } श्रीमताम्
चन्द्रः

* * *

वीताध्यर्द्धद्वियामस्तमस्विनीदिष्टः । ज्योत्स्नाजयिनी महार्हमण्डनमण्डितानां हर्म्याणां प्रभा भासते स्म । तन्त्रीरणरणकेन यशोविमलविरावेण कोकिलकाकल्या विलासिनीविभावैश्च विलसति स्म ललितवनम् । अकस्मान्मेघैर्मेदुरं दुरवस्थं जातं जगत् । निशावशाल्लब्धावकाश निशीथसहायेनाधिकप्रसरं तमश्शासन साहसेन विततम् । यत्र तत्र विद्युद्दीपा राजद्रोहिण इव शासनमवहेल्लितुं दृढप्रतिज्ञाः, किन्तु तत् प्रबलसेनयाऽनयारब्धराज्यो राजेव तांस्तिरस्कर्तुमवकाशं गवेषयति ।

अस्मिन्नेवावसरे हसित्वा तडिन्मिषेण, साहसमिव वर्द्धितुं तमसो वारिधरैः समारब्धः सपटपटाध्वानं पृथुविप्रुट्कराघातः । येन युगपद्धीतनिद्रातन्द्रं सकलं कलकल-विकलं बभूव विष्टपम् ।

चन्द्रस्यावासे कमला निरशङ्कं पर्यङ्के गतातङ्का राङ्कवास्तरणा, रणाधिगता विजयलक्ष्मीरिव, विलक्षणश्रीः, दुर्जनसंसर्गेणापि अलब्धकलङ्कपङ्का स्वपिति । बिन्दुप्रपातभवेन-रवेण चन्द्रनिद्राऽऽद्रुवत् । तदैव देवचेष्टितं संघटयन् जवनिकान्तरितविग्रहोऽन्तःपुर-विहारी प्रहरी—"देव ! स्वामिन्याः सरोजिन्याः सकाशादागत एको भृत्यो ललितवन-बहिर्द्वारि तिष्ठति, नायमनेहा देवदर्शनस्येति क्रियासमभिहारेण कथ्यमानोऽपि सोऽत्यावश्यक किमपि विज्ञापनं विज्ञाप्यमिति कथयति, अत्रे देवः प्रमाण" मित्यसूचयत् । "सूचय

वहिरेवायामि'—इत्युक्त्वीयं वस्त्राण्यायोज्य, बहिरेत्य, इतस्ततः पर्यट्य, बहुश आहूय कमपि पुमांसं नापश्यत्। किमभूदिति चिन्ताचक्रचक्रितचित्तश्चन्द्रः परामृशन् सद्य एव प्रतिनिवृत्तः।

*　　*　　*

'प्राभातिको मातरिश्वा ललिता लेल्लकुसुमा सुगन्धविसरमुद्वमन्त्यो वासन्त्यो लताश्च सुखयन्ति त्वाम्? त्वन्मेलनदृष्टपर्वविधुतस्मृतिरहं वृत्तमेव नापृच्छम्। तत्कथय कथं व्यवहृतं त। अहं स्थानस्यामुष्य परिचितोऽस्मि त्वमपि किमत्र कदापि समायाता?

कमला०—शशधर, यस्मिन्समये मयूराणां नादेन मम मूर्च्छा नष्टा, सम्मुखे मुखायोजितशस्त्रास्त्रयो भयङ्कराकारा कारुण्य वनदहना असभ्यतानिधयः आकलितचतुराविग्रहाः, महा ढ्योत्पातिका पुरुषा दस्यु न्यक्कृतमृत्यव स्थिता आसन्। ते मामाहु—

'कमले! केनाप्यविज्ञातोऽयं प्रदेशः, चतुरैरप्यज्ञेयोऽस्य पन्था अस्मद्व्यतिरिक्ता गमने च भवेत् मरणम्। अस्माकं देवः कान्तिसिंहः कार्यवशाद् बाह्रीकप्रदेशान् वीक्षितुं गतस्तदाज्ञयैव वयं तदनुचरास्त्वामानीतवन्तः। सोऽपि समये भवतीं द्रक्ष्यति। तावकीनोऽयं प्रदेश इति विज्ञाय स्वस्थानं स्वानं व्यवहरतु भवती इत्याभाष्य चक्षुषो-रगोचरे सवृत्ता। अहं च सत्यपि क्षुत्पिपासाशामके फलबहुले चिन्ताचक्रचाल्नीक्रिय-माणचित्ता सर्वं वासरमत्यवाहयम्। तस्मिंश्चिन्तापारावारे मदीयचातुरीतरणिर्निमग्ना। साहं छद्मवेशान्, शस्त्रप्रयोगान्, विविधसाहसिककार्याणि वेद्मि—इति साहस सरभसं चूर्णितम्। दुःखितं स्वान्तं निजजनान्सस्मार—अहह? क्व पिता। क्व जननी हा! हन्त! सा तु दुर्भगाया मम शैशव एव स्वर्गता। पालयित्री धात्रीव धात्री अपि हन्त कीदृग्दशा अहो साम्प्रतमेव आनन्दाशाकिरणावली समुदिताऽऽसीत्। विचारितमासीद् यदधुनाऽधमितसुख सुखं चिरं लप्स्यते। हन्त! क्वागतास्मि, कीदृशी मन्दभागाऽस्मि। 'वा' वेतिरससम्पूरितवचोभिर्भुवं विमोहयन् क्व भ्राता मे रामः। एवमहं विचारयन्ती चिरायात्मानमेव व्यस्मरम्। लब्धबोधया मया त एव त्रय सम्मुखे स्थिता इति कथयन्त प्रेक्षिता।

देवि अस्माकं स्वामी, देवः कान्तिसिंहोऽतिशयसुन्दरः। सौन्दर्ये चन्द्रसदृशश्चरण दास्येऽपि नाधिकृतः यथा स सद्रूपो भूपोऽस्ति, तथा गुणी ज्ञानी मतिमान्

भवान् ओजस्वी यशस्वी वाग्मी चातुरीचातुरीतन्तुवशोऽप्येक एवास्ति। अतो भवतीं रतिरमणीयां वयं सादरं प्रार्थयामो यदत्र भवती नः स्वामिनी भूत्वा निजवयसस्य, यौवनस्य च आनन्दसन्दोहमनुभवन्ती चिर रमताम्। मा नय प्रचण्डचण्डदीप्तौ चिन्ता दुःखरूपौ कमलकोमलमम्लानपेशलमिदं शरीरं पातयतु। चन्द्रसदृशा वदनो राजानलस्त्वच्चरणाम्बुजरेणुरागानुरागिणः सन्ति, मन्यस्वेदं सद्य" इति।

निशीथ एकदा शोचन्ती दुःखमग्निलाम्भिता एवा स तावदेको मनुष्यो मदभिमुखमागच्छत्स्म। अहञ्च "शङ्कया भीता पादपदमस्ति निलीना समभवम्। स मामन्विष्याह।

"कमले! त्वदनुचरोऽहं भवतीं स्थानादस्मादुद्धर्तुं निर्गतोऽस्मि। परञ्च मा एवं मां सदयमनोरथं द्रष्टुं नेहन्ते। अधुनावसरोऽस्ति सत्वरागच्छ मा भैषीः। अनुत्तरन्त्यामपि स मां तत्करदन्व नेतुं प्रस्थितः। तावदेव वनान्तरचरण्टैः निपतितः। भीताहमन्द्रहासचारुन्धेन मूर्च्छिताऽभवम्। तस्य का दशा सम्पन्नेति न जाने। ततः प्रवृत्तं कार्यं वचः। दुःखविचारैरप्रभावः। तथैव प्रभा। शोकशङ्कुना व्यथनम्। प्रजागराजगरेण दशनम्। सन्तापविह्नेन भञ्जनम्। तमोभिर्वीक्षः। अस्तमुदगामिरातिनिः वेला।

अहन्तु तादृशजीवना-मरण श्रेयो मन्वाना वचनचातुर्याचित्त विमोहयन्त्या-स्कन्धमवलम्ब्य भवनमगाम्। तस्या निर्मायपरिचर्यया स्वल्परेव दिनैरधिगत-स्वास्थ्याऽभवम्। एकदा सरोजिन्या' प्रिया सखी चपला सरोजिन्या हृदयभाव न्यवेदयत्। अहमपि तदाभारनम्रा प्रतिज्ञातवती। सेय देव, मम भवतश्च जीवनदात्री रमणीया रमणी सत्कुलीना मम भगिनीनिर्विशेषाऽवश्यमुद्वाह्या।

"कथमेतत् सम्भविष्यति, सरोजिनीसदृश्यो नरायमाणा रमण्योऽपि पुरुष-मपेक्षन्ते!"

"स्त्री धनम्, धनस्याधिपतिना रक्षकेण भवितव्यमेव।"

"अद्य स्त्रिय पुरुषमनुजीवन्ति, नैतच्छोभार्हम्। आद्याशक्तिप्रतीका स्त्री रक्षायै पुरुषमपेक्षते! जगत प्रसू पालिका स्वपुत्रैरेवमता स्वपुत्रानेवाह्वयति। यां पितृतोऽधिक वन्द्या विप्र, आर्त्ता यामेव भगवत्स्थाने स्मराम सा पुत्र पति भ्रातर वाऽऽह्वयेद् रक्षितुम्। अशोभनम्। स्मर्यताम्, अपरेण रक्षित कदापि सुरक्षितो न भवति, य स्वरक्षित स एव सुरक्षित। यथा नर स्त्रीनिरपेक्ष जीवन यापयितु शक्तस्तथैव स्त्रियोऽपि पुरुषनिरपेक्ष जीवन व्यतियापयितु शक्ता स्युस्तदैव ता स्वरक्षिता सुरक्षिताश्च भविष्यन्ति।"

"सत्यम्, पर स्त्रीषु मातृत्वभावनाऽन्तर्निहिता। मातृपदमनधिष्ठाय न स्त्री स्वा कृतकृत्या मनुते। अत स्त्रियाऽवश्य पतिमत्या भवितव्यम्। भावनामेना स्त्री केवल शातु समर्था न पुमान्। मातृत्व विना स्त्रीत्व न सार्थकम्। तच्च विवाह स न पुमासमपेक्षते। पुमाश्च सुशील सुन्दरो विद्वान् कुलीनो धनी समवयस्को वर-स्तदा वरणीय एव। एकदा यदि वृतस्तदा वृत एव सवदा। भगवान् कृष्णोऽपि नरकासुरवधोत्तर मनसा कृष्ण पतित्वेन वुवूर्षूणा भाव स्वीचकार एव। परिस्थिति प्रबला। भारतीयसर्वस्व वचास्तु रक्ष्यमेव।"

पादध्वनिं विभाव्योत्कर्णेन चन्द्रेण त्रयो जना अवलोकिता। भीता कमला तान् परिचीय सन्धय आदिशत्। चन्द्रस्तु ता मध्यस्थकाष्ठपीठस्याध स्तात् कृत्वा "पश्य पौरुषम्, एतेऽपि फलमनुभवन्तु—" इति कथयन् सतर्कोऽवातिष्ठत।

'कस्त्व रे, अप्रवेश्ये भवने प्राविश, तदास्वादयाशाधनपादपफलम्, पातय च

कान्तिसिंहखड्गधाराप्रवाहे स्वम्, नैशी योजना विफलीभूता तामधुना साधयिष्यामः" इति सङ्गर्ज्य युगपत् खड्गधारया अभ्यपिबन्। परन्तु चन्द्रस्तु न "नाऽऽउम्कली" फक्किकासहकारमञ्जरीपीयूषपानपीनमधुपपुङ्गवः, न च 'व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नसामान्य-लक्षण'मण्डनपण्डितः, नवाद्वैतवादिवादीन्द्रवैदान्तिकप्राप्तपाटवः, किन्तु करवालकेलिकोविदः, यत आपततस्तान् मर्यादयापहृत्यैकेनैव लघीयसा हस्तेन कान्तिसिंहशिरः समपातयत्। तस्य कबन्धे च पतिते प्रकर्षामर्षी 'चन्द्र! इयमागता तेऽस्तमनवेला, वीरवद्दुःखमपि महताभीलेन यथाकथञ्चित् सोढम्, परं वोढुमेन कथमपि न शक्ष्यावहे, अधुना तु ते शोणिताञ्जलिभिरेवैनं तर्पयिष्यावः। स्मर स्वेष्टदेवम्, भव सज्जः इति साक्षिविक्षेपं व्याहृत्य गृध्राविव जिघत्सू खड्गाभ्यां युगपदाक्रम्यताम्। परञ्च चन्द्रोज्ज्वलहासः स चन्द्रहास एव तौ समरुधत्। प्रशस्तकरवालपतनसमकालमेव तयोः खड्गौ भग्नौ। चन्द्रस्तु अविज्ञायैतद् भृत्यशिरोऽन्वनृतत्। ततो गतासिः प्रबल.—"चन्द्र! किं निःशस्त्रश्शत्रुर्हन्तव्यः! धर्म एष आर्यवीराणाम्? अस्तु जातन्तज्जातम्। सम्प्रति सम्प्रतिष्ठ! द्वन्द्वयुद्धं समाचर मया सह। चन्द्रस्तु किमपि विवक्षुरपि वाग्वेगमवरुध्य योद्धमेव सद्यः सज्जो बभूव। निबद्धकौपीनेन बभूव सावकाशदर्शनं सपार्श्वपरिवर्त्तनं मुहूर्तं यावज्जन्यम्। परन्त्वन्ततः प्रचण्डदोर्दण्डविक्रमो युवराजस्तं कटितटे समुत्थाप्य भूमौ प्राक्षिपत्। स च विहसन् तत्क्षणादेव चन्द्रचरणयोर्निपत्यावोचत्,—"देव! ममैषा प्राणसमा उपांशु प्रतिज्ञाऽऽसीद् यद् यदि कदापि कोऽपि मां द्वन्द्वयुद्धे निपातयिष्यति तस्याहं दासः भवितास्मि" इति। तद्देव! अद्य प्रभृति प्रभूणां चरणशरणः संवृत्तोऽस्मि इति।

वस्तुतो रत्नं स्थान एव राजते। ईदृशपुरुषरत्नस्य, सत्यवीरस्य, अतुलसाहसस्य उपचन्द्रमेवावस्थतताऽऽसीत्।

* * *

विविधधातुरत्नकुसुमस्तवकेषु मकरन्दधवलेषु राजतपत्राच्छादितेषु स्तम्भेषु लसतां कर्तुं रसनकर्त्तितवल्लरीनरीनृत्यमानाभिस्फुरीर्णा वासदशान्दलरजूताटदरम्बमलविदित-सेवकजनचातुर्याणां, रत्नवासोवितानानामथ आयुर्वेदशास्त्रमिव लक्ष्मीविलासभाजि लसन्मन्दिरं राजकुलं राजते। तत्रैव च झणझणायमानमणिनूपुराः पूर्णा वयसा,

वयसामपि विमोहिन्य, काञ्चनकाञ्चीकिङ्किणीशिञ्जितरञ्जितसमस्तशास्तालस्यजना, कदापि कटितटे तटे कामकूलङ्कषाया, कदाचिदुरसि रसिकचेतोहरे, कदाचन शिरसि रसिनशिरोरत्ने, कदाचिद्धस्ते हस्त न्यस्यन्त्य, मोहिन्य इव धृतामृतामना, लोल—त्पटप्रान्तप्रक्ष्यमाणाङ्गचेतोहरा हरिणाक्ष्यो वारवध्व परममधुर, सवद्रस, पञ्चजनान् गानेन सकर्णवद्धमाकर्षयन्त्यो गायन्ति। वैणविका पिकस्वरा स्वरान्समेत्य मार्दङ्गिक सह सहस्त्वत्कार तार रणरणायन्ते। भ्रू कुसा भ्रू विक्षेपजनितविक्षेपा जनान् समूह यन्ति। सर्वत्राभिनवो हर्ष, पताका अपि अभ्र लिहन्त्य फर्फरायमाणा दु खोदन्ताकर्णन दु खितमाकाशमद्य वीजयन्तीव। प्रबलनेजस्का निष्कासिततमसस्तडित्प्रदीपा अहो ? निशामपि दिनयन्ति। सर्वत्र सौगन्ध्यम्। समस्मिन् मन प्रमाद। सर्वत्र हास्यलास्ये। स्थैर्यमजीवेषु श्रूयमाणगानगमने चालस्यमासीत्।

सोऽय महोत्सवो विविधाख्याननिपुणैर्विद्याविलासशालिभि कविकोविदै केवल शान्तस्वान्तवेय सकमलस्य च द्रस्येयत् महत् कष्ट विपद्य सकुशलनिवृत्तौ स्वागत सम्पादनाय विहित आसीत्।

रात्रिमुख एव दीपा प्रज्वलिता विमलपुरवहिर्भूमौ चन्द्रप्रासादपार्श्वे स्वागतसामग्रीव्यग्रो जन दृश्यते। वितानस्थायिना सर्वेषा चक्षू षि सम्मुखीनमार्गे लग्नानि सन्ति। अस्मादेव ससरणाच्चन्द्रागमन सूचितम्। हर्म्ये न सज्जितारात्ति सरोजिनी नितरामुत्का। प्रतिक्षणमितस्तत सखीर्द्रष्टु प्रेरयति। मरुत्तराणां दीपप्रकाश सर्वजनसमूह मुखरयामास। पश्यत एव द्वे मरुत्तरे समाययतु। अन्त पुरीय सजवनिक मरुत्तर प्रासादमाससाद, परश्च वितानभूमिम्।

अथ सकललोकजयशब्देन सह समवतीर्य महनीयरामपालचरणसरोज नयन नीराभिषिक्त प्रणम्य, सगद्गदमाशिष प्रतिगृह्य सभासदैर्यथायोग्य सत्कृतो रामपालनिर्दिष्टमासनमलङ्कृत्य, उत्तजिज्ञासातिशय विज्ञाय भूपेन्द्रभणितमपि सङ्क्षेपेण निगद्य राज्ञाऽऽस न्य विश्रमाज्ञा जग्राह।

अथ महाराजो राजसदने दिनादौ दोषज्ञो, वरिवसिता सिताम्बरो वरो वीरेषु प्रताप निर्जितमहेन्द्रो भूमहेन्द्रो रामपाल, नन्दनपुरेश्वर कामेश्वरसिंहश्च मुख्यै सामन्तैरशेष विद्यानिधिना निधिना जराया राया होतदुवेरेण मतिमता वरेण मन्त्रिणा मतिवरेण,

आयुर्वेदमहोदधिमथनमहनीयमहिम्ना हेम्नो दाम्ना विभासितगलेन धाम्नां धाम्ना नाम्ना चन्द्रशेखरेण शेखरेण ज्योतिर्विदा कनकदण्डोपनेत्रेण क्षेत्रेण सकलकलानां श्वेताक्षिपक्ष्मणा कुरुगुरुणा च परामृशति। मध्ये हस्तलिखिता भूर्जपत्रमयी जीर्णाऽऽशीर्णा स्वर्णाक्षरैः स्वच्छावासोवेष्टितापि न मनोमोहिनी विराजते राजते पत्रे पुस्तिका। यस्याः पत्राणि इतस्ततः प्रचाल्य किमपि हस्तपवमु गणयन्ति गणकवरेण्याः। दिनेन दैवज्ञेन निरचायि चैत्री पूर्णिमा विवाहे वरणीयतमा वेला च त्रियामायास्तृतीयो यामः।

"सौजन्यजन्मनो नवेन्दुवर्मणः समागमन लघीयसि समये न सुघट पुत्र्यश्च पूर्णवयसो वेलाविलम्बायास्याः"—इति मन्त्रिणामन्त्र्य कमलाविवाहसमारोह समारभते रामपाल.।

* * *

"महात्मन्, महाराजः कामेश्वरसिंहो रामपालश्च पत्रमिद प्रैष्य जिज्ञासन्ते यद् यानादिकं कदा किं वा प्रेष्यम्"—अश्वादुत्तीर्ण. सादी प्राह।

महात्मा च जत्वपहाय पत्र पपाठ —

आत्मीया',

एकोऽहं बहु स्यामिति समायमह्मणः प्रथमसन्दनेन व्यक्तं चराचरसृष्टेर्मूलतत्त्वं पुरुषः प्रकृतिश्च। युगलीभूय सन्ततिपरम्परया सृष्टेर्धारायाः अनवरत प्रवाहणं पुराणपुरुषस्याभिल.प। विवाहस्तस्याभिव्यक्तिः सामाजिकी। सोऽयमभिल'षो रामपालस्य पुत्र्याः कमलाया', नन्दनसिंहस्यात्मजायाः सरोजिन्याश्च महामहिम्नो राज्ञो नवेन्दुपालस्य पुत्रेण श्रीचन्द्रकुमारेण चैत्र्यां पूर्णिमायां विवाहरूपेण सम्पाद्यते। श्रीमन्त उत्सवसम्पत्तये उपस्थातुं प्रार्थ्यन्ते।

कामेश्वरसिंहः रामपालः

नन्दनपुरम् विमलपुरम्

कोणेऽङ्कितमासीत् :—

सचिरोऽभिलाषः श्रीमतामाशिषा सम्पूर्यते।

अनागमनेऽपूर्णतेव प्रत्यवेष्यति। स्वतन्त्रा महात्मानः

ध्यं तेभ्यो विधिः। —सरोजिनी

महात्मा—सूचय समये समेष्यामि। न यानस्यावश्यकता।

* * *

अथ चैत्री पूर्णिमा या वह्नी कालाल्लोकश्रवणयो रणरणायमानाऽऽसीत्।

अथ तुच्छतुच्छस्यापि मनुजन्मनो मनोभवभवनमनोरमे रमेशकृपाकटाक्षवीक्षिते क्षिते पत्युर्भवने नास्ति वार्त्तावकाशलेशोऽपि। यत्र तत्र पन्थान परिष्क्रियन्ते, द्वाराणि द्वाराणि रच्यन्ते, आसन्द्य आसाद्यन्ते, जवनिका विस्तार्यन्ते, साश्वा सादिन शिक्ष्यन्ते, द्विपा भूष्यन्ते, शिबिका साध्यन्ते, भृत्या भर्त्स्यन्ते वासासि सुवास्यन्ते।

अथ भूते दिनस्य साये विमाता पुरा इव विभावर्या नि सारिते प्राय उडुगणऽपनीत-तपनतापासु धूपधूपितासु दिक्षु, तौभध्वानेन बधिरीक्रियमाण च दिगन्तराले, सन्तमस नाशप्रवलशक्तिकैर्विद्युल्लुकैर्दिवाभूताया यामिन्यां, उपगवाक्षमागच्छत्कामिनी नूपुरशिञ्जितजितजितेन्द्रिये समये, सभुशुण्डिकौतान समान सतर्क कर्केषु घण्टापथमुभयत स्थितेषु कटिप्रान्तावलम्बमानकरवालेषु अबालेषु राजपुरुषेषु, सुगन्धनीरेण रेणुरहिते सिच्यमाने ससरण, स्वस्वभवनेषु वनेषु सौन्दर्यशालिना ललित गायन्तीषु ललनासु, सपुष्पाक्षतोत्क्षेपमाशिष वदत्सु दत्सु समाहितताम्बूलीदलेषु विप्रप्रवरेषु सजयध्वनि विचलयन् विश्व, कम्पयन् सकाननां मेदिनीं प्रारब्ध प्रचलित मदित सवसद्वो गद्दामद्द।

अमत प्रश्तेतरवाद्यधिकारो ढक्काढक्कार, ततोविहिताश्वस्थितय प्रमतयो मौरजिका, तत सुवासता सुखाङ्गुलिमायवादकाना पङ्क्तय, ततो विपञ्चीप्रपञ्चचतुराणा, काकलीसमाकृष्टजनमनसा सुवेशसदलङ्काररचनाविजिताप्सरसा, हेलासमाकृष्टकामिना वारभामिनीना निपतत्वे नराजयो राजय, ततश्चवन्महोष्णीपमस्तकैर्दृढबद्धपरिकरैर्वल्गाकर्षणसव्यानकरैस्वलम्बितनिस्त्रिंशै सादिभिराक्रान्तपृष्ठा उच्छल्लपुच्छप्रोत्साहिता इवाग्र गन्तुमुत्थापितपादा, पादाङ्गदभूषिता सिता असिताश्च, हेषाहर्षितस्वामिनो मीननयना सद्रयना उत्थापितकर्णा अनेकवर्णा आजानेया, तत क्षुद्रघण्टिकाविहित-महारवाणां वाणाङ्कवियोभिर्वीरवराधिष्ठिताना, कनककलशशोभमानशेखराणा खण खणायमानानां रथाना वोथ्य, तत स्वर्णसूत्रसूत्रितचित्रचित्रितकौशेयकुथतिरोहित-

कृष्णवर्णानाम्, महार्हरत्नखचित-स्वर्णपीठस्थित-समधिकसमरजयिसामन्तकुमाराणाम्, महा-मानप्रसरत्स्कन्धोग्रगतीनां , करिणां शुण्डादण्डविराजितसुगन्धिपुष्पदामनीमभितो-भ्रमद्भ्रमरश्रेणयः श्रेणयः, ततो भुशुण्डिकामलम-चक्रशिखितसितासिधेनुकाशोभित-स्कन्धदेशानां परेषां करकलितनिष्कोशकरवालानां तीक्ष्णफालशोभिकुन्तधारिणां, राजपुरुषस्त्वस्यापकवर्तुलपित्तलपट्टिकालङ्कृतवक्षःस्थलानां, स्थलानां वीरतायाः स्थाना-राजनि, जनिमतां सत्कुलेषु, कुलेषु धनुर्धारिणां वीरवराणां वारः, ततो मुक्तानिर्मित-राजहंसमिथुनेन, मध्यमुक्ताकलापेन, नीलमणिना रचितमयूरयुगलेन भास्वता कनक-दण्डेन रक्तकौशेयसम्पादितेन, पृष्ठस्थसामन्तगृहीतेन, विशदेन आतपत्रेण प्रकटित-सुषमः, उभयतो हस्तिवरारूढाभ्यां सामन्तराजभ्यां प्रचाल्यमानचामरयुगलः, महार्हरत्ननिचितकिरीटविभासिभालो लोलालकः, शमीपनकुसुमकोरककुङ्कुमकाश्मीर-चर्चितमुखमण्डलः, दशननिर्जितकलानिधिः, कलानिधिः, स्वर्णसूत्रस्यूतपुष्पलतास्तवक-भ्राजा, रक्तकौशेयेनाप्रपदीनेन वक्षस्त्राणा समेधितश्रीः, श्रियो वचस उदारताया वीरतायाः सौजन्यस्य च भाजनं सर्वार्थफलेन दुकूलेनानद्धकटितटः, भ्राजता स्थूलवर्तुलमुक्ताहारेण चन्द्रहारेण च प्रशस्तानुकृततारापतिः, पतिः राजनगरबन्धुजनतायाः, मता विहसितकाव्यः, काव्य-रचनाचतुरः, तुरङ्गविद्याप्रवीणः, वीणाक्वणनलुब्धीकृतजनः, मदोत्कटकरिकटपाटन पाटवप्रथितः, कङ्कणविशोभिमणिबन्धेन हीरकखचितस्वर्णत्सरुनीलकौशेयकोशकरवाल-धारिणा रत्नजटितोर्मिकाधारिणा करेण द्योतितचापल्योऽप्यन्यः, प्रधौतधौतवसनः, सुभग-पादत्राणः, महार्हपरिस्तरणायां राज्ञो रामपालस्य परमप्रेमभुवि भुवि सम्पदां प्रतिष्ठानाय; करेणुकायां कायाङ्कितचित्रायां कृतस्वर्णासनस्थितिः, स्मितेन दशनवसनयोर्वेल्लितलक्ष्मा प्रसारयन् रसिकतां, विकासयन् कामिनीनेत्रकुमुदानि, उद्दीपयन्मनोभवप्रभावान् उत्काव्यमिव पदे पदे रूपयन् सर्वचेतांसि आसीत् कामिनीयामिनीमनो-विजयचन्द्रश्चन्द्रः ।

पृष्ठतश्च महान्तमनलङ्करणमपि अलङ्करणमश्वानामश्वरत्नमारूढ आसीन्महामात्यो मतिवरोऽनुगतः सशस्त्रै रथारोहिभिर्वीरनरैः ।

कामिनीकरपातितैः कुसुमैर्मालाभिः स्तवकैश्च मृदुला तावद्विवाभूद्वसुन्धरा ।

---

१ पञ्च मासमर्हतीति पत्रः, न स, सोऽप्यन्यो-न मामनोप्य ।

चारुहासिनीहास्यैः कथमपि हातः, विलासिनीनयनवागुरया कथङ्कथमपि मुक्तः, नूपुरशिञ्जितैर्यथाकथञ्चिदनाकृष्टः, वामभ्रूदर्शनभाराक्रान्त इव शनैश्शनैःस्खलन् समारोहोऽयं महामहिम्नो रामपालस्य दुरान्तहर्म्यमाडुढौके।

अथ हि भगवतोऽवतो वसुधा सुधासितस्य रामपालस्य भवनं वनं विलासितायाः, विभाति महेन्द्रस्येव। हाटकघटितेन द्योतितशिल्पिनैपुण्येन पत्रेण जटितं, चकितीकृतावलोकलोचननिचयं मुखद्वारम्। अभितो लम्बाश्च पुष्पस्तवकलतायुक्ता कौशेय्यो जवनिका। सम्मुखे चैतस्य रक्तकौशेयनिर्मितं विलसद्राजतकुसुमं त्वत्प्रान्तप्रतानिनी[१]वीजितसकलजनं द्वात्रिंशत्स्तम्भैर्विहितायामं महावितानं विततम्। यत्र सुप्रचित्रानि सिंहासनानि सहस्रशः स्वर्णासन्द्यो राजतासन्द्यो वेत्रासन्द्यो राजन्ते। यमभितो निष्कोशकृपाणपाणयः पटवो भटाः समर्यादमासते।

मुग्धा नूपुरशिञ्जितद्विगुणितरथकिङ्किणीस्वनाधिरण्य, मोहितसमाजेन विपञ्चीविनन्दकेन कोकिलानुकारिणा करिणामपि मनो हारिणा स्वरेण मधुरमधुरं तारतारं गायन्ति।

इतराण्यपि वाद्यानि यद्यपि स्वस्वविजयाय मनुजमानसान्यपहर्तुं प्रयतन्ते, परन्तु मुग्धवधूगानमिदं सर्वानिशायि विजयमध्यगात्।

अथ वादकेष्वेकतो भूत्वा वादयत्सु यत्सु मुक्तमार्गं च सैनिकसमुदये हर्म्यसम्मुखकुट्टिममायाता करेणुका आयतललाटपराजितचन्द्रस्य चन्द्रस्य।

निःश्रेणियोजनेन जनेन दत्ताशिषि समवतीर्णे वरे हस्तिपकेनान्यतो नीतायां करेणुकायां कल्पतैः सौवर्णैः कृत्रिमनिर्झरैः सुगन्धविसर यमद्भिः सुरभिते जनसमुदये, सहासं समनःसमुल्लासं व्रजत्सु चलत्सु च पवजनेषु विहिततोरणाघात आहतोऽपि परमसुन्दरीणां दरीणां मनोभवस्य भवस्य सारैः कटाक्षैः, अतीत्य हर्म्यप्रथमद्वारमाससाद वधूविधूयमाननवसराजहंसपक्षतिसितव्यजन सौन्दर्यविघूर्णितनयन, नयननीरजैर्नीराजनाकारयिताजिर, कनकदण्डचामरग्राहिणीभिस्ताम्बूलवाहिनीभिः, पतद्ग्राहधारिणीभिर्भूषणभूषितामिर्दासीभिर्वाचालित, मङ्गलगानमुखरित द्वितीय द्वारम्।

---

१ प्रतानिनी फालरी इति भाषा।

तत्र चाङ्गनाभिः कृतेऽर्चने कमलानि यापितदुःखदयामिन्या सरोजिन्या सहैव सविभ्रमं लतान्तरितशरीरलतया पुष्पस्तवकेनाहते चन्द्रे इतस्ततः सविलासं प्रगतासु विलासिनीषु गौडविडौजसा परिकल्पितसम्भारां परितःकदलीदण्डां चतुर्द्वारां वेदिकां सपत्नीकः कामेश्वरसिंहो रामपालश्च कन्यादानाय परिकल्पितमहार्ह-सम्भारावधिष्ठताम्। समये जगदानन्दी चन्द्रोऽपि मण्डपे स्वर्णपीठे पदं चकार। यथाविधि कमलासरोजिन्योश्चन्द्रेण सम्पन्नो विवाहसंस्कारः। शान्तिल भल्ल वधूवरयोर्ज्ञान्यद्धर्मानास।

राजा रामपालः सभ्रातृभावनोपेतः कामेश्वरश्च दासदासीहस्त्यश्वरथरत्नालङ्कारयुक्तं यौतुकं कौतुकमदात्। दध्वनुश्च विवाहव्यापकालोभाः। सम्पन्ने विवाहे चन्द्र आचार्यं राजानं रामपालं कामेश्वरञ्च प्रणम्य भक्तिनाथस्य पादयोः परमप्रेम्णाऽवननाम। "केवलेन नमस्कारेण किम्, कामपि भूयसीं दक्षिणां देहि वां यावज्जीवं स्मरामः।" इत्युक्तः स्वकीयं महार्हमङ्गुलीयकं ददौ।

अथ सम्पन्ने उपनमनेऽवलाभिर्वत्सराहूतः पुरस्कृतोऽपरः शिक्षानवल्यया कमलया सरोजरजन्या सरोजिन्या चानुगतो गतवानुदेव देवचन्द्रः। तत्र च कृतकुलाचारो-महिलाभिरागृहीतो नेत्रसम्पातेन परितः प्रेक्ष्य मदनसदनसामिनीभिः प्रमदप्रमदाभिः सोत्कण्ठमवलोक्यमानोऽचिरं विचार्य पद्यमदः पपाठ

> कल्याणानां निधानं कलिमलमथनं पावनं पावनानां
> पाथेयं यन्मुमुक्षोः सपदि परपदप्राप्तये प्रस्थितस्य।
> विश्रामस्थानमेकं कविवरवचसां जीवनं सज्जनानां
> बीजं प्रेमद्रुमस्य प्रभवतु जगतां भूतये चन्द्रकामम्॥

तस्मै चैकं महार्हमङ्गुलीयकम्।

तत्र च शृङ्गाररसस्रोतसि प्रवहमाने प्रकृत्यैव हासप्रिया प्रिया सखी कमलाया मनोरमा, स्मेरविनिन्दकरूपाऽकूपारं वर्जयन्ती गुरुजनं, स्मेरमङ्कितत्तनुरतिः, यतिः स्मरस्तम्भितस्य, किञ्चिदपरिवर्त्तितपदं हनुमन्नाटकीयं पद्यमदः श्रुत्वा स्मयमान-मुखी उवाच—

देव ! यदि न कालक्षेपो यदि च प्रसादसम्मुखो देवोऽस्मासु, तर्हि भवद्व्याख्यात शुश्रूषामहे वयमद्य । अबोधविक्लवस्य ललनाजनस्यानुपेक्षणीयोऽयमनुरोध ।

"कलितवैदग्ध्यस्य दग्धस्यापि स्मरस्य प्रधानजीवनसद्मनो विमुग्धस्यापि मुग्धम्मन्यस्याङ्गनाजनस्य कृतानुभवः सङ्केतोऽप्यत्र गरीयान्। कठिनार्थविशदनमात्रफलिका हि विदग्धवृत्ति ।' विकसितसिताम्भोजभव्यमुखश्चन्द्रोऽवदत्।

"तथाच कलिरत्र प्रणयकलहः स एव मल, तदपनयपनञ्च मथनम्। सुसुश्रोणीनीविमितिशेष । पर पदाभ्यां तत्प्राप्तये प्रस्थितस्य, इत्येव भाषमाणे चन्द्रे व्याभून्वता हस्तेन निषेधयन्ती, अलमलमितिव्याहारचञ्चला चुटकितकमला समुत्तस्थौ मनोरमा विमोचितचन्द्रोत्तरीयः प्रमदाजनश्च ।

* * *

वासन्तनिशीथयौवनमचेतने जगत्यपि सजीवसौन्दर्यं पूरयति स्म । विशदनीलाम्बरे चरे रजनीरमणीरमण उदारोज्ज्वलेन हासेन भुव भासयते स्म । दिगङ्गना नक्षत्रपुष्पाञ्जलिमादाय जगज्जनार्दनस्यार्चां विदधाति स्म। शुभ्रज्योत्स्ना जगतीतले शान्तिसुधां प्रसार्य क्रीडन्त्यासीत्। क्वचन क्वचन नारीनूपुरा निशीथिनीनीरवतां भञ्जन्ति स्म। इन्दीवरश्याम वियद्वपुस्ताराहारावलीमण्डितं राजतमाप्रपदीन परिदधन्नेत्रे रञ्जयति स्म । पवित्रपाथपरिपूर्णपुष्करिणीपङ्कजपरागं प्रचौर्य सरसि स्नात सुभगसमीरो रसालकुञ्जाश्रितो मन्द मन्दं वहति स्म ।

विविधरागप्रकल्पितभित्ति चन्द्रभवनमद्य भवनेषु राजानति । सजीवनिर्जीवभ्रममुत्पादयन्तीनां मूर्तीनां शोभा सत्यमवर्ण्याऽऽसीत्।

स्वर्णचरणौ सुगन्धिकुसुममय्यौ चेतोहरौ पर्यङ्कावभितो लसतां क्षुपानामावलिः विभिन्नवर्णा दीपाश्चेतोहारिणी प्रसाधना ।

चन्द्रकमलयोश्चिरप्रतीक्षित समयः समेत.। नाद्य गमने सङ्कोच, न च वाचि नान्यम्, न च चकिता दृष्टि, न चोच्छलच्चेतः शरीरम्।

चन्द्र सहास काश्मीरं कमलाकपोलयोर्लिम्पति। विहसितनि सुदरशनविभासितभवना गुञ्जालप्रभृति प्रक्षालयन्ती चन्द्रावरुद्धहस्ता स्ववश एव रञ्जयति, चाम्पेयं पयः पातयितुकामा च्युतलक्ष्या वसुधामेवार्द्रयति। श्रमशिथिल तयो. शरीर

विश्रमितुमैच्छन्, शर्करामधुद्राक्षामिश्रमासवमास्वाद्य पल्यङ्काङ्कगतयोरचिरादेवाविर्बभूव नयनयोर्निद्रा।

वीताध्यर्द्धद्वियामा त्रियामा। चन्द्रस्तरल्तररमणीये शयनीये गवाक्षागतसुरभिनभस्वद्गाढनिद्रोऽस्वपत्। प्रियतमा च तस्य भर्त्तरङ्कं विहाय उपपर्यङ्कं पर्यङ्किकामेकामध्यास्त। इतनिद्रा, साथ निर्भरं चन्द्रप्रकाशे चन्द्राननामृतं निपीय विलक्षणां तृप्तिमध्यगात्। महोत्का सा चन्द्रस्योरसि कपोलयोः शिरसि पाणिपल्लवं भ्रमयन्ती तमपि गततन्द्रं चकार।

"पश्य देव, कीदृशी मनोरमा यामिनी, वियत् सुधाविप्लुत इव वर्षति।"

चन्द्र—"निस्सन्देहम्। परमेपास्या शोभा पत्या चन्द्रेणैव। अस्तु स्वपिहि, मधुरां निद्रामनुभवामि। चिरं रात्रौ क्रीडतो शैथिल्यमापन्नयोर्निद्रैव स्वास्थ्यप्रदा। अवधेहि जगति परिस्थित्यनुसारं मनोरममनोरमं वा भवति, शेष्व।

"(मध्य एव तद्वात्तामथत्वा) प्रिय! भगिनी सरोजिनी योग्यभर्तृकृतपरिणया अलं गर्विता। सम्प्रति तु सा केनचिद् ब्रवीत्येव नहि—"

चन्द्र०—अये! केन किं ब्रवीषि मुग्धे!

"अहं तन्नाम न जिघृक्षामि। यतः कृपण [1]केलिकाले आक्राशं भजति।"

चन्द्र०—किन्तर्हि चन्द्र।

"आम्, आम् आर्यपुत्र, स एव यस्य कृते महान् दर्पः शिरस्यारूढः सरोजिन्या। किं वदामि अद्यत्वे तु सा विलक्षणा मानिनी सम्पन्ना।"

चन्द्र०—अरे! एतत्किम्? किं सर्वथैव विमूढासि यदसम्बद्धं प्रलपसि?

'कथम्, किमहं सरोजिनीं न जानामि, आहोस्वित्तत्पतिं न जानामि। सोऽपि सविभ्रमं भ्रमति।"

चन्द्र०—(सोद्वेगम्) अरे! त्वं कासि! किन्ते नाम?

"धन्या (सहासम्) भवद्भिरप्यद्य भङ्गा पीता, सत्यं क्षीवाः सर्वं विस्मरन्ति। अहह! पतयः पत्नीरपि विस्मरन्ति धन्याः। सत्यम्भवन्तो मन्नामापि विस्मरः? अस्तु, सम्भाव्यते कामोन्मादे स्मृतिविभ्रमः।"

---

१ रात्रौ।

चन्द्र०—स्मृतिभ्रंशः ? आः पापिनि ? वञ्चितोऽस्मि, छलम् (प्रकाशं प्रज्वाल्य बलात्तन्मुखं वीक्ष्य) आः कुटिले ! किं कृतवत्यसि । नाहमस्मि तव पतिः ।

"स्वप्ने ? उत जाग्रति ?"

चन्द्र०—जाग्रद्दशायां प्रकृतौ स्थितोऽहं वच्मि यत्—यं त्वं स्वपतिं मन्यसे सोऽयं पुरस्ते चन्द्रः ।

(सनयनोत्स्फारं मुखं दृष्ट्वा) "नहि नहि भवन्तो धौर्त्यं विरचयन्ति । मुकुरे मुखं पश्यन्तु भवन्तः ।" (मुकुरमानयति स स्वमुखं वीक्ष्य विस्मितो भवति)

चन्द्र०—अवश्यं मद्रूपं केनापि परिवर्त्तितम् (जलेन क्षालयति रागः पतति) पश्य मे रूपं केनापि परिवर्त्तितं वञ्चकेन ।

"अरे ! (अश्रुमुखी) भवतां किमनेन नष्टम्, अहं नष्टपातिव्रत्या नष्टास्मि । राजकुमार ? नेदं भवदनुरूपम् । स्वयं रूपं परिवर्त्त्य स्त्रीणामुज्ज्वलपतिव्रतविनाशनं किं भवद्विधानां कर्म ? अहह ! भवादृशा एव धर्मस्यैतस्य पालकचरा नाशाय भविष्यन्ति चेत्तदा हन्त ! बत !! कं नामाश्रयिष्यत्येषः । अन्याय्यम् ?"

चन्द्र०—कथं मां दूषयसि ? सर्वथाऽदूषणोऽस्मि । मां निरयपातिनं विधाय स्वयं सतीत्वस्य ढक्कां निनादयसि ।

"तर्हि कं दूषयामि ? (सविलक्षविस्मयं) अहो ! भगिन्याः सरोजिन्या अपि एषैव दशा भूता भविष्यति । सा मम पत्युरावासं गता भविष्यति । अहह ! विस्मृत्या, ह्रिया, सङ्कोचेन, मूढदासीकथनेन द्वयोरेव च्युतो धर्मः, हा !"

चन्द्र०—किं किं मदीया प्रिया परस्याङ्के । (खड्गं निष्कोशीकुर्वन्) कोऽस्ति !

"युवराज ! किम्भवन्त एव क्षत्रियाः ! श्रीमन्त एव शूरवारवराः ! किं मत्पतिर्नास्ति क्षत्रियः । तस्य तनावपि प्रोष्णं राजन्यरक्तं राजते । वीरवारवरणीयवीर्यः स को जानीते किमाचरिष्यति रुष्टः । अब्रह्मण्यम् ? यस्य प्रियां भवन्तो रहसि छलेन प्रियाप्रेमपरायणो युवराजः कुकर्म कृत्वापि न जिह्वेति... " इत्यनर्गलं प्रवदन्त्यामेव तस्यां समाजगाम विकसितवदनसरोजा सरोजिनी । हसन्त्या सरोजिन्या धौतवदना चन्द्रेण साश्चर्यं वीक्षिता च तत्सम्मुखं एव कमला समवर्तत । महदभूद्धास्य लास्यम् ।

पुत्रजानिश्चन्द्रश्चन्द्रवदनया कमलया सततविकसितनयनसरोजया सरोजिन्या च रममाणः पद्मपुरप्रोत्खातनालप्रबलप्रचण्डसिंहविरोधिमानराज्ञो विदर्भस्य रक्षित-प्रसादोऽविषादः सानन्दं राज्यमीशानः नीतिनाशितभीतिः रीतिरञ्जितनीति मनः प्रवेशपरमप्रणयं वहन्, मानवदनविकारिण आश्चर्यभवनानीतविपुलधनराशि-देवान् वृद्धान् विप्रांश्च मानयन् प्रसन्नप्रज्ञो विमलपुर एव स्थितिमकल्पत् ।

पुमान् सुखे सर्वं विस्मरति । प्रचरं कष्टं विषह्य स्वकीयं जीवनं सन्देहसिन्धौ निधाय जनयित्रीं प्रियां मातरं, कृच्छ्रतामनुभूय धनादिकमर्जयित्वा लालयन्नेव सर्वस्वं मत्वा पालयन्तं पितरं, शैशवसहचराणि मित्राणि, कलत्रपुत्रभ्रातॄनपि विस्मरति ।

हन्त ! महानहो लक्ष्मीविषम् । श्रूयतान्नु कथैव का यां प्राप्य शैशवे हैयङ्गवीनमुट्, अशेषदेवदानवरक्षोमनुष्यसिद्धसाध्यकिन्नरमुनिमुमुक्षुब्रह्मर्षिराजर्षिदेवर्षिप्रशस्तसविज्जट् शस्त्र-लिट्, कैटभद्विडपि क्षीरनिधौ निद्रामेव सुप्तोऽनादरम् । अहह ! सत्यं ! "हालाहलो नैव विषं विषं रमा" । यामिमां लब्ध्वा सततसेव्यं परमात्मानमपि विस्मरन्ति स्मरणीयचरिता विपश्चितः । का कथा रागरसमाकृष्टेन्द्रियाश्वानां तुच्छानाम् । यद्यपि याच्येयं सर्वस्य भङ्गुरो जनस्य, परन्तु यां प्राप्यापि न सुखेन भुञ्जन्ति, अपि तु महता दुःखव्रजेन । सर्वेर्ष्यया, स्पर्धया, क्रोधेन, जिघृक्षया, विप्लवया, बुभुक्षया, अनन्तं कष्टसुदुःखमसौ लभते ।

योऽसौ नेत्रनिरीक्षितप्रकृतिको सज्जापट्टवाटिका—
वाप्यारामतडागकूपसरिता हृदयस्य मर्मग्रहः ।
तेने तेन पयोनरेन कविना श्रीशास्त्रिणा द्विस्त्रिणा
तस्मिश्चन्द्रमहीपतौ सुमतयः ! षष्ठो गरिष्ठो गतः ॥

इति—

श्रीमद्गिडतेन्द्रप्रत्यक्षप्रशस्तइलिश्रीलक्ष्मीनवरङ्गरायशास्त्रितनयेन
वैयावलनेन काव्यालङ्कारेण श्रीनिवासशास्त्रिणा
रचिते चन्द्रमहीपतौ षष्ठो निश्वासः ।

सप्तमो निःश्वासः

अघटितघटित घटयति घटित घटित च दुर्घटीकुरुते।
विधिरेव तानि घटयति यानि पुमान्नैव चिन्तयति॥

फुल्लेषु य कमलिनीकमलोदरेषु
चूतेषु यो विलसित कलिकान्तरस्थ।
पश्चाद्य तस्य मधुपस्य शरद्व्यपाये
कृच्छ्रेण वेणुविवरे दिवसा प्रयान्ति॥

सुधास राविलिप्त इव चञ्चन्द्रिके वियति यतिमानसविमले परिमलोद्गारिणि प्रफुल्लकैरवामोदसामोदे दीर्घिकार्णवणे, हिमशीते चलतिदोलितल्वे, अगुरुघनसार चन्दनधूपधूमे रसिकघ्राणरन्ध्र सन्तर्पयति नैशिके मातरिश्वनि, मयनेव निर्मिते वैभवभवने कौशेयास्तरणास्तृते महति मञ्चे उपबहमाश्रित्योपविष्ट च द्र परित समासीनेषु सभ्येषु प्रकाशेन दिनमनुकुर्वाणाया विभावर्या गान साधयत्सु गायकेषु हर्षमुद्वमति जन निवहे वेत्रहस्त प्रहरी प्रविश्य 'जयतु जयतु देव —इति निर्व्याहृत्य कश्चन शान्ति परीततनु तनुमानिवोत्सहोऽविषादी सादी भवत्सभामध्यमद्य समेतुमिच्छति, देव प्रमाणम्—' इति निवेद्य, 'आम् प्रवेशय इति श्रुत्वा गत।

चन्द्रश्च दूरत एव प्रहरिनिर्दिश्यमानमार्ग परितो वीक्षमाण हृष्यन्तमागन्तुक वीक्ष्य परिचितामिव गतिं चिरानुभूतामिवाकृतिं बहुश अवलोकितश्च पादविक्षेप ससम्भ्रम गाम्भीर्येण पश्यन् समीपमायातश्च परिचीय भास्वानिव मेरोश्शिटिदुत्थय 'आ कि भवान् प्रिय शशिधर' इति कथयन् स्मयेनोत्तरमधिगम्य सकण्ठग्राह समालिङ्ग्य साश्रुपात सत्कृत्य मञ्च एव समुपावेशयत् अवोचच्च।

'अभ्यागतोऽय दयितमदग्रज शैशवत एव सहचरो मन्त्रिकुमार शशिधर'

(सर्वे) 'विजयतां श्रीमान् मन्त्रिकुमार शशिधर

एको वृद्ध सभ्य —

"द्विर्दर्पः। अद्य कुमारस्य पुनरत्नजन्मनः षष्ठं दिनम्। परमिमं कुमारस्य श्रीशक्तिरत्र समेत', अद्य निरवधिर्हर्षः। देव प्रार्थये जातस्य शिरोहर्षवर्द्धन इति नामकरणाय"

सर्वे सभ्या एकस्वरेण :— "अथ किम्"

चन्द्र.—अपि कुशलम्? कुशलिनस्तातपादाः? मद्वियोगद् खिता अम्बा वासरानि सानन्द व्यतियापयति कच्चित्? पितुः परमश्रद्धास्पदं मन्त्री कुशली? भवता कुशलवृत्त वेदितुं व्यग्रोऽस्मि।

शक्तिः—भृश दुःखितोऽस्मि, किमिव कथयामि।

चन्द्र.—(सभ्यान् प्रति) अद्यतनो महोत्सवो द्विगुणतरोत्साहेनानुष्ठातव्य आर्यैः। अहमपि समये समेष्यामि। 'प्रेममन्दिरे 'प्रवल! शीघ्रं प्रबन्धमायोजय'—

* * *

चन्द्र.—शक्ते, मम दुःखानि परैरननुमानुमशक्यानि।

शक्ति.—अये, तत्र राष्ट्रोपकृत्यै, तपसे, सिद्धये, विद्यायै धनाय वा, किन्तु प्रियार्थे (हस्त हस्तेनायोज्य हसति, चन्द्रः स्वनामाङ्कनाङ्गुलीयक वीक्ष्य श्वेतमुखो भवति) मौनम्, अस्या एव कृते वनाद्वन भ्रान्तोऽस्मि, कारासेवीकृतोऽस्मि ताडितोऽपि बद्धोऽस्मि, ज्ञातम् एव लभ्यन्ते मनःप्रियाः प्रिया.।

चन्द्र —भृश मा खैत्सो. खिन्नचरम्।

शक्तिः—खेदः! अटवीतोऽटवीं भवनाद् भवनमटतो महान्त काल यापनतः, भीरु-भामिनीभिरभिक्रोडा मोदा कुर्वत भयानककलनर[1]'वानक[2]'शयानकां, [3]'अस्खलत्मनीक्षित-[4]'भवन्यू, [5]'वर्वरीक[6]'शर्वरीकवन्य[7]'जन्तुसमन्युगर्जनां वनावनिमवना[8]'बन्धूयमानस्य रहः [9]'सायन्तभाषण च विदधतो न ते खेदलवोऽपि, सम्प्रति स वार्त्ताभिरेव? न जिह्रे षि?

चन्द्रः—मर्षय मित्र मर्षय।

शक्तिः—स किं क्षम्यो भवति यः पतार पितामममनस्यहर्षां मातरं, विषयोजनावद्

---

१ वायुः २ अजगर. ३ अमार्गा ४ सूर्यः ५ कुटिलः ६ हिंस ७ जीवः ८ निर्जला ९ साधुः।

चित्ता प्रजा सहयोगिनो मित्राणि चासूचयित्वा दीनो हीन इव आसां जीवनरत्नकृष्णयामिनीनां कामिनीनां पृष्ठलग्नोऽशेषबान्धवाज्ञातशरणरेणुं चुम्बन् त्यक्ताभिमान कारीभवति लक्ष्यीभवति च किन्नरमुष्टितलानाम्। हन्त हता मनस्विता।

चन्द्र —अस्त्याग' तथापि क्षम्योऽहम्। प्रथममेलने किमेव मण्ड्यं।

शक्ति —अहन्तु सखे, मिलितवान् पर त्व न। प्रियापरमप्रेमपानीयागाधपाथोधौ शिखामामग्न आसी'।

चन्द्र —मा स्म त्रपापारावरे पातय

शक्ति —त्रपा वराकी स्मृतिपथमायातान्, भाग्यम्। सा तु त्वां स्मृत्वा त्रपते।

चन्द्र —अल, विरमास्माद्

शक्ति —तर्हि पश्यैनम्। (अङ्गुलीयक दर्शयति।)

चन्द्र —पूर्वमेव प्रैक्षि। इद शक्तिनाथाय विवाहयतौ दत्तवानस्मि।

शक्ति —स शक्तिनाथ एव शक्तिधर।

चन्द्र —आ एव किल तत्। विचित्र रूप परिवर्त्तितवानसि, मायाविन्।

शक्ति —मायान का, एषा तु कला।

* * *

' चपले, इय दिनपर्यन्त क्व स्थिता ? केवल दिनद्वयार्थं गता सप्ताहमेवागमय ।'

"महाराज्ञी कमला देवी सरोजिनी च विजयताम्। अह देव्याज्ञया पितृपाद द्रष्टुं मातरञ्च सम्भाव्य आयन्ती पित्रानुशासिता यद्विमलपुरमस्माक प्राचीना पू। मत्पिता महोऽत्र कदाचन प्रधानामात्य आसीत्, पर पिशुनेन भ्रमितमतिर्देवस्त निरवासयत्। तत्प्रभृति नन्दनपुरेश्वरस्य छत्रच्छायायामावास। तत्रैव व्यतिकरेऽस्माक सवा सम्पत् राज्ञाऽऽत्मसात्कृता केवल नगरान्ते एका वाटिकावशिष्टा यस्यां मम मातामहवशो न्यवसत्। अद्यापि तत्र मम वृद्धा मातामही निवसति। पित्रा मात्रा च प्रेरिताह तां द्रष्टुकामाऽगमम्। वाटिकेय विशाला किन्तु भवनं दुर्गतम्। वाटिकाभित्तिर्भग्ना पतिता च गृहमपि तादृगवस्थम्। परितोऽवकरकूट, पक्षिविष्ठा। अह श्रमेण परिष्कृत्य जलानयनासमर्था वृद्धामरक्ष्य कूपं गत्वा जलमाकृष्य घट शिरस्यायोज्य प्रत्यावर्त्ते तावदेवागत एको मामपरिचितां वीक्ष्योद्भिन्नो मदिरदलनकृतमति प्रचुरपयःपानपीनो

गोवत्सः। अहं 'त्रायध्वं त्रायध्वम्' इति वदन्ती स्तब्धपादा मृत्युं प्रतीक्षमाणाऽऽसं परमेको युवा दैवप्रेरितोऽश्वाद् मदार्त्तं वचः श्रुत्वा "मा भैषीः, अयमहमागत एव" इतिकथयन् अश्वादुत्तीर्य वायुगत्या व्रजन् क्रोधोद्वेगवमद्घुर्घुरघोणं वत्समनुधावन्नुपेत्य मम वत्सस्य च मध्यमुपतस्थौ। क्रुद्धो गर्वितश्च वत्सस्तं वीक्ष्याहन्तुमनाः प्रचलितः। युवकस्तस्य शृङ्गकावादाय पश्चाच्चकार। पुनः स पशुरुत्थाय यूनः शिरसि तथाऽऽजघान यथा रक्तधारा प्रादुर्भूता। परं युवक उत्थाय एकेन हस्तेन तस्य नासां परेण च जिह्वामाचकर्ष। एतावता च ममाक्रन्दनं श्रुत्वा पुरुषाः समेत्य वत्सं रज्जुभिर्बबन्धुः। युवा च मूर्च्छितो भुवि पपात। तमनु चतुर्दिनं यावत् संसेव्य प्रसादसुमुखं ज्ञात्वाऽऽमन्त्र्य श्रीमतीं सूचयितुं मागतास्मि यदानृण्यमासादयितुं महदपि अवसरो देयः।"

"यूनोऽश्वः किंवर्ण आसीत्"

"मेचकः, वराको मूकः पशुः स्वामिनमवनिस्थं प्रेक्ष्य प्रकटितानल्पदुःखो वेगेन धावितः"

'को वारः कश्च समय आसीत्'

'रवौ प्रातः सप्तवादनसमयः'

'निश्चितं कथैषा शक्तिधरमेवानुसरति। स एव प्रातर्भ्रमणाय गतो न निवृत्तस्तस्यैव मेचकोऽश्वो मन्दुरायामश्वादनसमये रिक्तपृष्ठो निवृत्तः'

'कोऽयं शक्तिधरः'

'देवस्य परममित्रं मन्त्रिकुमारोऽस्माकं चिरपरिचितः कुमारान्वेषणाय कृतविवेकः शक्तिनाथः'

'आः शक्तिनाथ एव शक्तिधरः ? हे ईश्वर, सत्यं सत्यसङ्कल्पस्त्वम्'

'देवो नितरामशान्तस्त्वरया सूचय वृत्तम्'

'आम् यामि'

* * *

"देवस्य परममित्रं शक्तिधरो मां रक्षन् गोवत्सेनाहतो मद्गृहमध्यास्ते निश्चिन्तो भवतु देव," चावोचम्

शकि स्वद्गृहमास्ते ? त्वरितमेव प्रधानराजकीयचिकित्सकेन सह गत्वाऽऽनय'

*   *   *

कथय कीदृशी स्थितिः, अकस्मात्तव लोपोऽभवत् प्रत्यावर्तनञ्चास्मानखेदयत्। दक्षिणो देवोऽद्य यत्त्वां कुशलिनं पश्यामि। मन्ये शीघ्रमेव स्वस्थो भविष्यसि, त्वत्सेवायै कृताभिरुचा चपला चात्रैव स्थास्यति, अद्य त्वां समये द्रक्ष्यामि।'' चन्द्रोऽब्रवीत्

*   *   *

शक्ते ! कीदृशी स्थिति'

स्वस्थोऽस्मि अद्यैव स्नात्वा शिवं पूजितवानस्मि'

कथयास्मै कायाय को विशेषतः पुरस्कार'

'एषाऽनिन्द्यसुन्दरी दिव्यदेहा चपला। एषा नक्तं दिनं त्यक्ताहारविहारनिद्राऽनलसा मामेवापश्यत्। मूर्च्छिते मयि भिषग्वरमपृच्छत् 'भिषग्वर, अयं जीवनं धारयिष्यति किम् ? जीवने कृते पुण्यकर्मभिर्भगवन्तमेतस्य जीवनाय प्रार्थये'। अहमेनां बहोः कालाज्जाने, किन्त्वस्मिन्नवसरे एतस्या चित्तं रमणीयं मनोऽवलोकितवानस्मि

'कथय चपले किं देयमस्मै उपकाराय'

देवो मनोऽभिलषितं दास्यति ?

कथमत्र सन्देह

विश्वस्तोऽप्यात्मा केवलं वाचा सन्देग्धि'

निश्चितं वाञ्छितं ते दास्यामि'

यथाज्ञापयति देव इति कथयन्ती शक्तिधरस्योत्तरीयप्रान्तं गृहीत्वा शिरःकृताञ्जला लज्जावनतमुखी अतिष्ठत्।

'योग्य प्रशस्तस्तेऽभिलाप, नितरां प्रसीदन् युगलस्य सौख्याय ग्रामशतकं ददामि'

देव अपरोऽप्येक उपहारो देयो नाम देव प्रसीदतु'

कथय कोऽसौ

'देव सर्वोऽपि परिजन कुशलं कलयति, केवलं कुमुदिनी प्रबलबद्धप्रेमा देवाज्ञां प्रतीक्षमाणा वर्त्तते—देवोऽनुमोदयतु'

'कथमद्य तव जिह्वा समुदिता'
'देवस्य स्नेहो मां मुखरयति'
'अस्तु'

*   *   *

कथं रे हर्ष कथं रोदिषि, आश्चर्यम्? 'कुमारपाल कथं कुमारस्यैतादृशी अवस्था'!

'अपराधं मर्षयतु देवी, अद्य सायङ्काले कुमारः सवयोभिः स्वमातामहामात्य-कुलोद्भवैरुच्चकुलप्रभवैः स्वजनानविकल्पैः कुमारैः पूर्ववदपरैरिव सुहृद्भिः कोमले उपवने क्रीडन् कमपि अविवयसं वैश्यशिशुमनाकारणि रुषा चपेटाभिरताडयत्। चपेटाघात-संकुचिताङ्गेन वैश्यबालेनाभाणि—'मुधैव दर्पितोऽसि, दुःशील, नैष्कुटिक इव मातामहगेहे कौलेयकवदक्षमसि, न ज्ञायते कस्य कुलस्य देशस्य ग्रामस्याधीशो दासो वा पिता, क्व च पैत्री पैतामहिकी सम्पत्, न वा। अत्र दयालुना राज्ञाऽलसत्वन्मया परिपोष्यते सपरिवारः पिता, तदधुना मातामहमहिम्नोऽनुभव सुभोगम्, ताडयानपराधिनः शिशून्, दुश्चरितैश्चिरं चर। इतो निर्वासितैः स्थास्यते किं कुमारैः कानने, को जानीते काटवीष्वाहिण्डमानो बुभुक्षितो मर्ता।" इत्युक्तमित्र वज्रकल्पैः मर्मच्छेदनैः लोहसारनिर्मितैः पशुपतिशरशुनिशितैरिभकुम्भविपाटनपटुभिः सिंहनखैरिव अरुन्तुदकटु-वचोभिर्भिन्नितक्रियमाणोरस्कः सकम्पोऽनलोपमो सबाष्पप्लुताक्षो निःश्वसन् रुदन् मुहुर्मुहुराश्वासितो मया चिरं सान्त्वनानोऽप्यशान्तः श्रीमतीमुपेतः"—

लालयन्ती कथङ्कथमपि सान्त्वनवचोभिः शोकं शमयितुं क्षमन्तीं तन्मातरि स पप्रच्छ 'क्वास्माकं देशः, किं कुलं पितुः, अत्र वयं कथं निवसामः, यदि कथयितुं शक्नोषि विशदय नो चेत् म्रियस्नातृच्छे।'

"अथ विलक्षणोपपन्नं तव वचः श्रुत्वा प्रदीप्तानितनाम्, श्रृणु, अस्माकं राजधानी प्रतिभरते भारते दशातनामयम्, ध्येयं सद्गुणसंयुतसिन्धुभिः, राजनगरं नाम चतुरैना-निगन्तानमरलिव नगरम्। तत्र पिता विश्वख्याते राज्ञो नरेन्द्रपालस्य प्रियः पुत्रः। एकदा धुनाऽन्यायेनैतः समन्यायेन सख्यायेनान्यत्र जातो विवादः। आनन्दमत्र निवसामः। स्वप्ना अपि नोद्वेजिनः, पालय तव रोदनमाकर्ण्य मनसि यन्निर्वेचिता विचाराः प्रसरन्ति।"

'मातरौ नाहमत्र तिष्ठासामि सामि क्षणम्। लज्जास्पदमेतत् क्षत्रस्य कृते'।

*

प्रयाणसज्जा प्रारब्धा। शक्तिधरप्रबलसिंहयो शासकत्वे कमलासरोजिन्यो चपलाकुमुदिन्योर्द्वयस्य च दासीदासगणेन कोशेन च सम सेनासुरक्षितानां गमनं सुनिश्चितमासीत्। जलविहारप्रेमिणश्चन्द्रस्य च जलमार्गेण। किन्तु कमलाद्वयावपि जलविहरणोत्सुकौ वीक्ष्य सह गमनमनुमोदितवान्।

पुत्रि, त्रिनयनाम्बररागविमर्दिभि धिक्कृतैरावतबलै स्वरूपसन्त्रासितदिग्गजै गजै परिवेष्टितां फेनधवलखलीनै निभृतोर्ध्वकर्णैविपुलवर्णैस्तुरगै परिवृतां तात्कार्त्तस्वरभास्वरवसनवर्णाभिर्दासीभि सेविता पटुपटहप्रहननविगतविषादां यन्तीं भवन्तीं प्रेक्षमाणो भृश सुखमनुभवामि'—साश्रुनेत्रेण गद्गदवाचा रामपालेनोक्त "परमेश्वरस्त्वां सदैवेदृशसौभाग्यशालिनीं रक्षेत्। पर मोहमदिरामोहितो वियोग वीक्ष्य भृशमुद्विग्नोऽस्मि। दुहित ! हिताकाङ्क्षी वृद्ध पिता न कदापि विस्मर्त्तव्य। श्वशुरगृहे सदैव गुरुजनाज्ञाकारिणी पितृकुलमुन्नतमापादये। अनाज्ञासम्पादिन्यो हि दुहितर पितृपदमवनमयन्ति, चिरायुष हर्षे प्रेम्णा परिपालये'

जलाविललोचना कमलापि 'पित ! सत्वरमेवायास्यामि भवत्पादपद्मप्रक्षणाय"—इत्यामन्त्र्य प्रणनाम सरोजिनी तत्सख्यो हर्षश्च।

अतीतजीवनस्मृतौ भविष्यज्जीवनयापने च कल्पितानल्पकल्पनश्चन्द्रो जलधरावृताभोगमितमालनीलमुल्लोल ब्रह्मपुत्रम विशत्। स्वल्पा विहरणतरणिध्वनिना गमन सूचयन्ती शब्दायमाना स्खलन्तीवाचलत्। अन्तर्वत्नी कमला इयन्त महान्तमनालोक्यमान जलातिरिक्तवस्तु वीरभीपक प्रेक्ष्य हृदयमुद्विग्नचेता भज्यमानेन लज्जमानेन स्वरेण जलप्लुतविलोचनाऽवोचत् —

आर्यपुत्र, आव्य प्रादुर्भवन्ति, शिथिल कुक्षि सशूल जघन समन्तात्कव्या पीडा मलमूत्रत्यागेच्छा च अ सन्न प्रसव सूचयन्ति, प्राणनाथ प्राणा निर्जिगमिषन्ति आ दु खम्। आ कष्टम्। अवरुध्यतां यानम्।

'किमुच्यते, कथ भयङ्करे सरित्पतौ यानमवरोद्धु शक्यते, क्षण धैर्यमाधत्स्व इय मल सुदूर निकटतटस्थापि, स्वल्पेनैव समयेनवय पार प्राप्स्याम, भगवान् शिव शिव विधास्यति।"

"आः प्रिय,"—इत्युक्त्वा मुमूर्च्छ कमला ।

*   -   *

"आर्यपुत्र, वयं कुत्र स्मः" ।

"प्रिये, आर्त्तवत्सलो भगवान् स्वत एव सर्वं साधयति । एषः प्रासादः केनापि धनिकेनात्र प्रवालपर्वतस्योपरि निर्मापितः सुखदसामग्रीपूर्णो भ्राजते स्वर्गस्य खण्डमिव । श्वेतस्फटिकनिर्मितं विशाल भवनं शरदभ्रायते । स्वर्णदण्डा मुकुरा हंसमिथुनाङ्कदलमाधि उज्ज्वल कुट्टिमं निर्झरपुत्रिका आसन्द्यः कलाविदः कलावत्तां ख्यापयन्ति"

"प्रबलं शूलमनुभवामि, हन्त, दैवं किं विधित्सति"—इति कथयन्ती मुमूर्च्छ कमला ।

चन्द्रो यथा जलमन्वेष्टुं प्राचलत्तस्य दृष्टिः शिलालेखेऽगच्छत् "चिरन्नाय कल्याणिने सुखं प्रदातुं सदा नवीनेन नवप्रियेण राज्ञा राजदेवेन आनन्दभवनमिदं श्रमेण सिद्धरा च निर्मापितं, पार्श्वे प्रस्रपुन्नः स्तिमितः स्नानागारे जलमपि निर्मलम्

इत्येव पठित्वा पार्श्वस्नानागारतः स्वच्छजलमापूर्य प्रत्यावर्त्तमानेन समाकर्णि जातशिशो रोदनम् । सम्भ्रान्तेनागत्य दृष्टं यत्—वियोतितान्तर्भवन आयतललाटो प्रशान्तनयनदुःखो नवशिशू रोदिति । कमला च प्रसवपीडामूर्च्छिता, हर्षश्च मुखे दत्ताङ्गुलि धर्षितः स्थितोऽस्ति । चिबुकस्पृष्टाङ्गुष्ठश्चन्द्रोऽपि चिरं चिन्तयामास—

विलक्षण घटनं विधातुः । क्व जितारातेर्नवेन्दोः पौनरक्त्यम् । अत्र कुतः प्राप्स्यते भस्म् । कुतश्च प्रसूतापरिचर्यायै वैद्यवृन्दं धात्र्यो दास्यश्च । हन्त, विलक्षणो विचक्षण धार्यं भगवान् किं चिकीर्षति ।

कमाङ्गुलिमर्दनेन जलार्द्रोत्तरीयेण शीतलेन मातरिश्वना व्यजनानि प्रयोग्य शिशुं शीताभिरद्भिराश्वास्य नालोच्छेदनादिकमाचर्य्य मृगरोममृदुले पर्यङ्के शाययित्वा सप्रेम जगाद चन्द्रः—

प्रिये, वयमत्र साहसैकशरणा दुर्गमविहारप्रियाः क्षत्रियाः । अतस्त्वया न भेतव्यम् । अत्र नगरनाथ समीपे भोज्यं कलशस्थाय । न चाधुना प्रतापसह ते वपु, अनुभूतभावन-भावनं वर्त्तितव्यमेव । अतोऽहं भवत्यै भक्ष्यमानेतुमासन्ननगरं यामि, अन्यथात्र सर्वेषामेव ध्रुवं मरणम् । यूयमत्र सानन्दं निवसत । दूरवीक्षणेन पार्श्वं एव प्रेक्ष्यते

आशितङ्गवीनमरण्यमत सायाह्नात् पूर्वमेव प्रत्यावर्त्तन निश्चितम्। शीघ्रतायै चतुरो नाविकान् सहैव नेष्यामि।

वराकी कमला किं ब्रवीतु, अगाधे पयोराशौ प्रियेण सह वियोग. बालद्वयसहायो भोज्याभाव —सर्वं युगपद् विचार्य्य गन्तुमनुमेने।

हर्षस्योत्कण्ठिते नेत्रे सबदश्रु कमलामुखं सप्रेम प्रेक्षमाण "नवशिशु पर्यवेक्षणीय" इति कमलां प्रर्य्य यानमारोढुकाम. प्रचलन् नाविकानवोचत्—

"यथाशीघ्र चलत।"

'देव, विहरणतरणिरवतरणसमये दुरवस्थाऽभूत् ,यत्रैरस्माभिस्तदा नाध्यायि। अधुना सूक्ष्मेक्षिकयाऽवेक्षणेन तस्य स्थितिर्न शोभना प्रतीयते।" नाविका प्रत्यवोचन्।

'भगवान् श विधास्यति सम्भववेगेन चलितव्यम्' छपछपाशब्देन नौश्चलिता। यन्त्रस्यास्वाभाविक शब्द, मध्ये मध्येऽवरोधश्च सर्वेषा मनस्सु भयमुदपादयत्। पर्वताकारा कल्लोला अभित उत्थाय नावमुपायन्, परं नाविकाश्चातुर्येण पन्थान निर्माय सत्वरसत्वर निर्गन्तुमचेष्टन्त। किन्तु विधेरिच्छा विचित्राऽऽसीत्। जीर्णशीर्णयन्त्रा कल्लोलाघातविहता विहरणतरणि. सामुद्रपर्वतेनाहत्य शतधा भिन्ना।

दुर्गम्यकाव्यविज्ञानदु.खिताना कृते कृते।
यात. सप्तमनि.श्वास. श्रीनिवासस्य शास्त्रिण.॥

इतिश्रीभूदेवमौलिमणिशाणायमानचरणस्य विपश्चित्तल्लजस्य श्रीनवरङ्गराघवाचार्यस्य तनूजेन श्रीनिवासशास्त्रिणा कृते रसिकमन. कैरवचन्द्रे चन्द्रमहीपतौ सप्तमो नि श्वास.।

अष्टमो निःश्वासः

आरामाधिपतिर्विवेकविकलो नूनं रसा नीरसा
वात्याभिः परुषीकृता दश दिशश्चण्डातपो दुस्सहः ।
एवं धन्वनि चम्पकस्य सकले संहारहेतावपि
त्वं सिञ्चन्नमृतेन तोयद ! कुतोऽप्याविष्कृतो वेधसा ॥

पण्डितराजजगन्नाथः

पाटीर ! तव पटीयान् कः परिपाटीमिमामुरीकर्त्तुम् ।
यत्पिषतामपि नृणां पिष्टोऽपि तनोषि परिमलैः पुष्टिम् ॥

पण्डितराजः

रोलम्बैर्न विलम्बितं विघटितं धूमाकुलैर्व्याकुलै-
र्मायूरैश्चलितं पुरैव रभसात्कीरैरधीरैर्गतम् ॥
एकेनापि सुपक्षेण तरुणा दावानलोपप्लवः
सोढः को न विपत्सु मुह्यति जनो मूर्ध्नापि यो लालितः ॥

सुभाषितम्

मनसि वचसि काये पुण्यपीयूषपूर्णा—
स्त्रिभुवनमुपकारश्रेणिभिः प्रीणयन्तः ।
परगुणपरमाणून् पर्वतीकृत्य नित्यं
निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः ॥

भर्तृहरिः

सुन्दरमुनीन्द्रवसतिं दूषयितुं याति शूकरो विड्भुक्
इति पथिकेनापि मया सुदृढं ह्युत्तोल्यते लगुडः ॥

जहीहि गुरु गर्जितं विजहि शुण्डया शीत्कृतं
परिभ्रम शनैर्वनं किमु गजेन्द्र ! गर्वायसे ।
तथा न किल केशरी गिरिदरीपु निद्रां त्यजन्
विमूर्च्छयति जृम्भया सुभग । तावकीनं मनः ॥

सुभाषितम्

शीतम्। प्रातः। प्रियबालमनोरमच्छात्रवर्ग इव धनिजनसुखकारी, वराकजनदुःख-कोशोदारभाण्डागारिकः, समुल्लसद्वसनधनिवृन्दवन्दनीयः परमात्मरूपो मासश्चाय मार्गशीर्षः। अह्नः प्रथमो यामः। अस्मिन्ननेहसि हसितमनोहयो, रयेन दुःखयन् प्रचुरप्रबलकार्पासोर्णाकवचनिबद्धानतनूनामपि तनुमतां तनूः, शरनिशातैः, प्रवेशनिपुणैः स्वप्रवाहैर्वाति विपुलितशीतो वियद्गङ्गातरङ्गसङ्ग, तपनतापातप्त शीतलं भुवस्तल जडयन्, हाहाकारितजगत्, पातितापत्, विततप्रभावो हैमन्तिको मरुत्।

वराका अवना अधुना चेलचयनिचिताः, मलविशीर्णशरीराः, हिमकुब्जिताः शिरोविधूतपाणय, अग्निशरणाः, एकत्रीभूय पार्श्वमेल स्थिताः सन्ति। इतो धनिन आस्वादितवाताददसयावाः, निपीतपयस्विनीपयस, कामेश्वरमोदकमुदिताः, वासोवारिधि-निमग्ना अविदितहिमागमाः, यन्त्रैरुष्णीकृतभवनाः पर्यङ्केषु सानन्दमुपविष्टा जगति सौभाग्यं तन्वन्तो भगवतः समदर्शिता न्यायिताञ्च विलज्जयन्ति।

क्वचन स्नाता विप्रा राम ! शिवेति भणन्तः, तिलकाङ्कितप्रशस्तमस्तकाः, धर्म-प्रतिमूर्तयः, चक्षुर्मेलं भगवन्त ध्यायन्तः स्वासनेषु कम्पमाना आसते। क्वचन शष्प-पण्यपूर्णे हट्टे "सुप्रभातं बहुदानि बहुधानी[1] वा कारय" इति ध्वनिभिः सहस्राह्वान बधिरयन्ति केतॄन् विश.। वराकाः शकुन्ताः समसाधनहीना अन्योन्यं तनूर्योजयन्तो दुःखस्य परां काष्ठामुपयन्ति।

विलक्षणोऽय भगवान् कालः। अयं जगत सर्वभावानां भवाभवे हेतुः। परमेष्ठिनः सृष्टौ स्थितौ लये चास्यैव कारणता। एष एव उत्पादयति वर्द्धयति नाशयति च जगत्।

---

१ धूणी—वोहणी वा। क्रेतुर्बहुदानि, विक्रेतुस्तु बहु धीयते यस्यां सा मञ्जूषा तां तथाभूतां कारय। तस्यां बहुजनस्य बहुधन समागच्छेत्।

अमुष्मै विलक्षणाय नमोऽस्तु भगवते कालाय।

भवव्याकुलतया सह रजनी वीता। परमकारुणिकः सारुणी गृहीतनमस्कारो भगवानहस्करो हैम दु:ख ताडयन् रक्तनमकशाभिरिवारुणाभिर्दीधितिभिरुदेति। सूर्यस्य कोमलकोमलः सरलसरलो बालालोकः पुण्डरीकेषु नवद्रुमदलेषु वल्लीपल्लवहिमकणप्रकरेषु क्रीडन्नेधाधके। बालभास्करप्रभया विकसितकवाटः प्रासादोऽयं सिन्दूरपूरितकेशमध्याया, अनवगुण्ठितमुख्या नववध्वाः साम्यं धत्ते। यस्य सस्कृतकाचखण्डमण्डितोऽग्रभागः, सूर्यारुणकिरणारुणितो बध्वाः पद्मरागमणिजटितचूडामणितुलनां धत्ते।

महामहिम्नः भास्वदतुलप्रतापतपनस्य राजश्विनपुराधीशस्याभिनवपद्धतिनिर्मितं नव्य भव्य भवन भ्राजते। यद्यपि भवनस्य निखिला सामग्री हिमदूषिता परं नवीनेय रचनारीतिर्विश्वकर्मणा श्रमेण विचार्याविष्कृतेवावभाति। कुड्येषु भुशुण्ड्यादिलक्ष्यार्थं रचितैः छिद्रचक्षुर्भिः साम्यमिवावलोकयत, निर्निमेषनेत्रमखिलामिलां पश्यतीव। प्रोन्नतभूभागे शोणितपाषाणदृढप्राकारस्य मध्ये विस्तृतक्षेत्रे रमणीयतमाऽस्य रचना। परितो मरुकूपनिम्ना बब्बूलव्याप्ता दुस्तरणीया 'र्णीया परिखा। द्वाराभिमुखश्च नवनीतमृदुलसितश्यामोपल कुट्टिम प्रकाशयति यतिप्रह्लादनीं सुषमाम्। द्वारे काचस्थाटा अट्टालिकाः सम्भोक्तृभर्मिमद्वितीय प्रकटयन्ति। गोपुरे धृतोर्णावसनोऽपि ऋतुवलविधूयमानगात्र, कम्पतो हस्तनि सारणमनीहमानोऽपि जनपालशासनभयविवशोऽप्रलमयमचन्द्रहासां भुशुण्डिकां करे कलयन् हिममपनयन् सत्वरसत्वर नगरद्रामी भ्रमाणो-भ्रमति गोपुरिकः।

द्वारमिदं मारकतरूपन्निबद्धकुट्टिमं बहुभिर्भवनैर्विभासमानं विकासते। अजिरे च रमणीया पुष्पवाटिका, तदुत्तरतोऽवलोक्यते राजभवनम्। पुष्पवाटिका न विशाला, परं तिर्यगिष्टकारचितवीथिभिः, पक्षिमिथुनाङ्कितमारकतलवाल[1]लग्नविटपपरिमलैः, विचित्रैर्द्रुमैः, क्वणद्द्विरेफमयूरसन्नादितैश्च नावनतीं वनावनीमत्यशेत।

पुष्पवाटिकाया उत्तरतो द्वितीयं द्वारं विपुललोहं विशालं शालोन्नतश्च। अत्र क्वचन हेषाध्वनिमद्विजना वाजिनः, क्वचन निमीलितेक्षणा मत्ता भ्रमन्मधुलिहः करिणः, क्वचन चकोरकोरगिरा विघूर्णितेक्षणाः हरिणाः शोभन्ते।

तृतीयद्वारकपाटयुगलं स्वर्णपर्णे मणिगणेन रचितैर्लतापुष्पस्तबकैः लावण्यपण्यपुञ्जमादधत् शिल्पिनः प्रमाणपत्रमिवावभासते। उभयतः सुविटपानां परिमलभाजां पुष्पाणां परिमलमतिनिर्हारिणि घ्राणतर्पणं समेभ्यो विभजन् भगवान्पवमानो विदलितोद्यानविटपः प्रवृद्धवेगोऽपि कदलीपर्णपुष्करकर्णखण्डितवेगस्त्रुटितलयो मोदेव मन्द वाति।

अथ वैश्यः कौशेयजवनिकस्य हर्म्यस्यान्तः प्रविश्यापश्यद् यत्, मुकुरोज्ज्वलायां श्लक्ष्णभित्तौ रम्याणि चित्राणि पुण्यश्लोकानां सर्वादीनि सर्वनामानि चाङ्कितानि सन्ति। मध्ये च परितो जाम्बूनदासन्दीद्विगुणितनुपमायां, षट्पदसम्पादितानामुन्मत्तसित-तूलिकामृदोपबर्हपरिष्कृतायामेकतो वीध्रशातकुम्भनिर्मितेऽखिलप्रोदधिसारवैडूर्ये, मारकत-बद्धे, नीलकौशेयाच्छन्नपृष्ठे, जातरूपातपत्रे मयूरासने समुपविष्टो गुह इव, उपहार-दानैर्वराजन्यकुमारोपगूढः, गूढमनुरुचन्नः, अनारतधराधरपतिपुत्रीसेवितः शिव इव, मन्त्रे वाक्लिष्टसरस्वतीकः, राम इव दुःखितदुःखहारी, अर्जुन इव भारतप्रसिद्धः, राधेय इव दानादीतः, भीष्म इव ब्रह्मचारी धनुर्विद्यावित्तः, रचितद्वन्द्वन्याशो वररुचिः, वाग्धरिः, दैत्यारिः श्रीशो विष्णुरिवो होतृकारः, सुग्रीवः, साङ्गदो हनूमान्, सुजनविरलकचोऽपि परिमललुब्धषट्पदकुलितकेशः समुज्ज्वलायतमस्तको दीर्घसुन्दरभ्रूः गोपुरकपाटोरः-स्थलो राजा राजते।

तं कश्चनोपवीणयति, कश्चनोपश्लोकयति, कश्चन दूरस्थायी सामन्तः साञ्जलिबन्धं प्रणमन्नपराधभिक्षां भिक्षते, कश्चन दुःखज्वालज्वलितचेताः कष्टं निवेदयते। अथ

---

१ गमला।

तमायतदोपमदोष विकचोडुविसराया वाशुरायाचन्द्रमिव नरेन्द्र किञ्चिदुपहृत्यैकत उपविष्टे भूमिस्पृशि, महाराजस्य ज्ञानवेलामाकलय्य भ्रूभङ्गवैलक्षण्येनैव निरितेषु त्रपु महाराजवैश्ययोरेवमभूदालाप ।

राजा० । आनन्दितोऽसि श्रेष्ठिन् !

वैश्य० । (स्वजातिप्रभावेण विम्यत्) आम् जगद्रक्षक । को नाम क स्याद् भवति भवद्राज्ये च कोऽप्युत्पात । गता दूरचौरा । मद्द्रय यस्मादासीत्तदपि पलायितम् । चिरञ्जीवतु श्रीमान् निरमवतु ।

राजा० । कोऽपि हेतुरस्ति किमागमने !

वैश्य० । देव ! देवपादानां दर्शनादृते को नाम मुख्यो हेतु सम्भवति, वन्द्यपाद ! वय वणिजो देशाद्देशमटन्त सुन्दरसुन्दराणि विचित्राणि वस्तून्यवलोकयामो देवपादाना दयया लभामहेऽपि । गतयात्रायामह काश्मीरदेशमयासिषम् , ततश्च वपु परिमलमोहितमुनिजना सुरभिनि श्वासा स्त्रियमानीतवानस्मि । सकलदेशतिलकाय माना साऽशेषभुवनभालायमानो भवामतोऽह समवेतसौ दर्या दासीत्वेनोपजिहीर्षामि सकामा वामाम ।

राजा० । बह्व्योऽत्र दास्य , नास्ति प्रयोजनम् ।

वैश्य० । पर देव, महता कष्टेनानीता तां श्रीमच्चरणसरोजरज सेविनीं द्रष्टु नितान्तमुत्सुकोऽहम् ।

राजा० । अस्तु, प्रेष्या ।

* * *

'देव देवीमह ता वक्ष्ये, सा वैश्योपहृता 'काश्मीरीये' ति कृतनामधेया दासी भवता ज्योति शास्त्रानुसार परीक्षितुमनुशिष्टा परीक्षिता । महता श्रमेण अनुनयविनयेन सा स्वहस्तमदर्शयन्न मुखम् । सा सत्य त्रिभुवनपट्टमहिषीत्वानुरूपा कथमिमा दशा भवते इत्येव विचार । एका स्वल्पीयसी रेखा तस्या साम्राज्यं विद्रयति, मन्ये द्विनैर्वैरैषा इमां दशामनुभवति । एषावश्य भगवतीस्वरूपा न कदाप्यवमान्या मान्या च पट्टमहिषीव" ।

'किं कथयसि ज्योतिर्विद्" ?

"सत्य देव" !

"दृश्यतां किं भवति"

"देव, विलक्षणोऽयं विधिः, प्रातर्भ्रमता मयाद्य द्वौ गोपबालावपि वेषेणैव दुःखौ वीक्ष्य तयोर्हस्तौ विलोकितौ। उभावेव राज्यार्हावास्ताम्। निर्बाधराज्यदानी तयो रेखा। अहं तयो स्थितिज्ञानायाहोरात्रं तावपश्यम्। दुर्विनीतो विधिनोऽयं कालः, विचित्रश्चास्य महिमा। यस्य आत्मन प्रतिमूर्तय इव मन्दिरमासन्त-मान्यधनिवेशावतंसा अमलकुलजलनिलयनिर्गता मणय इव शाणोल्लीढाः स्वर्णस्यूतवाससः सुगन्धिगौरशरीराः शोभाला दृष्पबाला बाला सहाया उचिता-स्तस्यैव शिङ्घाणपूर्णघोणा स्वल्पाला दूषिकाढ्यपितवीक्षणा प्रकाम पुष्टिकिरन्त सविमदा इव काला नग्ना बाला सहचरा आसन्। यस्यालकेषु प्रयत्नसिद्ध परिमलातुलं तैलं, सुगन्धसुखगन्धवाह परागपटलभिन्नमवलेपनशोभितं तस्यैव दुर्दिनपरिभूत-प्रभस्य पेरोरिव एडकामूत्रमिश्रिता धूलिधारणाय। प्रतिदिनधावननिर्मुक्तोत्तरच्छदे प्रतिदिन तौलिकैस्तन्यमानतूले मृदुलमृगरोमास्तरणे शीतलविशुद्धपवनवीजिते सौवर्णे कौशेयतन्त्री परिसुगन्धौ मञ्चे शयनोचितो हलकालविरामेषु प्रचण्डकरतप्तेषु स्थलेषु शयान आहूतोऽपि न जागर्त्ति स्म। यस्य सुमधुर सामोद क्षरदाज्य भोज्यमुचित तस्य यवागू-दृशापायमशनम्, तदपि कदाचिदपर कदाचिद्दुर्लभम्। काश्मीरजरक्ताम्रफलदाडिमीका-शिरायनीफलोचितस्य करीरवान दुष्प्रापम्। माधवन इवोपवने भ्रमणोचितोऽजागोष्ठ-निपुटसेवी। धात्रीभिर्मातापितृभ्यां च सप्रेमालापनोचितो भोजनाय रोदिति स्म, विलपति स्म। बकुलमणिकाचाम्पेयनागकेसरवञ्जुलमञ्जुलघटेन स्नानोचितोऽद्य स्वेदबिन्दुदूषित-तनुर्दृश्यते। रूक्षा अपरिष्कृता धूकाल्य. केशा अनीशवां समर्पयन्ति। कर्णयो पीन्दूषम्, कज्जलदूषिका, हारोचिते गले मलरेखा, तनौ दौर्गन्ध्यम्, करयोस्त्वरटनम्, कमलकोमलयो-पादयोर्विपादिका, शरीरे कार्श्यम्, मत्या मान्द्यम्, प्रतिभायाममभतमन्दत्वं इ-मन्थतनयम्। दुर्दैवं, देव, किं दृष्टवानसि अनपायिनि विधौ, विलक्षणोऽसि रे घटन-घटनापटनपटीय। सोऽद्य च देव, नदापरोऽवसरो दृष्टो यदेषां दासानेत दासेरकाश्च पश्यामि। मम मतिर्वा भ्रान्ता शास्त्राणि वा विपर्यस्तानि, नैताश्चेतितुं शक्नोमि।"

* * *

पर्यन्तिमिर नाशयितु विरचितरत्नेरश्म्या मर्त्यो क्षत्रियसैनेव प्राची सर्वानन्द

विक्षिपन्ती घनध्वान्तमध्वसयत्। पराजिता रात्रिर्मुखमन्तर्दधौ। प्रातरत्र पिपतीनां पुरोयोषितां मन्द्रगम्भीरो दयद्ध्वनिर्मादकतां प्रसारयामास। प्रकृतिस्त्रस्तचरेण मुखेन पुनर्जहास। पङ्कजवनस्य मुकुलानि विचकसु।

प्रगेतन पवमनं सेवितु सदश्वमारूढो याति चित्रपुरेश्वर। मार्गे कावपि मुग्धौ अज्ञात वाक्पाटवौ कोमलकमनीयतनू मलिनमुखौ शीर्ण-वस्त्रौ बालौ दृष्ट्वा स ज्योतिर्विदोक्त स्मृत्वा सस्पृह सप्रेमावोचत् 'बालौ! कस्य तनयौ स्थ'?

'देव! कृष्णगोपसुतौ स्व।' ग्राम्यशिशुसुलभया ह्रिया हृतधैर्योऽपि ज्येष्ठोऽब्रूत।

'अपि शिक्षितौ किञ्चित्।'

"नहि देव! अध्यापको रूप्यक याचते, अस्मावमुदरदर्येव न पूर्यते, पितास्माक गतमासे मृतो गावो महिष्यश्च महामार्या मृतास्तदा वराकाणामस्माक क सम्भाव्येत पठनप्रबन्ध' 'आवामनवृत्त्या गाश्चारयाव"।

'अपि कार्यं कर्तुं शक्नुथ?'

'देव! कश्चनास्मभ्य कार्यं ददात्येव नहि। आवा व्यजन चालयितु, गाश्चारयितु शक्नुव पर नास्मादृशेषु कश्चन दयते, दरिद्राणा दर्शनमेव परिहरति लोक। श्रीमता यदि दया भवेत्तदाऽऽवामपि दु खोदन्वत पार लभेवहि।

राजा तु विहस्य दुर्गे व्यजनचालनकार्याय आदिश्य जगाम।

अधुनैतयो सुदिनानि समितानि। पाचकेन सहाप्येतयो प्रम भूतम्। करुणदृशे दरिद्रे सहृदयो दयते। सोऽप्यवशिष्टभोजन ताभ्या प्रायच्छत्। अधुना तयो राग स्वभावो बुद्धिविशदता परिवर्तिता। तौ स्वकर्मणा विनयेन आज्ञावहनेन बाल्सुलभया मत्या च राजकुल वशावदयामासु। उभावेव राजनामाङ्कितवर्त्तलपित्तलपट्टिकाभूषित वक्षसौ तदुचितवाससौ महाराजशयनागारेऽ ववसर वाह्नीक व्यजनकार्यमकुरुता समये सलग्नमनसावपठताश्च।

ग्रीष्म, रात्रि, उष्णता, शीत प्रेतम, वायुरनायुरिव प्रतीयते। चित्र पुराधीश कमलकोरककृतोपवर्ह बकुलशय्यायां निमग्न इव स्वपिति। उष्णतापोपकृ विद्यद्व्यजनमवरुध्य काश्मीरीया हिमशीतेन व्यजनेन शिर पार्श्वे स्थिता सतर्क वीजयति।

मध्ये मध्ये राज्ञो मुख निपुण निरीक्ष्य किमपि विचारयन्ती पुन स्व कर्म सावधानमाचरति। वहि स्थितौ बालौ च राजभयेन शिशुस्वभावाच्चै शनैरालपन्तौ बृहता सुनणान्तर्व्यजन चालयन्तौ स्थितौ स्त । यद्यपि शिरोगृह परितोद्वार तदपि कस्मा अपि दिशोऽद्य भगवान् समीरो न सरति। दूरस्थयोर्बालयोरप्यालाप काश्मीरीया ध्यानेन शृणोति।

कनिष्ठ —भ्रात कामपि गीतिमालप रे !

ज्येष्ठ —नाह जनामि।

कनिष्ठ —केशवस्तु बहु जानाति।

ज्येष्ठ—तेन किमस्माकम्। आवान्तु न जानीवहे।

कनिष्ठः—तर्हि किञ्चिदन्यदालप। अन्यथा तन्द्रा शिथिलयति, उष्मा ग्लापयति।

ज्येष्ठ —यदि आग्रहस्तर्हि शृणु—

अथ मया एक पद्य रचित, गुरवे श्रावयिष्यामि त्वमेव पूर्व शृणु —

क राजास्ते चन्द्रोऽस्तमितरिपुवृन्दो नरवर
क हर्षो बालोऽस्ति क नु जलधिजातो नवशिशु ।
क माता मान्या नावहह ! कमला धर्मविमला
करालोऽकाले हा ! किमिव विदधे कालवधिक ॥

बालस्तु श्रवणमात्रप्रसत्तो नष्टप्रमील पुनर्विनिभूव। परन्तु काश्मीरीया वीजयन्ती मधुरमधुर एकाक्षर सुगम्यार्थ श्लोकमिम श्रुत्वा किमपि स्मरितेव निशितच्छुरिकया हृदि विदारितेव सन्तापतप्तान्यश्रूणि मुमोच। तानि च तदा विशदप्रमादेन नरेन्द्रमस्तके निपेतु। अयोगोलकतापतप्तैरिव मृत्योष्णैरश्रुभिर्निद्रानिद्रे णोत्थितेन राज्ञा पृष्टम्—

'कथ रोदिषि ? काश्मीरीये, विशदय, अद्य ते दु खकारणमचिर जिज्ञासे"।

का०—देव! भवति शास्तरि कोऽत्र दु खयोगोऽपि। किं तमस्तोमहन्तरि भगवति सवितरि समुदिते सम्भाव्यते तमोलेशोऽपि।

रा०—सत्यं कथय कथ रोदिषि ? अभय ते ददामि।

का०—महाराज ! ह्रिमाग्रहेण, किन्तु कथयामि, नितरां दुखिन्यस्मि। नाह सान्तिभिर्दु खवार्त्ताभि सदय भवद्धृदयं खिन्नेदयिषामि। न चाशुचि¹ शान्ते खाते दु खशल्यमारोपयितुमुत्सहे, अलमधुना कदुदन्त श्रुत्वा। मा नाम प्रलीनमनल सधु क्षयन्तु,स्वपन्तु।

उदितजिज्ञासस्तेनोत्तरेण बहुश काश्मीरीयावृत्त ज्ञातु कृतसङ्कल्पश्च स उत्थाय पर्यङ्ग्य पानीय निपीय बहिश्चत्वरे आसन्दीमाक्रम्योपविष्टो वृत्त श्रोतु सज्जोऽभवत् सा च कथमप्यवरुद्धवाष्पा पृथिव्यां समुपविश्य प्रवक्तु प्रारभत—

जनपाल ! यद्यत्यन्त कुतूहल यदि च मन्दभाग्याया दुर्वर्ण दु खद वृत्त शुश्रूषते तदा शृणोतु—

वर्त्तते प्रततप्रतापपर्परीक² सादितशत्रुशर्शरीक,³ घनपुष्ट्योघमर्मरीक⁴ श्रीविमल पुरेश्वरो रामपालो नाम विलक्षणख्यातिर्यस्याह मन्दभागा तनया

राजा०—(साश्चर्यम्) तत्र भवतो विमलपुरेशस्य पुत्री !

काश्मी०। आम्, देव !

राजा०—आम्, तत, त्वरस्व।

का०—ततो देव, श्रीमन्नरेन्द्रव्रातभालायमानस्य नवेन्दुपालस्य पुत्रो विश्वश्रुतयशा परिणीय प्रसूतपुत्रा श्वशुरालयमानयत्। जलमार्गे ममाभूदेकोऽपर पुत्र। आहारादिक नासीत्। जीवनायावश्यक वस्तुजातमानेतु मत्पतिर्नाविमारुरोह। तरि बहो कालात् समुद्रे स्थिता जीर्णाऽऽसीत्, अवतरणसमय एव विद्रुमपर्वताहता दुरवस्थामभजत्। किञ्चिद्दूर गता समुद्रपर्वतेनाघट्टिता, मत्पतिश्च पर्वतोच्चतरङ्गे विलीन। अहमसमर्थापि पक्षद्वारेण विलोकयन्ती आशङ्कितानिष्टा न्यपत सर्वे सहायामसहाया।

रुक्तो हर्षस्य वारिजस्य चाक्रोशेन कथङ्कथमपि नष्टमूर्च्छा हर्ष वारिभि वारिज शिर स्फोरणै सान्त्वयन्ती 'नानिष्ट शङ्कनीय"मिति मनसैव दीयमानधैर्याऽतलस्पर्शे पयोराशौ भोजनमानेतु गत पति प्रतीक्षमाणा सर्व दिन व्यत्ययापयम्।

अथाशेषदिननिरन्तरयात्रापरिश्रान्ते रक्तमिते विरिसौ पश्चिमदिशमवलम्बिते भगवति

---

१ अशुचि—अशोके। २ सूर्य। ३ हिस। ४ शरीरम् (औणादिका)।

सहस्रदीधितौ उत्कण्ठितं हर्षं शान्तयन्ती स्वयमपि बुभुक्षिता तृषिता जलमन्वेषयन्ती स्वैरानुसारं जलागारं प्राप्य पानीयं निर्पायोत्सङ्गवारिजाऽद्राक्षम्।

चन्द्रिका विकसिताऽऽसीत्। पर्युद्यानं प्रोचा भित्तिः। एका जलनलिका पादपतर्पणाय भित्तेरधस्तात्समायाति। वृक्षाः सफलाः सपुष्पाश्चासन्। बुभुक्षितो हर्षस्तर्जनीमाकर्षयन् मामबुद्धयत्। बालविलापमाकर्ण्य साश्रुनेत्रा परोद्यानप्रवेश-शङ्किताऽपि किमकरिष्यम्। पत्रपुष्पफलानामविरोधेनैव जातं सङ्करं परिहरन्ती झटिति गत्वा रसालानि नारङ्गाणि दाडिमानि च त्रोटयित्वा धौतवस्त्रपुटे संस्थाप्य सभयं वीक्षमाणा तस्मै अददाम्। स च वन्यान्यपि फलानि सानन्दमुपभुज्य सुष्वाप।

मदीया दशा विलक्षणाऽऽसीत्। भर्तुरागमनं प्रतीक्षमाणा, नौकाविघट्टनेनानिष्ट-माशङ्कमाना प्रसववेदनाभिभूता बहुकालं निद्रां नालभे।

शान्तो निशीथसमयः, सर्वतः श्रान्तां तन्द्रापूर्विका निद्रा मां प्राप। प्रातजल-गर्जनवीतनिद्रा किमकरिष्यमहं रोदनादृते।

बुभुक्षाप्येका प्रबला पिशाची दुःखेऽपि दुःखिनं दुःखाकरोति। तयाक्रान्ता-ऽप्यसम्। प्रतिदिनचौर्याभ्यासः फलापहरणमुचितं मेने। पञ्चो मास ऋतुरयनं व्यतीयाय। अहं परमात्मानं स्मरन्ती फलान्यदन्ती भवन एव समयं यापयन्ती अवर्त्तिषि।

एकदाहं बहिरलिन्दे केशजलं शोषयन्ती तरङ्गनुपलया बालौ छादयन्ती वस्तु-पूर्णनावं विदेशव्यापारं वैश्यमनुमद्राक्षम्। नावां मार्गो निकेतनस्य पार्श्वत एवासीत् कल्लोलास्तत्र शान्ता आसन्। अथैवाहं बङ्गेः कालात् पुरुषं दृष्टवती। सहसा चलन्ती नौ रुद्धा, पार्श्वे एवाहमासम्, भीतिविह्वलो वणिगूचे 'देवि, कथय किमिच्छसि ? ब्रूहि किं करवाम, भगवति, प्रचाल्य नावम्'।

"महानुभाव, काहं रोधिका नावः, मन्येऽनुकूलेनेश्वरेण भवन्त इतः प्रापिताः। अहं मानुष्यस्मि। सत्यां भवद्दयायामनाशंसितं भूभागमाभ्यामेव लोचनाभ्यामद्रष्टुमपि पश्येयम्"—विहिधिलेन स्वरेणाहमुदतरम्।

"भगवति, त्वं मम धर्मभगिनी, आगच्छ त्वामहं परं पारं प्रापयिष्यामि।" इति वणिजोक्ता क्षणं विचार्य सपुत्रा नावमारूढा, नाविकबलेनाचलत्तरिः।

विचित्रोऽयं विधिर्मामनुगच्छन्नासीत्। महता वेगेन प्रारभत वातुः पृषदश्वः।

विवरमिव जिगमिषुरकूपारतल दिङ्मुखधवलाभवन्नौ । नावि भाराधिक्यमासीत् पापपुञ्जश्च । उभयत कल्लोलाघातश्चासादेव मुद्गरसम । वायुना गलपितचेतसां शुभाशया सहैव भग्ना नौ । एकस्मिन् शकले दर्पवारिजौ परस्मिन् कुमना वणिक अहञ्च । शेष मूल्यभाण्डादिक यादसा पत्या स्वाङ्कीकृत्वा स्वाश्रितेभ्यो वितीर्णम्। मज्जतां जनानां भीषण चीत्कारमाकर्ण्य जलधिर्जहास। जलतरङ्गैर्विदूरमपवाह्य मानौ विह्वलौ दर्पवारिजौ विलोक्य द्विहस्तमितकाष्ठफलकसहायाहं विरसखीं मूर्च्छा मालिङ्गितवती। अर्यस्यास्य विशिपे भग्नोऽभून्मे मूर्च्छासवेश। एष मा नगराद् बहि र्वाटिकायामरक्षत्। उत्तमा प्रसाधनसामग्री, चतुरा प्रतिक्षण मां कामवासनासु सलग्नां दिदृक्षव सप्रयत्ना दास्यो ममाग्रे प्रस्तुता आसन्, अर्हत्तमं भोज्यञ्च।

एकदा रात्रौ चञ्चच्चन्द्रे चाकारे प्रसाधितवेश परिमलालक स्वार्थपर पापपुरेश कलुषितदृक विट भगिनीं मत्वाऽऽनीतायां मयि पतिव्रतायां पांसुलल्लनासुलभां दृष्टि प्रक्षेप्तुमैच्छत्। पर मया, 'नीच! कदर्य! वितथप्रतिज्ञ! नाह गणिका, अपि तु कुलीना क्षत्रियास्मि, तन्मूढ यदि मामङ्गस्पर्शेन दूषयिष्यसि चेन्नियता ते मृतिर्मत्करात्" इत्युक्त परमभीरुर्बुभुक्षितायाः सिंह्या इव सक्रोधाया मम वचोभिर्भर्त्सित स्वकर्त्तव्य धिक्कुर्वन्, स्वभावचतुर, अन्टेनापि कार्येण भवतो धनमानेप्सुर्वार्त्तविशश्च भवदभ्यर्णं प्रैषयत्।

पूर्वस्मिन् दिने भवद्द्वयजनचालकयोर्बालकयोराकृति दृष्ट्वा विस्मिता व्यचारयम्, ममापीदृशौ बालाववास्तां यदि जीवत कुत्रचित् परन्तु शक्नुतोऽपरावपि समानाकृती भवितुमिति विचार्य मौनाऽवर्त्तिषि परमधुना पद्यश्रवणनष्टसशया क्षत्रियवीरपत्नी वीरसूर्नी सविनय सप्रणाम सानन्द सोत्साह सरोदन सहास सकरव धमह प्रार्थये यद्दापनीयौ प्रलीनपतिकाया अनाथाया दुर्भगाया मे पुत्रौ। दीनसमाश्रय! कुरु मामपि साश्रयाम्। हन्त दैवी विचित्रा गति। हिरण्मयसूत्रस्यूतमहाप्रशस्तविस्तृत पटपरिवृता च दन्तदण्डा महार्हौपबर्हा सुखनिलयामध पातितदु खारूढामिव शिबिका चकलेय मिलवामन्यत किङ्किणीसहस्र शिखरस्वर्णकुम्भविभासि सद्वाजियुक्त रथमपि शब्दितगमनमिति, हेषाहर्षितजन फेनमृतसृक्किणीयुगमुच्चै श्रवस तत्सदाय वाजिनमपि वरगाकषणकष्टमिति, सकुथमञ्जनानुकारि द्विरदद्वन्द्व कृष्णरूपमित्यवामन्यत

यो राज्ञामङ्कादङ्कं अमन्दावकाशमलभत यश्च भाविनश्चक्रवर्त्तिनं त्रिदुर्वारणीयवाणयो वचनवत्सस्यायैषा दशा ? विचिकित्सते शास्त्रेषु मामकं मनः। हन्त ! किमिदम् ?

राजा॰ हन्त किन्नाम भवत्याः

काश्मीरीया॰ देव ! कमला।

राजा तु सत्वरमुत्थाय विगलदश्रुः सवेदाऽवगुण्ठननिलीनं धारादर्शि तस्या मुख मण्डलमुद्घाट्य निपुणं निरीक्ष्य कराभ्यां दृढं बद्ध्वा मुहुरमरोदीत्। कमला तु महाराजस्यापूर्वालिङ्गनधृष्टतां विलोक्य निर्विण्णा विविक्षुरपि वक्तुमशक्नुवाना सम्भ्रान्ता विस्फारिताभ्यां नेत्राभ्यां कमपि मधुरं दृष्टचरमिव पश्यन्ती कथमपि विपुलेन बलेन कराभ्यां मुक्ता विवेकविकला एकतः स्थिता।

राजा तु विह्वलः पादयोरानतः "प्रिये ! यं त्वं नष्टं मन्यसे, यश्च त्वमनाथां वारां राशावजहात्, यस्य कृते त्वं वराकीव सेवितव्रतिका भ्रमसि, यश्च श्रीलक्ष्मीनवेन्दु-नयनानन्दनोऽप्यनानन्दनः सोऽसावभाग्यो भाग्यशाली च भर्त्ता तव चन्द्रः।"

कमला तु पुनर्निपुणं निरीक्ष्य मुखचन्द्रं चन्द्रस्य "हा ! प्राणेश" इति कथनेन-सार्द्धं कश्मलमुपगता पतिता च मालती लतेव चन्द्राङ्के।

विलक्षणो मनोहारी परममधुरः सहृदयहृदयसंवेद्यामन्दानन्दस्यैष समागमः। नाटकीयवस्तुनो जवनिकापातो जातः। क्षणेनैव महदन्तरं जातम्, शतशो दास्यो विविधोपचारैर्मूर्च्छामपनिन्युः। घनीकृताकाशशोभास्तोभाः' कमलासम्मानाय विष्णुपदं विदलयामासुः।

विविधमन्त्र विज्ञाय मम मातामहसदनमाथातो देवदथया सम्यक्कृताजीवन सुख न्यवसत्। स ऐषम व्यसनकपीडितो देह जहौ तस्यैवावा तनयौ स्व ।

इप किन्त्व कृष्णस पुनोऽसि अपि स्मरसि परिचिनोपि माम्? कि जलनिकेतन विस्मृतवानसि?' —इपस्लेहदुखविगलदश्रुस्नातानना कमलयोच ।

यूत —(स्वप्न इव आश्चयचकित इव कमलामुख निर्निमेषनयनो विलोक्य तद्वचनरीतिच परिचीय) आ मात ? इत्युक्त्वा साश्रु गलमालिलिङ्ग ।

उत्तापतप्तमरौ पीयूषवर्षिण प्रावृषण्या वारिदा वसुधा स्वगयामासु, ऊपर आरामतां भेज। स्थली रसिकाना मनोमुदे क्रीडास्थली जाता।

कृष्णगोपालस्य पत्नी ससम्मानमाहूता पृष्टा चाववीत्—

एकदा मध्याह्ने वृद्धो मामुपेत्याह। प्रिये नावयो सन्तति, वृद्धोऽह त्वमपि च, वार्द्धके आवयो सेवार्थं परमकारुणिकेन भगवता प्रेषिताविमौ विधिविपाकदारुणवेदना विपन्नौ रोदनरुग्धकण्ठौ जलसम्पक्त्रणौ प्रवाहोह्यमानदारुशकलसहायौ यथाकथमपि सुकोमले तटे समानीतौ कम्बलान्त कृत्वा घृत विलिप्य त्वदन्तिकमानीतौ पाल्य चमौ देवदत्तौ' —इति।

स्वभाववशादहमवोचम् समाप्तसप्तमीक, बुद्धिस्ते भ्रष्टा, प्रतिदिन कमपि समानयसि, अद्य मृताम्बो वत्स अद्य श्व ऽय गदभ मन्ये त्वमेव धात्रा निराश्रितानामेकमानमाश्रय' सृष्ट। शृणु एकदाह युवतिरास, त्वदाज्ञापालने कष्टानुभवो नासीत् परमधुनाह वृद्धा स्वस्यैव जीवनाय आवश्यककृत्येऽपि सालस्य वपुरेतेषा निराश्रिताना सेवायै नालम्। क्षमस्व अद्याह तवान्तिमाम ज्ञा पालयिष्यामि पर नान्यदादमाज्ञप्या' —इति।

शृणु वृद्धे! एतौ मानवजातीयौ देवदत्तौ बालकौ, एतादृशावपैवानीतवानस्मि। इमौप्रेम्णा परिपाल्य।

गृहे देव गवा माहषीणाच समूह आसीत्। अध्याढक घृत प्रतिदिन भवति स्म। दुग्धस्य दध्नश्च घटा पूयन्ते स्म। श्वानोऽपि पयस्तृप्ता आसन्। गृहे केवलमावा दम्पती आस्व। अहमेताविकस्या कोमलाया शय्याया शाययित्वा नवनीत विलिप्य पर्यचरम्। स्वल्पधमयेनैव व्यपगतव्रणवेदनौ हृष्टपुष्टाङ्गौ सञ्जातौ। आवामेतयोर्नामान्यकुर्व न्यूत ऊनश्च ति। प्र तधारोष्णपयःपानपीनौ, नवनीताहाररुक्षबलदेहौ सुन्दरकन्धरौ

सुपरिणाहौ सवेणीकौ अभूतामेतौ। वृद्धेनैतयोर्विवाहादि कर्त्तुं पयो विक्रेतु मजैडकापालनमारब्धम्। किन्तु देव, वृद्धोऽतृप्ताभिलाष एव मृतः। श्वसनकेन स आक्रान्तः। ग्रामे कश्चन वैद्यो नासीत्। परग्रामत एको डाक्तरः पञ्चाशन्मुद्रा आदायागतः परं सोऽल्पज्ञस्तस्य जीवन रक्षितुं न शशाक। तस्यान्तिमेच्छा एतयो विवाहस्यासीत्।

अधुना देव, एतौ मम जीवनस्य स्तम्भौ भवता दयया भृत्यौ नियोजितौ। एतयोः कृते कन्ये मयावलोकिते, मुद्राश्च सञ्चिताः, शीतकाले एतयोर्विवाह विधाय आनृण्यमापादयिष्यामि देवस्य कृपया। यद्यपि नैतौ विवाहयोग्यौ, परमहं वृद्धा न जाने कदा वृद्धदेहं त्यजेयम्, अतो विवाह विधाय निश्चिन्ता बुभूषामि।"

"वृद्धे नितरां प्रसीदामि"—इत्यस्यामुत्थाप्य सिंहासनमारोहयता राज्ञोचे "त्वमद्यप्रभृति आजीवनं हर्म्ये एव स्थास्यसि राजमातेव सम्मानवती, एतौ च तव पुत्रौ अस्य राज्यस्य राजानौ" इति।

हर्षवारिजानुरनयोरश्रावास्ताम्। सलग्ने सम्पन्नः संस्कारः। भविष्यद्वादी ज्योतिर्विदपि ग्रामशत प्रापत्। अन्यप्रसामग्र्या स्नपितौ भास्वद्वाससौ स्वर्णकोशासिधेनुकविलसद्रूपौ सुरभिशरीरौ विविधशिक्षकैः शिक्ष्यमाणौ मनोयोगेनाध्येतुं प्रवृत्तौ तौ।

* * *

मासोऽयमाषाढः। दिनकरखरतरकरनिकरभर्ज्यमानतनुतनवः प्रक्षीणाः पक्षिणोऽनुद्गताभिनवदलेषु द्रुमेषु सपरिवार स्थिताः प्रचलत्पवमानपर्णमर्मरध्वनिशङ्किता ईक्षणमुन्मील्यन्तः परित्यक्ताभ्यवहारा आलस्यमभ्यस्यन्ति। पथिका न तथा पथि पाथेयं पाथः पथ्यं यथा मन्यते। मासेऽस्मिन्नास्ति पाथःपूरपूरितशम्बरधरच्छटाश्यामलं वियत्, न च भीमसहस्रध्वनिपरिभावको बालभीविस्तारको विस्फूर्जथुः, न च स्वचाकचक्यचमत्कृतिचयेन लोचननिचयचमत्कारिणी पीताम्बरस्य भगवतो नीलवपुषोऽनुकारिणी, महान्धकारेऽपि शरच्चन्द्रिकेव प्रपद प्रदर्शयित्री, जलधराङ्कसङ्गिनी चञ्चच्चपला छटा। कविकामिनीव सा संसर्गहीना दीना विभवभयावहे जगति स्वमुखं सुखं दर्शयितुं न शक्नोतीव। वर्षोन्मुखजलधरदर्शनोन्मत्तनर्मा मेघनादानुलापिना नीरदपटलश्यामलगगनलिखितनिःस्वन कम्पितमपि शीतलेन। प्रफुल्लरसालमञ्जरीजर्जरीभवमानधानां पुंस्कोकिलानां श्रवणरमण

स्तमपि विरतम्। वृष्टिजलभरिप्यमाणालवालानां बालाना शाखिनां मनोहारको नूतनच्छदनविकाशोऽपि निराश।

सिकतिले, तिलोपममुखे खे प्रोड्डीयमानरजसि प्रदेशेऽन्तराऽप सुरूपान् विरूपयन्, पल्वलान् किमु ह्रदानपि विशोष्योत्पाटयन्, शाखिशाखा नाशयन्, स्वभावनील नभो धूल्यापारेण पीतयन्, अनभिभवनीयाभाभिभूतसकलकलानिधि, सत्येन निर्जितहिमालयमालयमिव गिरीशस्य, हास्यमिव प्रकृते, यश इव कवीना, प्रभवस्थानमिव मुक्ताना, सुधालिप्तसर्वाङ्ग भवनमपि मलिनयन् प्रचलत्युत्पातवात। मनुतनूजाना नास्येषु हास्य, नच प्रभया विजितबिम्बफलचरेष्वधरेषु राग। तेष्वद्याभ्रकवेता पर्पटी प्रसृता।

परश्चन्द्रस्तु चित्रपुराधीश पुत्रपत्नीसमेतो नितरां सुखी मञ्चे शयानोऽस्ति।

विलक्षणचर्योऽय भगवान् काल। एकस्मिन् काल एव विविधभावना विभावयति। एक समय आसीत्, चन्द्रस्य कमलाया हर्षस्य वारिजस्य च का दशाऽऽसीत्, स्वार्थपरायण जगत् काणेनाक्ष्णाऽपि तान्नेक्षते स्म। जगत् स्वसुखे व्यासक्तमासात्, कस्यापेक्षा क कीदृशोऽस्ति, जगद्गर्ते निपततु पात ल वा प्रयातु, किमितरेण प्रयोजनम्। परमद्य

कमलाया न गतदिवससाधारण काल। साद्य पतिपुत्रसमेता स्फीता, महिषी देवी पट्टराज्ञीपदैर्भूष्यते। एकाह्वाने शतशो दास्य सकरबन्ध पुर सम वतिष्ठन्ते। विलासेनापि भ्रुकुटिविलाससङ्कोचे सर्वमन्त पुर परमेजते। अहेतुकेऽपि तिर्यङ्नेत्रविन्यासे सन्यास[1]इव समागच्छति।

अद्य तु रूक्षैरलकैरलङ्कृतचर शिर प्रयत्नसिद्धेन पुष्पसुगन्धिना तैलेन स्नेह्यते। यस्याधो भ्रूमध्यलग्न ललाटविभासि काश्मीरतिलकमनन्वयालङ्कारस्योदाहरणम्। यस्या नासिकोदरौष्ठजङ्घादन्तकर्ण[2]शृङ्गाच्च सौन्दर्य प्रच्यवत इव। ग्रीवायां ग्रैवेयकस्तस्मिन्नेव वक्षोजविषमे, उरक्षेत्र यस्मिन्नासीत्सततान्श्रुपातदुर्दिन सविभ्रम भ्रमत्, नवा मृदुलकौशेयनिर्मिता रक्तवर्णा, स्वर्णसूत्राङ्कितपुष्पा कक्ष्यां शाटी, शिरसि रसिकास्त्र शिरोरत्न सीमन्ते पारितथ्या, ललाटे पत्रपाश्या, गले ललन्तिका, करभे पारिहार्य, सौवर्ण केयूरद्वय मुक्ताजटिता षट् मणिबन्धे वलय[3]बन्धा, वैदूर्यखचितोर्मिका, पद्मरागचन्द्रकान्तमणि

[1] सन्यासो नाम रोग। [2] कर्णशृङ्ग=कर्णशिखर यत्र स्त्रिय स्वर्णवलयका दधति।
[3] भाषाया—"बन्द बगड़ी"।

घटिता सासकौ, नखेषु मुखरमञ्जीरं, स्वर्णकिङ्किणीशतालङ्कृतं गुल्फालङ्करणम्, शाद्व-पश्चाद्श्लिष्टजघनदण्डं चण्डातकं[1] करे वाञ्छितपटद्वैतेऽधिकां छविमेधयन्तेऽस्याः।

परमप्रेमपरा, सतीशृङ्गारभूता कमला वीजयति। प्रचुरानुकम्पा चम्पा च पादौ संवाहयति। एकस्यां शुभासन्द्यामुपविष्टया व्यजने व्याप्रियमाणया कमलया भवत्यालापश्चन्द्रस्य च।

कमला०—देव, तदपि कथनीयम्।

चन्द्र—अये, किमिव कथयामि, महानसौ वृत्तान्तः, शोकाकरश्च।

कमला०—आश्वेव जिज्ञासे श्रीमन्, यावन्न श्रोष्यामि तावच्छान्तिं नेष्यामि। चम्पापि नृशमुत्का—

चन्द्र०—श्रूयतां यदि कुतूहलम्, प्रवालपर्वतहर्म्याद् भवत्या वियुक्तोऽह...

कमला०—(मध्य एव) नाथ! को नामायं प्रवालपर्वतः!

चन्द्र०—मुग्धे! जलजन्तवः प्रवालकीटाः स्वावासाय जाल्मयं गृहं विरचयन्ति, तदेव वर्द्धमानं कालान्तरेण पर्वतरूपतामुपैति, तत्रैव हर्म्यं निर्मितमासीत्। प्रवाल-पर्वतान्तःपातित्वेनैव तत्रत्यं जलं मधुरं निर्मलं तत्सान्निध्यादेव तरङ्गाणां स्तैमित्यञ्चासीत्, परन्तु प्रवासकेन प्रभावो द्योतित आसीत्। अस्तु, भवत्या दत्ताः शीघ्रं निकटवर्तिनो नगराद्बहुमूलीयौषधीः वलातैल गव्यमाज्यं यवानीमोदकान् पूगपाकांश्चानेतुकामः प्राचलम्, परन्तु मम नौर्भग्ना। विभिन्नफलकेषु जीवनरक्षाव्यापृतानां तत्प्रयोजको हेतुश्च विधिरेवासीत्। पयोधिपयः शैत्यशीतले कमलामलकरुणाचितनभस्तलिम्नसामव्यञ्जने कोमलमृदुसंसृष्टुले सिकतिले व्यपगतमूर्च्छोऽपि नितान्तं शिथिलः शीतवातवीजितस्तन्द्रा-पूर्विकां निद्रामलभे। परं तत्रोपालम्भप्रचुरैर्दुःस्वप्नैरपेतनिद्रस्त्वां द्रष्टुमधिकतरव्याकुलम्। हन्त, प्रचण्डचण्डकरकरनिकरैर्मरौ भ्राम्यती पादचार मारयिष्यते। हहो, वेध! एवदेव विघटयितुं त्वयैतदाचरितम्। विदूरवासिन्यामनाथायां प्रेम मृत्युमुखेष्वात्मानं निपात्य यामानीतवान्, हन्त, सैव यमामचर्चितमसहाया मिथस्त्यजे। समपेक्षमाणा तर्जन्या दुर्यं वहन्ती दत्ताग्रेन च वारिजं बहिर्गताग्रं कुर्वती मानवागच्छन्तं वीक्ष्य वियोगविधुरा नूनं साध्वी पतिता क्वापि तिमेः कवलीभूता।

भञ्झावात! प्रपातय! समुद्रबन्धो! भालपट्टकुरु मकराः कराभ्यां गृहीत।

---

१ "लहँगा" भाषायाम्।

मित्र! प्रवात! श्रूयते त्वं ग्रामानपि प्रचलन् मुखवहसि, वनान्यपि समूलान्येव नयसि। तदा ¹प्रवात? अहमेव बहुभार?—(हसित्वा) पश्यत कीदृशी निष्ठुरा अस्या करुणापि नादेति

कमला०—आम् आम् करुणागार! भवतामिव करुणा जनेषु कस्यापि मा नाम भूत्। धन्या! स्त्रियमपि न सस्मरु। हन्त! कारुण्यम्?

चन्द्र०—अस्तु पुनरहमेव व्यलापिषम्।

सुखिनोर्वत! केलिकामयो परतन्वोरपि साम्यमीयुषो।

हरता महमावयोर्विधे। निहता हन्त! वय नु दु खिन ॥१॥

हे विधे! केलिकामयो क्रीडाभिलाषयोरत एव सुखिनो तन्वोर्भेदेऽपि अभिन्न जीवयोरावयोर्महम्=उत्सव हरता नाशयता दु खिनो वयं निहता ॥१॥

रतिहास्यपदानि चिन्तयन् गमने विभ्रमचेष्टितानि च।

विजितेन्दुमुखे कथ प्रिये? कमले! कथन हा! निजीविपेत् ॥२॥

विजित इन्दु येन तादृश मुख यस्या सा—तत्सम्बुद्धौ प्रिये कमले रतौ ते हास्य पदानि, गमने विभ्रमेण चेष्टितानि च चिन्तयन् कथन् कथ जिजीविषेत् ॥२॥

जघनेऽयि! निधाय मच्छिरो रचयन्त्या रचना कचे क्वचित्

मुखवासन एति शश्वता कुसुमेषोरधुना स्म किं! प्रिये ॥३॥

अयि प्रिये! मच्छिर स्वजघने निधाय क्वचित्–स्थाने समये वने उपवने वा कच रचनां रचयन्त्या भवत्या मुखवासन कुसुमेषो शश्वतामेति स्म। अधुना किम्, त्वयि मृताया वार्त्ता एवावशिष्टा इति भाव ॥३॥

तपनीयललाटपट्टके ललित वर्त्तुलबिन्दु ते सखि!

स्मरतोऽपि कुजीवन प्रिये! व्रजति स्मृत्यवशेषता नहि ॥४॥

प्रिये! ते=तव तपनीय=स्वर्ण तद्वद्भास्वरे ललाटपट्टके ललित वर्त्तुलबिन्दु हिङ्गुलस्य योगेन रचित वर्त्तुलबिन्दु स्त्रियो दधति। तत्स्मरतोऽपि ममैतत्कुजीवन स्मृत्यवशेषता=मृतिं न व्रजति ॥४॥

---

१ प्रवात—सामुद्रिक बवण्डर (साईक्लोन)

प्रथिताभकपोलतल्लजात् ललितात् पक्वरसालवद् वरात् ।
व्यथते हृदयं ममाधुना हसितात् कन्दुकवत्समुज्ज्वलात् ॥५॥

प्रथिता = जगत्प्रसिद्धा आभा यस्य तस्मात् कपोलतल्लजात्=श्रेष्ठाद् गण्डयुगलात्, पक्वरसालेन = रसालफलेन तुल्यात् वरात्, हसिते=हासावसरे कन्दुकवत् समुज्ज्वलात्= समुन्नतात् कन्दुकवद्भासमानात् कपोलादधुना मम हृदयं व्यथते ॥५॥

कुसुमाचितहेमपट्टिकाललितांस्तन्वि ! विचुम्ब्य तेऽलकान् ।
त्वदवाप्तसुगन्धसत्क्रियः सदयं शाययतीव मारुतः ॥६॥

कुसुमैः=पुष्पत्वेन न्यस्तैः हीरकशकलैः आचिता = खचिता हेमपट्टिका=शिरोभूषणभेदः, तेन ललितानलकान् विचुम्ब्य, त्वत्तोऽवाप्ता सुगन्धसत्क्रिया येन त्वत्केशपरिमलप्राप्त्या प्रसन्न इति भावः। मारुतः = वायुः, सम्प्रति मां=सत्कारकारिण्यास्तव पति सदय = तव ऋणित्वेन शाययतीव ॥६॥

विकचानन आकुलाङ्गनो रजनीनाथ उदेष्यति प्रिये !
हततुल्यगुणो महात्मना सुखदो हन्त ! हता महात्मता ॥७॥

प्रिये ! अथ रजनीनाथश्चन्द्रः, विकचं प्रफुल्लमाननं यस्य अत एव आकुला अङ्गना येन कामोद्दीपकत्वात् तथाभूत उदेष्यति। यतो हतस्तुल्यगुणः समानगुणो यत्सम्भूतः। महात्मनां—महाशयानां सुखदः=हर्षप्रदः अथवा महाशयाः स्वसमाने नष्टे प्रसीदन्ति। हन्त ! खेदे, महात्मता पुण्यवती महात्मपदवीर्हता = नष्टा। "सर्वे भद्राणि पश्यन्तु" इति—तेषां विचारोऽपि विदलितः।

तव लोचनमित्रमम्बुजं समदुःखमुदं विकल्पये।
य इतिमन्तमुदीक्ष्य यद् विधुं समकोचीत् तव मृत्युशङ्कया ॥८॥

इदं अम्बुजं, तव लोचनमित्रं अतएव तव दुःखेन आनन्देन च समौ—तुल्यौ दुःखप्रमदौ = हर्षश्च यस्य तथाभूतं विकल्पये = विचारयामि। यत्कमलं विधुं द्युतिमन्तं वीक्ष्य त्वन्मुखमनुमाय, कमलायां सत्यामनु कदाप्येव प्रफुल्लाननो नोदगात्, यद्ययोदेति, तन्मन्ये मृता कमलेति विचार्य, समकोचीत् = सङ्कुचितवान् ॥८॥

अधरे मधुरानने ! प्रिये सुरतामोदनवेऽधुना स्मृतम् ।
न्यसन तव कोमलाङ्गुलेर्विरत मा विदधाति जीवनात् ॥६॥

अयि मधुरानने ! सुरतस्य य आमोद मनोहारी परिमलस्तेन नवे ! सुरतोत्सवयु अधरे कोमलाङ्गुलेर्न्यसन = स्थापन मां जीवनाद्विरत विदधाति ॥९॥

समितो नहि विस्मृते सृतिं सुभगौ विल्वसमौ कुचौ तव ।
अयि मञ्जुलदेहवल्लरीसुषमान्यक्कृतकामकामिनि ! ॥१०॥

अयि ! मञ्जुलदेहवल्लर्या सुषमया = परमया शोभया न्यक्कृता – दूरीकृता कामकामिनी – रतियया सा तथाभूते ! ते सुभगौ बिल्वसमौ, कठिनौ वर्तुलत्वेन शालिनौ च कुचौ विस्मृते सृतिं = विस्मृतिमार्ग न समित न गच्छत ।

कमला—(मन्द हसन्ती, अपाङ्गेन चन्द्र पश्यन्ती नि श्वसिति ।)

चन्द्र ०—(हसन्) किमर्थ मुधैव कृत्रिमनि श्वासविधौ व्याप्रियसे ।

कमला—नहि देव ! अह भवतो जीवन एव नौकाघट्टनात् शङ्किताऽऽसम्, परन्तु भवन्तो वृत्ताख्यादमनाशयन्तोऽविच्छेदेन प्रकृतमनुसरन्तु । आ तत ?

चन्द्र०—ततोऽह पुनरपि 'देव ! किमनाय कृतवानसि, असिताक्ष ! विपन्नां मातर दृष्ट्वाऽपेतदर्पो हर्षोऽपि नून कथावशेषतां यास्यति ! हा ! नवजात शिशुर्मे विदलिते लतेव पृथिवीतले प्रसरिष्यति । मामदृष्ट्वा रुदन्त बाल हर्षं कमला सान्त्वयिष्यति 'पुत्र ! हर्ष ! नवोनैर्नवीनानि वासासि, स्वर्णसूत्रस्यूत छत्रम्, आसक्त मुक्तामुष्णीषिका पटत्कारान्, फुल्लझरी ज्योतिश्शलाका आनेष्यति मा रुदिहि रे हर्ष ! मा रुदिहि" परन्तु हन्त ! कियत्काल सान्त्वयिष्यति, अन्तत । हा ! हन्त ! प्रिये ! ममास्ते मनोरथा ' इति विपुल विलप्य चेतनामजहाम् । सवा विभावरीश्च प्रकृष्टाश्लिष्टमूर्च्छाय एव व्यत्याययम् । प्रात प्रबुद्धो विलपन् जीवन जिहासुरात्मानमुपजिहीर्षुर्ब्रह्मपुत्र गत्वाऽऽत्मान जलसात्कर्त्तु सज्ज आसम् परन्तु भव्यभावनो भगवान् यदिच्छति तदेव भवति, यतस्तस्मिन्नेव समये एषाय पिताभिर्गाम्भीयपूर्णाभि कञ्चुकिभिरिव वितताभिर्मण्डलाकाररचनाभिर्जटाभिर्भाभिर्यो

ज्वलितमुखमण्डलः प्रोन्नतायतललाटो मांसलोन्नतघोणो भस्मत्रिपुण्ड्राङ्कितशरीराहितरुद्राक्ष-मालालङ्कृतकण्ठः, सव्येन दण्डमितरेण कमण्डलुं करेण कलयन्, लम्बमानस्थूलजटः, कदलीदलकौपीनः, पीनस्कन्धगम्भीराकृतिः कृती, तेजसा शान्तेन पापपुञ्जानपि दहन्, दयाङ्कुरितान्तर्मतिस्य दलनः, प्रभवो धर्मस्य, विहतपापपुञ्जोऽन्तरात्मा, शमदमनिर्मलमनाः, अस्पृहयाम्बरस्यन्दुमुनिः। स च गम्भीरया वाचा नन्दयन् नन्दगुणमुवाच—

पुष्कराज ! नास्ति पापनाशमदननतुल्यम्, यस्मै दुःखाय त्रिदशे ततेऽचिरादेव सम्पत्स्यते सुखम्। ना स्म पातक क्षैतीः। आयाहि तपोवनं प्रविशामोऽतिशयितेऽर्दनेवेला, इति। वनभूमिं विपुल ऋषिशिशुश्रमेण निर्मित आश्रमो लघीयानेवासीत्, परं धन्यघोषेण पुष्पपरिमलेन धूपगन्धेन च मुखरित आसीत्। क्वचन निरङ्कुशा हरिणा रोमन्थ वर्तयन्ति स्म। क्वचन धेनवो नवीवत्सेन स्नपितपयः स्तनन्धयान् स्तन्यं पाययन्ति स्म। क्वचन पनसानाम्रकानाः पुष्पाण्यवचिन्वन्ति स्म। अपवर्गभक्षिणोऽन्धर्जपाः पक्षिणोऽन्यास-मातुर्याश्चान्याम्नायान्यस्यन्ति स्म। क्रूरतरा दृशाश्च विपुलफलभरितेषु वितुन्दो नवोपसादिताः प्रजा इव फलं ददति स्म। पापिनामपि मनसि तपोमात्रं जनयन्तो वनाधनीय विलक्षणा नन्यरनभोपाणीवशाप्येनसा रहिता इवासीत्। तनाहं चन्दिकाल्मषुष्यात्रम सञ्जनोऽरण्या-नाप्यलंसकलेन्द्राः। परिपलमानवरवारणघटाकुम्भोत्पाटननिःसृतमुक्ताभास्वरनखनूखाः दैवज्ञा इव ज्योतिषा भासन्तः, सम्प्रति नप्रहरकालाधनीपरत्तवन्यवादहत्ता इव हर्ष-वर्षेण हरिणप्रासान् हरन्तो वारणमारणोपार्जितगर्वा अनिर्वापितादनमदभरनम्बराः, जृम्भणदर्शितस्थलनानशोणितशोणरदनच्छदाः, पदवमास्त्रवर्णेन, स्वगराजत्वस्थापक-धजेनेव, मृदुलकोमलचिताग्रपुच्छप्रदेशेन शोभितपृष्ठप्रदेशाः वनन्तवय, केशरिणो रमायन्ते स्म। क्वचन केशरिकिशोरकाः मीदनपञ्जर कैशोरशौर्यं रचयन्ति स्म। क्वचन कपिपोतमभूमितमाश्रितपार्श्वं, कालव्जगदायहन्त, साधेऽहः स्नातुं सरो गच्छत्, कुम्भकुम्भेषु नीरलाभपूर्णे पूरितालवालं, नव्यनानरञ्जनं, सवन्दं चलच्चपरीकं कमलवर्तनिवाऽऽसाम्पुटितं, बुभुक्षितं, प्रवरस्फटं कर्पटिकुरं कृत्वा आकुल्यति स्म। विहितद् हिताः द्विसरोत्ताय वराकहिंव हिंसन्ति स्म। क्वचन[1] मल्कमल्लुक[2]वदकान्त-नितान्तायां निष्ठुरश्वापदगरपूरपूरितायां काननभुवि, मुनिं विना बालकविक्षतदन्तः,

[1] मृग। [2] पक्षी।

शाणोल्लीढाग्रविषाणा घोरघोणघोणा, पोथिनो द्रुमान् घर्षयन्ति स्म। क्वचन व्याघ्रमुखशर-कौटेयकत्रासनस्तैः, त्यक्ताधचर्वितरोमन्थैः, फेनिलल्पनैः, जडजानुभिः, जीवने हताशैरितरस्मिञ्जनुषि भेल्प्याम इत्याश्लिष्टमृगीवैः, मृगीभिः सप्रेम कण्डूयमानैः, मृगैर्विस्फार्यमाणनत्रा सनातनेना इव, नरीनृत्यमानमयूरा क्वचन मृणालीलीलाललिता, क्वचन विशालबिडाललाञ्छिता, क्वचन वन्यराससभीरव रासभस्यनीरसा, सततभक्तभकराब्दितपल्वला, क्वचन शुकपिकक्रियमाण जयघोषा, तरलभृङ्गनेगीयमानगुणैरभिनवाङ्कुरितपत्रपूरपूरितदुर्जटवटैः प्रकाण्ड सण्डमण्डितकाण्डैस्तालतमालसालशालाश्वत्थनिम्बैर्विहितपिधाना, अनीयमाणतपना, क्वचित्करिरदनलोलुपक्षुणिन्दकुलाऽऽहिण्ड्यमाना, भयङ्करदशना, शुन्धुनइभागा, अविदिततत्त्वा, वनभूमावभ्रमन्, क्वचन पर्वते, क्वचन वृक्षमारोहन्, सिदगजजन्यमवलोकयन्, रुदन्, हसन्, विलपन्, पतन्नुत्तिष्ठन् जीववृन्दमनेकमन्यपदार्थं वर्त्तमानं सतर्कमीक्षमाणो वञ्चितदृष्टि, अपेतापोटमुत्पतितापनस्तैरलशो दुःखितो, दर्शं दर्शं जीवानामात्मनो वनस्य च दशां भ्रमन्नवर्त्तिषि।

लेखकल्लनेव [1]विचारमलिना सन्ध्या शय्यां भेजे। केशा इव तमोरश्मयस्तथा विश्लेपिता। प्रादुर्बभूव च कालाम्बरधारिणी विधवेव विभावरी। अहमकस्या दीर्घिकाया राजहंसैर्हंसीभिर्गृह्यमाणमृणालायास्तटभवने वनेऽपि निरशङ्कोऽशयिषि।

प्रत्यूषम्। अरुणितं वियत् पत्ररथसमुदयवातवीजितम्। सरस्सु उदम्भासि कमलवनानि पुस्फुटुः। कौमुदी त्यक्ताभ्यासस्य विपश्चित इव तनिमानमधृत। पेचका शोकं, कोकाश्च शोकविमोकमापुः। प्राभातिको राग इव मनोहरन् बभौ सालसगमनं प्रभञ्जनः। तपोवनवासिनां श्रोत्रियाणां वेदध्वनिः सर्वतो व्याप।

अथाहं विचारवैपुल्यविनष्टवितर्कः प्रातःकृत्यं विधाय वन्यफलानि प्राश्य पाथेयञ्च पोट्टलिकायामाबध्य जनपदगामिनं पन्थानमाश्रितो यथाकथञ्चिद् राजदुर्गं नाम विद्वत्पुरुषकं श्रीमच्छ्रेष्ठं नगरं प्रापम्। विशालविपणौ शृङ्गाटकललाटे ऊर्ध्वपुण्ड्रायमाणं नादद्योतितसमयं घण्टागृहं जनान् बोधयति स्म।

मम दशा विशृङ्खला, वस्त्राणि नितरां मलिनानि अव्यवस्थितानि चासन्।

---

१ वीनां पक्षिणां चारेण गमनेन।

इशानकोणस्थनिद्वारे आलपतां महर्षिबालकल्पानां चन्दनभाग्भालानां छात्राणां परमात्मस्तवान् शुश्रूषुस्तत्रागमम्। प्रेक्षिपि च छात्रा भगवन्तमुपश्लोकयन्ति। केचनोपलचयरचितकुण्डिकाप्रतिष्ठापितस्य महामहिम्नि शिवस्य समर्हां विदधति। क्वच ऋद्धिसिद्धियुतस्य भगवत करिश्रोत्रस्यान्तरायनाशका स्तवा पठ्यन्ते। इतरत्र काष्ठपीठ विराजितपित्तलगुभासनस्य श्रीलब्धस्य पादोदक जरीगृह्यते। अन्यत्र पार्श्वकुड्यन्त प्रविश्य सिन्दूराङ्कितविदूरविभासिवणमालाया, केशरिणो लावण्यधरायां कन्धरायां विराजमानाया निशूलरूपाया भगवत्या जगदम्बिकाया पादयोर्निपत्यते। सम्मुखे चास्य भवनस्य काष्ठपीठप्रतिष्ठितपुराण, श्मश्रुनिचितमुख प्रौढ जसराम इत्याख्य इमां भगवच्छङ्कराचार्यकृता गीतिं गायन्नासीत्—

जय नारायण। जय पुरुषोत्तम। जय वामन। कंसारे।
उद्धर मामसुरेशविनाशिन्। पतितोऽहं ससारे॥१॥
दीनोद्धरण। नरकरिपो। नर। केशव। कल्मषहारिन्।
मामनुकम्पय दीनमनाथ कुरु भवसागरपारम्॥२॥
जय मुकुन्द। राधावर। सुन्दर। जय शिशुपालविनाशिन्।
जय करुणामय। जय गतरक्षक। जय वैकुण्ठनिवासिन्॥३॥
त्वं जननी जनक प्रभुरच्युत। त्वञ्च सुहृत् कुलमित्रम्।
त्वं शरण शरणागतवत्सल। त्वं भवजलधिवहित्रम्॥४॥
जय जय देव। गयासुरसूदन। जय मुरमधुहन् विष्णो।
जय लक्ष्मीमुखकमलमधुव्रत। जय दशकन्धरजिष्णो।॥५॥
पुनरपि जनन पुनरपि मरण पुनरपि गर्भनिवासम्।
सोढुं नाल पुनरपि माधव। उद्धर मा निजदासम्॥६॥
यद्यप्यहं सकल कलयामि किमपि हरे न हि तत्त्वम्।
तदपि न मुञ्चति मामिह माधव। पुत्रकलत्रममत्वम्॥७॥

अपराधं मे मुरहर ! परिहर कुर्वे चरणश्रयणम् ।
संसारार्णवतरणे करुणावरुणालय ! भव शरणम् ॥८॥
जनकसुतापतिचरणपरायणशङ्करदृढपरिगीतम् ।
तारय नाथ ! परं पुरुषोत्तम ! मां भवजलधिनिपीतम ॥९॥

तत्रत्याश्छात्रा यदा रात्रौ पठन्ति स्म, सूर्य उदेति स्म। तेषां शास्त्राभ्यासः सुदृढः सुदृढ, गुरुभक्तिः स्थिरा पूर्णा, निवसन सरल विनीतम्, वचनावली मधुरा ओजस्विनी, खाद्यं पानञ्च देश्यं साधारणञ्चासीत्। ईश्वरभक्तिस्तेषामीदृशी यत्ते घटैः शिवं स्नापयन्ति स्म, विविधनियमव्रतानि, पालयन्तिस्म। तेषा सद्व्यवहारोऽविनीतानमयतिस्म, तेषाञ्चेतो वैरविरोधेन शून्यमासीत्। ते परस्परं मात्सर्यं न कुर्वन्ति स्म। सहपाठिभिः पाठचर्यां चरितुं, प्रोच्चान् विनीतभावेन सत्कर्तुं, तैः शिक्षितपदार्थमादातुञ्च ते प्रवीणा आसन्। पारस्परिक प्रेम तेषां जीवनकालस्य विशिष्ट आनन्द आसीत्।

मध्याह्नसमये सद्भिश्छात्रैः सत्क्रियमाणोऽभुक्षि। पाकशाला स्वल्पीयसी धूमपूर्णा चासीत्। उद्धृतौदनाः स्थाल्य एकत्र निहिता आसन्। भोजनभाजनेषु एकैक द्वौ द्वौ वापूपौ, सूपः, स्वल्पमोदनञ्च परिवेषितमासीत्। मह्यमप्येकं भोजनभाजन दत्तम्। सत्यं वच्मि, यथा स्वादुत्व तस्मिन् भोज्ये आसीत्तथा नाद्यावधि मयास्वादितम्। यतो भोज भोज भोज्य घृतगन्धि, पाय पायं कौण्ड पयस्तृप्तिं नाध्यगमम्। तद्भोजनसम्पदि तव सर्वा भोजनरचना व्यर्थतामुपयन्ति।

सायमभूत्। अहमुत्थाय दक्षिणदिशि अध्यापनभवने तूलिकोपविष्टान्, महोपबर्होप-बृंहितपृष्ठदेशान्, मुखरमुखान्, पवित्रधर्मकायान्, परिहृतलौकिकमायान्, अधर्मसायान्, स्वरुराक्षसरसन्तुष्टीन् मलयजचर्चितप्रलम्बभास्वरमस्तकान्, विमलवसनविभूषितवपुषः, पुषः समस्तशास्त्रयाथातथ्यस्य, सर्वतन्त्रधीरधिषणान्, प्रसारितैकचरणान्, शान्तान्, दान्तान्, व्याकरण-षट्कारफक्किकामञ्जरीमधुलिहः प्रकाण्डकर्मकाण्डसरोराजिराजहंसावतंसान्, अनाचारप्रचारधुरीणतृणधनञ्जयान्, धर्मध्वंसककरीपाशुशुक्षणीन्, जनार्त्तिकरविपज्जलद-घटापहरणमातरिश्वनः, सेवकजनवैभातिकवायून्, कासवरा कुमुदबान्धवान्, सहृदयश्रवण-पुटकपेपीयमानजेगीयमानानवद्यगुणगणान्, इन्द्रानिव बुधवरपूज्यमानपादपद्मान्, परमेष्ठिन

पण्डिताः—भवद्द्वारेणामु त्रिलोकीराज्यसुखं पश्यामः। (क्षणं विरम्य) परमन्नीयसी बाधा, अर्द्धस्य सत्तां तु न निवारयति कोऽपि। तथ्यं वाच्यं कथा व्यवहृतिः।

अहम्०—तदपूर्त्यै अलब्धाशानां नः क्व धर्षीरमणीन् भङ्गभूपि शरीरम्।

पण्डिताः—किमिव कथयामः।

अहम्०—देव! अहमपि अस्माद् दिनार्णवान्निःसरिष्यामि, ममाप्युद्धारो भविष्यति कदापि?

पण्डिताः—उद्धारः, (घटीयन्त्रं पुस्तकञ्चावलोक्य गणयित्वा) आमुद्धतिस्तु भगवती-प्रसादात् शीघ्रमेव, परस्मिन्नेव दिनेषु दुःखमपि लप्स्यते।

अहं०—देव! दैवेन दीयमानं सर्वं सहिष्ये।

साय सन एव छात्रा प्रचुरश्रमपर्यध्ययनाः श्रममपनेतुं, शौच निर्वर्तयितुञ्च गच्छन्ति स्म। अहमपि पण्डितवरान् शिरसा सादरं प्रणम्य सतीर्थ्यैः सहागमम्।

छात्रेषु बहुष्वपि त एव मुख्या आसन्, ये पण्डितानामन्तिके दृष्टाः। एते मुखभव-भीरवन्तो वृन्दारकगिरा वनमपि नगरयन्तः, हास्येन, क्रीडया दिनश्रममपनयन्तो विचेरुः। स्वभावेन विलक्षणबुद्धयो विद्यार्थिनः।

शौचं निर्वर्त्य परावृत्तास्तेऽहमपि। विद्यालये उत्तरतः, उपभित्ति सलिलवती कूपासीत्। अमृतमधुरजलञ्च पल्वलम्—कुण्डम्। उपकूपि पुष्पविटपाः सुगन्धं विकिरन्ति स्म। तान्ये विधौ व्यापृता अन्तेवासिनः। विद्यालयपूर्वदिशि महानस आसीत्। वैश्वानरे पयःपूर्णानि पात्राणि सन्तानिकया राजन्ते स्म। तैलस्निग्धाङ्गा दण्डे पट्टिकायाञ्च लग्नाः। व्यायामो जीवनं प्राणिनामस्येति छात्रा व्यायच्छन्ते स्म।

पूर्वपनः। प्रथमतस्तु अनावश्यानिशा, द्वितीयतश्च मेघानां महाडम्बरम्। गगनम्। यथा विद्युद्यात्रिका मेघाः सर्वाम्भूर कज्जलायन्ते।

अहं धूमशकटीपथिकावासे[1] गमनमागम्। स्थानं रमणीयं विरलजनमेवासीत्। शनैःशनैर्यात्रिका आगच्छन्ति स्म। प्रकाशस्तम्भेषु लग्नाः प्रदीपा दटुभिः सहयोगं विधाय तमसा युध्यन्ते स्म। घण्टाघोषोऽभूत्। दूरो जनकलुषः प्रवर्द्धितः। एका

१ मुसाफिरखाना।

इव इमध्यसानिनीकान्, विष्णूनिव द्विजेन्द्राश्रयान्, शिवानिव लग्नविभूतीन, भवभूतीन, कालिदासान्, त्रिविक्रमान्, रामानिव शास्त्रार्थमवनिमुपागतान्, कृष्णानिवार्जुनसम्पृक्तान्, नारदान्, श्रीमन्नृपतिमुक्तायितवीरबलविपुलोरस्कासलततल्लोरुश्रीगङ्गासिंहशासित बीकानेरराज्यान्तर्गतदृढप्राकारवेष्टितभासद्राजदुर्गराजदुर्गस्य, शिवाधिष्ठितेशानकोणविराजमानच्छात्रपूरपूरितान्त करणसद्धर्मनिधानधरणदध्वस्यमानधर्मशरणप्रतिष्ठितचरणाधामिकमाण शास्त्रधर्मेच्छात्रवारणसञ्जिल्यटीकमानीवेदवेदाङ्गविद्यालयप्रधानाध्यापकानपरम्।

नय पारायणिका पुस्तिका उद्घाट्य स्थिता आसन्। मां तथा स्थित वीक्ष्य तेषा मेकतममाहाचार्य —'ननु रामचन्द्र! पृच्छ, कोऽयम्, कुत समायात, किमिच्छति? आकृत्योचजातिरिव प्रतीयते'।

दृढोरुवक्षा, प्रभाविललाटचन्दनो, व्यायततनु श्वेतवासा, नि सरच्छमश्रु, सतत, शास्त्राध्ययनाविलया वाण्या सप्रश्रयमाह स —'पान्थ'! कुत समागमन, का च जाति' अहच"विदूरादागमन क्षत्रियोऽस्मि" इत्युदतरम्।

स च तदेव वाक्य विपश्चितामपश्चिमाना पुर प्रापयत्। अहमपि विमूढ इवत स्तत पादौ विक्षिपन् तेषामन्तिकमुपगम्य प्रणम्योपविश्यागादिदम्, 'भगवन्! कामपि हृदयान्तर्वर्त्तिनीं वार्त्तां चिकीर्षामि, यदि

अथ ते मामजानन्तोऽपि स्वसौजन्य प्रकटयन्त आवश्यक कार्य विहाय ग्रन्थपरिश्रमश्रान्तमपि ससत्त्व गौर तेषामेकतम कथयामास —

"सोहलाल! भजत यूय श्व प्रातरेवागन्तास्थ"

अथ उन्मनस्के तस्मिन् रामचन्द्रेण, अपरेण चाज्ञाताभिख्येन सहपाठिना, पाठन भवनाभिमुखे स्निग्धया वाचा पीयूषमिव वर्षन्त शुष्यन्तीं मद्ध दयहृदभूमि वचनमेघ जलैरापूरयन्तो मा जगदु 'किम्भवानाह'

"भगवन्! दुखस्य परा काष्ठामनुभवामि"।

'एवम्? हस्त दर्शय'

अह तेषा पुरतो हस्त प्रसार्य सूक्ष्मेक्षिकयाऽवालोक्य यत्ते क्षण विचार्य हृष्टा इव।

पण्डिता —क्षत्रियोत्तम! इमां का दशामनुभवसि। शास्त्राण्यधवाऽयथाथानि!

अहम्०—कथ देव!

पण्डिता—भवद्वचरैरेवास्तु त्रिलोकीराजत्वस्य पश्यामः। (क्षण विरम्य) परमशीतर्वी धारा, अर्द्धस्य सत्ता नु न निवारयति कोऽपि। तस्य वाच्य ईदृशी व्यवहृतिः।

अहम्०—उदरपूर्त्यै अलब्धान्नेना न. क्व धर्माचरणमात्रं भजन्ति शरीरम्।

पण्डिता—किमिव कथयामः।

अहम्०—देव! अहमपि अस्माद् दिनाज्जीवनं निवारयिष्यामि, ममाप्युदरो भविष्यति कदापि!

पण्डिता—उद्धारः, (पर्यायवन्तं पुस्तकभारमवलोक्य कम्पयित्वा) आनुद्धतिस्तु भगवती-प्रसादात् योग्येनैव, परमेष्वेव दिनेषु दुःखमपि लप्स्यते।

अहम्०—देव! दैवेन दीयमानं सर्वं सहिष्ये।

सायं सम एव छात्रा प्रभुश्रमपरिश्रान्ताः भ्रमणाय नेतुं, शौच निर्वर्तयितुं गच्छन्ति स्म। अहमपि पण्डितवरान् शिरसा सादरं प्रणम्य सतीर्थ्यैः सहागमम्।

छात्रेषु बहुष्वपि त एव मुख्या आसन्, ये पण्डितानामन्तिके दृष्टाः। एते सुखमय-वीरवन्तो इन्द्रादिकगिरा वनमपि नगरमन्तः, हास्येन, क्रीडया दिनश्रममपनयन्तो विचेरुः। स्वचरव्यवस्थाबुद्धयो विद्यार्थिनः।

शौच निर्वर्त्य परावृत्तास्तेऽहमपि। विद्यालये उत्तरत, उपमित्ति स्वयमेव कृत्वासीत्। अमृतमनुरञ्ज्य पल्वलम्—कुण्डम्। तत्कूले पुष्पविटपाः सुगन्ध विकिरन्ति स्म। सान्ध्ये विधौ व्यापृता अन्तेवासिनः। विद्यालयपूर्वदिशि महद्वन आसन्। वैश्वानरे परशूनानि पात्राणि सन्तानिकया राजन्ते स्म। तैलकिंवाल्मनाः दण्डे वर्तिकावन्त्र दत्ताः। व्यायामो यौवन प्राणिमात्रस्येति छात्रा व्यायच्छन्ते स्म।

ईश्वरः। प्रसन्नदस्तु अनावृत्तानिशा, द्वितीयदश्च मेघाना महाघनेकत्वम्। प्रवर्तनम्। यथा विद्युल्लतानिका मेघा सद्धाम्बुर कुण्डलायन्ते।

अद्य घनघर्घरायिकावाले[1] समग्रासन्। ध्यान रमणीय विरलजननेत्रासीत्। धर्मैर्धर्न्यायार आगच्छन्ति स्म। प्रकाशस्तम्भेषु जनाः प्रदीपा रज्जुभिः सहयोग विधाय तमसा युध्यन्ते स्म। घण्टाघोषोऽभूत्। इतो जनसमूहः प्रवर्तितः। एवा

1 सुप्रतिरक्षता।

उद्गमविधमा प्रासरत्। क्षणेन धक-धकायितधरणी, पथिकशोकहरणी, दिक्करिणीव अभीष्टदेशप्रापणतटी शकटी समेता। अहं प्रथमश्रेण्या आवासेऽविराम्।

शतश उपनेत्रधारिण्यो रमण्यो वातायनेभ्यः प्रेक्षन्ते स्म। दैवाद्विद्यालये मया वस्त्राणि प्रक्षालितान्यासन् यतः कोऽपि पृच्छको मां चिटिकायै नाखेदयत्।

* * *

कान्तारम्। बहुशोऽवलोकिता सान्द्रा द्रुमावली। दूरत एव द्रुमदलमध्यतो दृश्यमानं रक्तध्वज लक्ष्य कृत्वाहमचलम्। गव्यूत्यन्तरे परमरमणीयं मन्दिर प्रोच्चभूमौ शिलाशकलानि सौन्दर्येण न्यस्य विरचितमासीत्। अग्रे च प्रस्तरमयं कुट्टिमं यत्र सहस्रशो मनुष्याः स्थातुं शक्नुवन्ति, नवीनमिव प्रतीयते स्म। श्वेतमसृणपाषाणसम्पादिता द्वारशाखा, शिल्पिसम्पादित कपाटयुगलमासीत्। मन्दिरमनावृतमेवासीत्, अहमन्तरविशम्। सुन्दरं विशालमजिरम्, भव्यानि भवनानि, चेतोविकर्षि च सभाभवनमासीत्। मन्दिरं भगवत्याः शाकम्भर्या आसीत्। पवित्रमूर्तिः पूजकश्च स्वकीयमनुष्ठेय निर्वर्त्योपविष्ट आसीत्। परमातिथेय स मदीय वनोचित सत्कार विधाय मद्वृत्तमपृच्छत्। अहमपि सर्वं विशुद्धभावेन न्यवेदयम्। जगदम्बिकाचरणशरणो मद्दुःखहरणे सकरुणः स मह्यं मन्त्रमेकमुपादिशत्। सप्ताह यावत्पूजकाज्ञया कृतार्चनजपध्यानोऽस्वार्थवन्धुं पूजक प्रणम्य, लब्धाशी, मातृमाल्यविभूषितकण्ठः प्रसन्नमनाः प्रातरेवैकं पन्थानमाश्रितोऽचलम्।

सायङ्कालः, प्रभाविभासी भास्करो विरहितां पश्चिमाशामालिङ्गयारुणिम्नाऽऽचकमे।

विदूरतः सशरणसम्मुखमेव करिकुम्भाघातसहाभ्यां जटिततीक्ष्णायसशूलाभ्यामभ्रसान्द्रामाच्छन्नाभ्या कपाटाभ्यामुत्पाटितरिपुसाहस, हसन्तमिव वीरगणं वीर्येण, प्राणापहारक, नीलशिल तोपकोपसङ्कोचक गोपुरमपश्यम्।

बहिर्विस्तृते चतुष्कोणे क्षेत्रे नग्ननिस्त्रिंशानां रक्षकाणां चन्द्रहासचमत्कारैरायसान्यम्बराणि राजतानीव राजन्ते स्म। पन्थानमभितः शीतलच्छाया सान्द्रा द्रुमश्रेणिः। प्रतिद्रुमं मारकतप्रभया दूर्वया लालितानीव ललितालवालानि व्यद्योतिषत।

"रक्षकाः" मया पृष्टं 'कयाऽऽख्ययालङ्क्रियतेऽदो नगरम्। कस्य च दशस्याभूः। कानि चाक्षराणि यमाप्य धन्यानि भवन्ति!

ते मामहमहमिकया व्याजह्रुः—"पान्थ! चित्रपुरनाम्नोऽमुष्य नगरस्याधिपतिः युष्मपितृव्यः श्रीमान् कल्याणसिंह, वेशिष्य प्रवेशाज्ज्ञास्यते"—इति

रात्रिर्मुखं व्यादाय वियद्विपिने वेगेन धावन्ती समापतत। अहं नगराद् बहिः किन्तु द्वारस्यान्तरेकस्मिन्भग्नभवने शयनमुपाकल्पयम्।

अकस्मादेकस्या अट्टालिकाया, गीतध्वनिमश्रौषम्। कापि वियोगिनी विमुक्तलाय गायति स्म।

प्रियवर! पातं नेत्रयोः
मम चेतोऽतिव्यथते (स्थायी)
अरे वधिक! अयि निष्कृप! मम वृद्धार्यकिशोर!
मच्चित्तं नलतो हरन् वं कुत्र गतोऽसि रे चौर! (१)
मोहकमन्त्रवशीकृता प्रिय! भवदीक्षणतः
विवशास्मि गतचेतना बद्धा प्रेम्णि पवित्र! (२)
किङ्कुर्यामहमातुरा न प्रियमेलनमास
विरहाग्निस्तुदते तनुं निधनं यामि निभास! (३)

विलक्षण कारुण्यमासीदस्यां क्रन्दनगीतौ यतो मदीयं पाषाणमय हृदय दुःखाघात-सहन शतधा भवितुमचेष्टिष्ट। चक्षुरश्रुस्रोतः सारयामास, वपुरवेपत सदयम्। दुःख्येव दुःखिनो दुःखमनुमातुं शक्नोति।

धनिप्रासादचित्रशालाभिः सचित्रमासाच्चित्रपुरम्। वैयाकरणकाव्ये रसानुभूतिरिव क्वचन क्वचन प्रत्यते स्म जनावस्थितिः। भोजनप्रिये विप्र मनस्वितेव नेक्ष्यते स्माऽऽह्लादः। सुभिक्षे वणिगिव दुर्दृश्यदशमासीन्नगरम्। सरस्सु न मनोमोहिनी मञ्जुशोभाऽम्भोयानेषु छात्रेष्विव। सुन्दं सुषमया सह सुरपुरमिव यात प्रतीयते स्म दीव्यता चरित्रमिव। रसिकाना सततावासचरा कुञ्जा कपोताना गुञ्जतिगुञ्जिता आसन्। स्रोतांसि, येषु नभोविम्ब दृश्यते स्म, मलिनान्यासन्। मधुमधुररावाणां कलहंसाना वारिषु क्रीडा सक्रीडेवासीत्, न चासीदास्वादितमकरन्दाना पुंस्कोकिलाना रसालकुल, प्रायशः पन्थानः शष्पावृता न समीक्ष्यन्ते स्म। क्रीडागृहाणि यत्र पुष्या अहमहमिकया आमोदविनोद-

प्रमोदिन प्रतियुवक योद्ध युध्यमानांश्च द्रष्टु समवयन्ति स्म नामपट्टिकया लक्ष्यते स्म। गोपाल्किाना प्रसन्नहृदयोद्गाररूपा गीतयो वीता आसन्।

पूर्वरात्रमतिवाह्य मध्यरात्र आयन्नासीत्। तीक्ष्णतरो वायुरशायत। आश्लिष्टनी शाश स सुख सुप्ता। पथिकाना निमु प्रहरिणामपि यातायातोऽवरुद्ध आसीत्। सतरणदीपा मूकमुनय इव दण्डिता नरा इव च निश्चला आसन्। एका स्वप्नभग्ननिद्रा मुग्धा विधवा विदूरे व्यलपत्, परन्तु शान्तनिशाया निकटमिव प्रतीयते स्म।

निशे! हे आलि! नाथ क्वास्ते मे[१]
सुप्तास सुखनिद्रया,
निद्रा स्वप्न! जहर्थ (स्थायी)
रे! स्वप्नाधम! वञ्चक! प्राणास्ते वियुनज्मि।
स्वप्नारे! दुष्टासत्य कथं दृष्ट ॥१॥
मन्दस्मितसुधया हरन्, मत्प्रासादसुधाम्।
[२] विहुतवर! नाक यातोऽसि ॥२॥
स्पर्शेनाङ्ग विपुलयन्, यन्नवधीरितहस!
हताशा मुक्त्वा यातोऽसि ॥३॥
मुकुरे वीक्ष्य मुख मयाऽभूषि शरीर हन्त!
[२] वदनजितनीरज! यातोऽसि ॥४॥
भ्रातृ सहि चन्द्रिके! मयि दु ख माऽऽधेहि
हितायासनीय भगिनि! ॥५॥
नासि तमिस्रा यामिनि! रुचिरादा न श्रुतासि!
दयितवरमयि! दयिते देहि ॥६॥

---

१ राजस्थानी गीत 'कुजाए रानी पिया मिलादे ऐ।'

२ शहीद।

जलमग्ना अभवन्मम आशा प्राफस्कीव[1]

मृत्यो ! चरणौ ते शरणम् ॥७॥

एतस्या ध्वनिश्च करुणामयी हृदयसंचिना चासीद् यत् पर्वता द्रवन्ते स्म, सिन्धव सन्तुक्षन्ति स्म। ममापि संसारोद्विग्नस्य विरक्तस्य हृदयचत्वरे दुःखस्य दस्यु चचार।

नगर कदापि ज्ञानविज्ञानेन कलया विख्यात भूत भवद्, परमद्य दुरवस्थम्। मन्दिराणि, विद्यालया, पुस्तकालया, प्रदर्शनालया, स्मृतिभवनानि च दृष्टिपथमागत्यापि न विभाव्यन्ते स्म। अस्खलितमनसां मनुष्याणां मुखकमले शोककालिम्न कला बलि कलयति स्म।

रुदर्शनासक्टालिकास्तनन्धवाम्प्रवाहखिन्नक्लिन्नवक्षस. श्यामलवसना, अनलङ्करणा, नतावरणकृशा, दशा दग्ध मनसिजमपि जीवयन्त्यो विधवा निविडवियोगवृत्तेन जगदेव द्रावयन्ति स्म। ससरणेषु सङ्करदहति, शून्यगृहपिशाचोत्पातश्रुति नगरस्य स्पष्टा दशामुद्घोषयन्ति स्म।

पारावतपुरीषभ्रष्टीकृतप्रान्तेषु निशान्तेषु दीर्घसूत्रनिबद्धानिन्यवलम्बन्ते स्म कन्दुकानि। शून्यापणेषु रासभा रास रचयन्ति स्म। व्यावहारिका मक्षिकाभिर्गुञ्जन्ते स्म। टल्लकेषु गायत्सु, गुञ्जारमुखेषु रसिकेषु कपोतेषु तालनिपुणेषु, शिवा वन्य वादान्, श्येना उपहारान् वितरन्ति स्म। महान् महाकालोत्सव, कथ व्यपेतासु इव प्रवर्तिते पुरमिति चिन्तयति मयि समश्रूयत प्रचुरकरुण समभिक्रन्दन हा ! पुन ! इति प्रचुरं रोदनम्।

दुःखी सर्व विश्वमेव दुःखि पश्यति। नष्टपुत्रकलत्रोऽहमपि स्वजीवनेन परपामा मौल्यमर्जयितुम् ईप्सुरभिक्रन्दत झटिति प्राविशम्। परन्तु पथ्येव एकस्मात्सार्वगृहान्निर्गत एव त्रि स्वागीतध्वनिमा व्यलम्बयत्।

हा ! गतः क्वासौ प्रियो मे कृष्णकेशैः शोभितः (स्थायी)
यं विना सततं भजन्ती दुःखपूर्णं दुःखिता।
मामनाथा हा ! विहाय, सोऽव्रजद् भृशमर्थितः ॥१॥

---

[1] एक विशालजलयान जो १९३९-४५ युद्धमें डूब गया था।

चन्द्रभासिललाटपट्ट, शुभ्रवारिजलोचन ।
रम्यतैलसुगन्धिमूर्धा हन्त ! दव ! समापित ॥२॥
मच्छिर स्वाङ्के निधाय लालयन्त सत्पतिम् ।
हा ! लभे क्वाद्य हताशा हन्त ! बत ! हा ! हा ! हत ! ॥३॥
श्वेतपक्ष्मशिरोरुहा श्वश्रूर्मदीया त्वद्गतिम् ।
याता भवन्त द्रष्टुकामा नाथ ! नाथय वागित ॥४॥
तानि पूर्वदिनानि चित्ते, हा ! विचार्य करोमि किम् ।
श्रीनिवाससुशान्तरूप, सनमामीशं सत ॥५॥

करुणया कण्टकितचेता अभ्याक्रन्द गच्छन्नेक भव्यभावत सज्जनमन इव विशाल स्वच्छञ्च गृहमपश्यम् । नूतना रसालपर्णसजोऽशुष्कानि सिन्दूरकुङ्कुमस्वस्तिक चिह्नानि अर्द्धमूर्च्छिता कदलीस्तम्भा पूर्णा जलकुम्भास्तस्याभिनवा वास्तुप्रतिष्ठामसूचयन् । शतश क्लिन्नचक्षुषो धैर्यधरा नरा विनता वनिताश्च गतागतेन देहलीमघर्षयन् । अस्मिन्नेव प्रावद्राव जना क्रन्दन्ति स्म ।

अथाह विपुलविचारो विप्रप्रासादान्निर्यत कस्माचिन्नुरज्ञासिष यदिद जनपदगुरो र्वेदविदुष कर्मशौण्डस्य विप्रस्य भवनम् । अस्य चैक एव पुत्रो युवा । एष एकदा लोकमञ्चे सर्वहितैषिसभाया स्वातन्त्र्यमुपदिदेश । अतोऽय शङ्कितमनसा जनपदाध्यक्षेण तिगटितुमाज्ञप्तोऽवश्य मृत्युदण्डाय कल्पयिष्यते । निर्दोषोऽयम् । नवीन हर्म्यमनेन निरमायि । वृद्धो वलीपलितो धवलमूर्धा चञ्चलग्रीवोऽरदनवदनो यष्टिधृताङ्गयष्टिर्भग्न वत्सहायोऽस्य पिता । अवनेत्रा विलुप्तश्रवणशक्तिर्जरती जननी । सम्यगजात यौवनवनविकासा हन्त ! हताशा नवोढा कुलीना सुन्दरी चास्याप्रजा धर्मपत्नी, सर्वेषा मेषामाश्रय एव वेदविद्याविचक्षणोऽद्य विपत्स्यते विप्रयुवक इति दु खितानां वाङ् मात्रेण सहानुभूति प्रकटयति नागरिको जन । किं न पश्यसि ! एता सर्वा विपुलवैभवा अट्टालिका मलिनाम्बराभिर्विधवाभिरेवाध्यास्यन्ते । सहस्रशो युवान स्वतन्त्रतासग्रामे दासकुनेत्रवीक्षिता पाशेन यमावास प्रेषिता इति ।

राजपथ एव विप्रप्रासाद पार्श्वे चासीत् सर्वहितैषिसभाकार्यालय । अद्य तत्र

प्रविस्य जवनिकाच्छन्नद्वारस्य गृहस्याग्र कृष्णकाष्ठपट्टे 'प्रधानमन्त्री' इति पठित्वा "अन्त रागन्तु शक्नोमि महाशय" इति पृष्ट्वा तेन 'आम् स्वैरम्' इति प्रत्युत्तरित प्रविश्याद्राक्ष यदेको वृद्ध समासप्तमीक एकस्मिन् भग्नमलिने पीठे उपविष्टोऽस्ति। भित्तौ च लोक नेतणा नटितभुग्नानि चित्राणि।

अहञ्च प्रणम्य भूतले उपविश्य "भगवन्, कथ केय दशा नगरस्यास्य"— अप्यस्ति कश्चन शासकोऽस्य नगरस्य ?" इत्यप्राक्षम्।

"अस्य नगरस्य शासको युमणिवश्य कल्याणसिंहो नाम प्रख्यातपौरुषो वीरेषु, शासनव्यवस्था चाद्यतनेषु दिनेषु नगरस्य प्रक्षीणा —मन्द स उदतरत्।

"यो नाम्नैव केवल कल्याणसिंह पालकम्मन्य सुयवश्य सन्नपि दुरवस्थस्य राज्यस्य रक्षायै असमर्थो मुधैव क्षत्रिय उच्यते। तस्मिन् जीवति जाग्रति वैदेशिको राष्ट्र विपर्ययति, तस्य कीर्त्ति कलङ्कयति, क्षत्रियत्व व्यपाकरोति, धिग् जीवनम्। धिक् चास्य 'प्रजाहितव्रतिनो वयम् इत्युद्घोष। यथा हरिणप्राणहारी हरिर्मृगेन्द्रस्तथायमपि क्षीब कल्याणसिंह"।

प्रधानमन्त्री॰—नैतत् सत्यम्। शासकस्त्वय बलवान् कृतव्रत एवासीत्। परमधुना वृद्ध। केन्द्रञ्च गौराङ्गाधीनम्। किमय कर्त्त शक्नुयाद्वराक। शासनञ्चैतस्य न पारम्पराप्राप्त किन्तु बलाधिगतम्। तदाह शिशुरेवासम्, मम पिता कथयति स्म यदस्य नगरस्य जनसंख्या लक्षत्रयमितासीत्। एको राक्षसोऽस्मिन्नगरे समायातासीत्। यावन्तो नरास्तस्य सम्मुख समागमन् सर्वानभक्षयदमारयच्च। अत्रत्ये नागरिके पलाय्य नगरान्तर गतेऽपि राक्षसोऽत्याचरत्, अतोऽन्यत्र क्वापि स्थान न लभन्ते स्म। एकदा एतत्प्रदेशाधिपेन राज्ञा "अनेन कृते कतिपयैरेव दिवसैर्जनप्रज शून्यराज्यो भविष्यामि" इति विचार्यैव प्रावन्धि यत्, प्रत्यक गृही प्रत्यवसर राजाज्ञानुसार निशीथे श्मशानशिलायामेक तरुण मासल महिष सपादमणमित मिष्टान्नमेक नवीनधातु युवान (न तु स्त्रिय) प्रदेयाद् इति।

राजा प्रतिदिन रक्षोभक्ष्यमानुपद्वारा प्रार्थयत च "मा नाम राष्ट्र नाशय" इति।

राक्षसोऽपि तत प्रभृति अप्रयासप्राप्तमदन्न प्रासीदत्।

एकदा दुर्भाग्यकृष्णाहिदुर्दष्ट्रादष्टस्यैकस्य ब्राह्मणस्यावसर आसीत्। वृद्धस्यैक एवासीत्

पुनो वृद्धाया मातुर्युवत्या स्त्रियश्च कमात्र समाश्रय । अयमस्माकमद्यतनो राजा तदा कस्यामपि सेनायां सैनिकोऽविकारिणोऽसूचयित्वाऽऽगतो विश्रान्तश्चासीद् विप्रगृहे । अयञ्च युवा क्षात्रभावोपपन्न करुणरोदन श्रुत्वोद्विग्न उत्थायापश्यद् यदेकतोऽश्रु स्रोत सारयन्, भित्ती रोदयन् निरुद्धगद्गदकण्ठो वक्तुमशक्तोऽपि वृद्धो 'हा ! पुत्र, तत्राद्य यास्यामि रक्षोबुभुक्षामी स्व होष्यामि त्व मा गा' इति विलपति। पुत्र ! अपगतलोचना सुलोचन ! को नेष्यति नयज्ञ ! सम्भाषिष्यति भाषणदक्ष ! सुख प्रक्ष्यति पटो ! हा ! हतास्मि बटो ! अमुष्मै दिनायैव पालितो दुग्धघृतसेचनेन हा ! सूनो ! इति समस्तकृताडन रुदती तन्माताऽऽतुराऽऽस्ति । अन्यत प्रिय ! प्राणेश्वर ! मन्नयनचन्द्र ? अविदितजगदानन्दास्मि ? हा ! हत !! भवन्तमन्तरा कथ हिंसिष्यामि, अन्वेष्यामि स्वामिन् ! भवन्त स्वामिनोऽनुज्ञा पालयन्त सानन्द गच्छन्तु हा ! प्रिय ! इति प्रचुर चीत्कृत्य ससकृद्धुर शिरस्ताडन रोरुद्यमाना युवकाङ्गना ऽङ्गानि भुवि लोठयति । एकतश्च मुमूर्षवे विप्रबालकाय राक्षसतृप्त्यै चोल्खलप्रस्फोटितस्य [1]तितऊविशोधितस्याऽन्नस्य रसवत्या[2] बल्लवैरन्तिकाया[3] मधुर क्षरदाज्य भक्ष्य निर्मीयते। एकतोऽलिञ्जरेषु[4], पिठरेषु च [5]ऋजीषपक्व घृताक्त सोपस्कर सचुक्रवेल्लजाजाजीक विश्वभेषजजलामिश्र बाह्लीकगन्धि सनिशाह्व [6] साक्षीव राक्षससम्बन्धि मिष्टान्न [7]निष्ठानञ्च परिवेष्यते ।

विदलितभीरुधैर्यं दुःखिना द्वयमदो वीक्ष्य समुपजातदयो गृहाजिरे निरशङ्क भ्रमन्, सशङ्क द्दष्टो गम्भीरवाचा तान् सम्मुखयन् प्रावोचत्—'मा शोक कार्ष्ट, यतो मृतसकलकुटुम्बोऽह ससारे निवृत्तजीवितेच्छो मरणमेव श्रेयो मन्ये । अमुना नश्वर शरीरेण ईदृक्ष सदवसर कदापि न लप्स्यते अतोऽहमेवाद्य तस्य रक्षोराजस्य भक्ष्यीभूयोपैष्यामि । वृद्धौ ! मा शोचतम् । भवदाशालताश्रय पादप सुदृढमूल चिर स्वैर विलसतु । नवोढे ! मा स्म तनु शोकाग्निसात्कार्षीं , न वियोक्ष्यसे । पत्यु र्जीवनोत्सव विधेहि इति ।

वृद्ध —कस्त्व देव ! एभि सुधामधुरै शब्दै सिञ्चन्नागतोऽसि स्वर्गत । परन्तु

१ चाल्नी । २ सूपकार । ३ चुल्हि । ४ महाकुम्भ । ५ तापवाहन 'तवा' ६ सलवणम् । ७ तेमनम् ।

महाशय ! अहं भारतीयः स्वस्य सुखस्य कृते न कमपि दुःखयिष्यामि । भवानपि स्वर्णशरीरः कस्या अपि अङ्कभूषणं सौभाग्यविन्दुरं नयनोत्सवश्च । अहं स्वनेत्रे शोषयित्वा परेषां नेत्रे नार्द्रयिष्यामि ।".

"अहं कल्याणो नाम क्षत्रियकुमारो जगति न कमप्यात्मीयं पश्यामि । मां मृतं विज्ञाय न कश्चन नेत्रे आर्द्रयिष्यति । भारतीयक्षत्रियस्य कर्तव्यं मां विवशयति यन्मयि शरीरवद्वृत्ते जीवति विप्रकुमारं हन्तुं न कश्चन समर्थः । अहमप्यार्यो भारतीयां संस्कृतिं न कलङ्कयिष्यामि ।"

वृद्धः—(वृद्धां लक्षीकृत्य) अहो ! धन्योऽसौ कल्याणः । यस्य नामसङ्कीर्त्तनेन दनुजोऽर्पति स्म, अतिचारश्चाप्रतिषिद्धो भवति स्म वृहद्गङ्गापरेणापि, भीता भामिन्यो निपातयन्ति स्म गर्भानपि, राज्ञः सन्देशहरमेव दृष्ट्वा जिगमिषव इवासवस्तस्यैव नाचितवीरधैर्यस्य रक्षोराजस्य पुरः स्वेच्छया प्रतियास्यति, धन्योऽयं धन्यौ चास्य पितरौ यावीदृशं सुसाहसं पुत्रं जनितवन्तौ यः परार्थे प्रेम्णा देहं ददपि निरहङ्कारः

अथ ते श्रोत्रचषकैस्तदीयां सुधामधुरां वचस्ततिं पेपीयमानाः कथङ्कथमपि जातनिश्चयाः कामपि शान्तिं लेभिरे ।

सायमभूत् । सज्जितमभूद् भक्ष्यं परिपुष्टे मांसले महिषे । इतस्ततो मित्राणि अन्तिम-दर्शनायाऽऽगच्छन् । राजपुरुषो मनो मूर्च्छयता, प्राणान् हरता च वचसा राजशासनं सूचयाञ्चकार । वृद्धः क्रन्दनद्रावितवाः पुत्रं प्राह वृद्धाश्रय ? प्राप्तस्त्वमेहा · हा ! हा ! पुत्र ! त्राहि । याहि अहमप्यायामि इति ।

अथ कल्याणस्तान् सान्त्वयित्वा शिलादर्शनाय विप्रवैप्रियं विप्रप्रियं समादाय महिष-सिद्धान्नैः सह प्रस्थितो निर्भयो निश्शोकश्च । गैरिकाचितोज्ज्वलमकरागपूर्णेव, पिशाचक्रीडा-कुट्टिमम्, रक्षसां स्थितिभूः, स्थापितमुण्डचषका, दुःखदहनवचप्रेयसी, शोणितपङ्कपङ्किला, नैयायिकस्वर्णरिव समेतवैयाकरणा, कलुषिता, असिता शिला शल्यायते स्म । एकतो गोमायुकुक्कुरैः खर्च्यमाणास्थ्यन्त्रो रक्षोराजस्य सिंहासनमिव मृतमनुष्याणां कीकसपर्वतः, क्वचन निपतिता लता इव सिराः, क्वचन नूनं सञ्चितनरमेदम्,[1] क्वचन भीतल्लाय-सामलम्, निर्मांसो नरकङ्कालः, करोरुकाकुलम्, अर्द्धभुग्ना करोटिः परशुकृत्तेन पर्शुका,

१ मृतमानवमस्तिष्कम् ।

अवद्दक्षण ऊरु, प्राणिप्राणहारिणी भयङ्करा मनस्विमानोद्दीपनी भीषणा सामग्री। कल्याणश्च विसृज्य विप्रात्मज कासर धावयन्, कासार गत्वा पय पीत्वाऽधिगतशान्ति पथि कस्मैचन वराकाय हालिकाय सैरिभ दत्त्वा, शिलामेत्य अपूपादीनुपबर्हीकृत्याशयिष्ट। अथ मौनमाकलयति पतत्रिपूरे, अन्धकारेणान्धीकृतास्वाशासु, किञ्चित्प्रकाशमानेषूडुषु, अञ्जनमिव वपति वियति, मृत इवेक्ष्यमाणे समस्मिञ्जगति, निशीथदीपेष्विव विद्योतमानेषु खद्योतेषु, निशीथप्रायायां निशीथिन्या सहाहाकार रुदत्सु गोमायुषु, सानलज्वाल क्रोशन्तीषु शिवासु, राक्षसागमनमपेक्षमाणे, विचारोर्मिसङ्कुले च कल्याण प्राचलदुत्पातवात। मन्दस्य समीर क्षणेन सूक्ष्मदपरखण्डवत्ता दधत् प्राबल्य भेजे। प्रकम्पनकम्पिता पादपा सहतोड्डीयमानै पक्षिभि सूचयामासु राक्षसागमनम्।

अथोच्चिद्र स दूरत एवापश्यत्—अशुभदर्शन निष्केशेन भूर्जत्वक्कान्तिना विस्फोटकव्रणाङ्कितेन रजकस्य वस्त्रप्रक्षालनोपलेनेवाशिखेन शिरसा, निम्नमध्येन अभित उच्चेन धूम्ररोमराजिविभासिना भालेन, ग्रीष्मर्तौ कूलान्तकृशा कालिन्दीमिव सिकतिले भस्मपङ्क्तिमिव च दधानम्, विरलबाला धूसरितां भ्रकुटीम्, शुष्काभुग्नपादत्राणाविव श्रवणौ, क्रूरे गर्तगते वदरबीजोपमिते सिकतावर्णपक्ष्मणी वीक्षण चोन्मील्य त भेकाकारया पूतिगन्धिशिङ्घाणमृतया शैशवेऽध पतनप्रसृतया शाखामृगैर्भक्षितयेव समुपजत मसूरिकाकिणया बभूव इव सुस्पष्टमज्ञायमानभग्नस्थितया विपुलबालया नासिकयोपलक्षितम्, निशिताग्रै शीघ्र मासजिघृक्षया चिकर्त्तिषया वा बहिर्निर्गतैरालोहितसिताशुनाशितौ पक्वविवके रदनै प्रपूर्णवदन विस्तृतपृथोभयाधर प्रलम्बमानजिह्व हीनहनु सरोवराविव निर्नीरावुद्दच्चुरी गण्डौ दधान पुण्यद्वेषिणा पापपुञ्जेनेव आरोहितेन बहिर्निर्गतेन विरलेन श्मश्रुजालेन व्याप्ताननम्, प्रत्यक्षमीक्ष्यमाणजत्रुव्यूहया मासादनमासल्या ग्रीवयाऽधिष्ठितसहनन पीनेन सर्पप्रतिमेन मर्दितानेकानेकपसज्जनेन रुधिरदिग्धेन नखविवर प्रविष्टमासपूतिगन्धिना स्फुटनाडीकेन भयसत्रस्तपलायितपुरुषोपरोधकेनेव दीर्घेण प्रचण्डन दोर्दण्डनानुमितवलिष्ठशरीर परिणाहिनिष्केशस्फुटकीकसोरस्क मनुष्यमहिष मांसापूपादिनिधानमिव प्रलम्बमुदरमुद्वहन्तम्, अमितमासभक्षणनिसृतेन उपद्वियमाण मानवमारणभुशुण्डिकाग्रभागेनेव नाभिदेशेन प्रदेश भीषयमाणं विस्तृतकटितट करिचर्म कृतगोप्यप्रदेश जानुपात मारितपुरुषोपपुरपातवद्दृढोरुयुगलं सर्जरमिव प्रांशु मांस

उण्डप्रवशरिशोभयजानुतया समन्ताद् भ्रमन्मक्षिकं शुष्कायतपादं श्वेतनखमपि रक्तनख भक्षितभुवनमप्यनाप्तभुवनं सततं भुञ्जानमप्यलब्धान्नं प्रस्फुटविपादिकं समरुच्छ्वर भञ्जितनानन्दानवम्।

यमभितः श्वान इव व्याधम्, कुमन्त्रिण इव कुनृपतिम्, असत्प्रतीहारा इवोत्कोचिनो न्यायाधीशान्,[1] मुनिमा इव धनिनं सहचराः केचिदेककर्णाः कन्चिद् भग्ननासिकाः वृत्तं छिन्नोदरा अनना काणाः कर्कराः कुणाः शुष्कोदरास्तनुतनवोऽस्तनुतनवश्चोर्ध्वकेशाश्च त-
र्षयः इवैक्ष्यन्त। परिपदिव सज्जनजल्पानामत्यभूता, नियमसमयेषोच्छृङ्खलस्तूपा, वदन्ध नाभिसमा, योगिजनसमुद्भूलनवात्या देवार्चनप्रचारनौवद्गणाल्यावर्तातिका कारुण्यप्रासाद भूकम्पानुरूपा दयालुदावाग्निसमा, विद्यार्थिकुलकृतान्तरूपा, विपुलसुरा[2] अपि सनातनधर्मो द्वारक्मस्फुरत्सरा अयात्। अग्रे च कालायसव्युत्पन्नेन[3] आटङ्कनावरणेनेव चर्मणा धृतशरीरः, परिपुष्टमांसलग्रीवः, रम्याभुग्नविषाणमण्डलो, ललितलिकायमानसितरोमराजि परिष्कृताऽऽयसपट्टायितललाटः, प्रलम्बपुच्छदण्डेन भ्रमता दूरयन् विपक्षद्रावान्, उपरि विन्यस्तेन तैलपूर्णचतुर्वर्तिना स्वर्णदीपेन प्रकाशितशरीरः सभीकृतभ सैरिभः सत्वल सानन्दं सजम्भं साराव विस्फारितनत्र सजिह्वाभ्रमणं पश्यता गच्छत्।

येषमाष्टविरेव जगदस्नुरा क्थ न स्यात्तेषां मायादस्य प्रकृतिसिद्धम्। यतस्त यामागमनेन सुप्ता विपद्धतयोऽपि निद्रा जहुः। सहसा दीपो निर्वाणतां गतः। प्रगाढे तमसि सर्वे सहचरा इन्द्रियागोचरतां जग्मुः। सच्छ्रवणचतुष्पथदर्शितद्वारनारीहत्वा राजसत्व शिलासमपमेत्य जीवन्त त महिपानुचरम यस्य सिद्धान्तस्य न्यूनता महिपासवध निभाव्य नगरदाहिना क्रोधाग्निना भस्यमाणः 'कस्त्व रे?' इत्युच्चैरब्रवीत्।

मौनमवलम्बमाने च तस्मिन् पुनः स साभिमानमवदत्—'मूर्ख! नन्दभर्त्तो वो नृपा द्वापद्विप मा विस्मृतवान् किम्? किं स न वत्ति यत्तस्य नगरं मम प्रातराशायाप्यकल्पम्। सन्य स कथ विजानीयात्, मयापि तन्नगरे एषु दिवसेषु नागमि। अस्तु, त्वामधुना

---

१ सुनीम्, सुतनपि निमत=परिमान्ति शब्दयन्त = भत्सयन्ति च। नाथ्‌ मने शब्द च "धातोऽनुपरागे कः। २ विपुला सुरा अभिवायुसमप्रभृतयो दस्यानव भूतानि। पक्षे—विपुला सुरा—मदिरा यस्यां सा। ३ टैङ्क।

दग्ध्राभूषण विधाय नगर प्रवेक्ष्यामि, उत्तिष्ठ, स्मराभीष्ट यावदह कुलिशकूराभ्या कराभ्या त्वा नाशयामि।'

विपुलोत्साह स्मित्वा क्रोधोत्पन्नवेपथुरुत्थाय सम्भर्त्सयन् सोऽब्रवीत्—कोऽसि रे? सत्त्वाधम! किमर्थमुपशिलमागत्य निद्रा द्रावयति? स्वपिमि, सपद्यपसर इत, सिंहस्य सुखनिद्राभञ्जको मृगो मा भव! याहि याहि दराय पृष्टम्, इति।

राक्षसे स्वश्रुतपूर्वं परुषवचोभिरुद्दीपितमन्यौ कल्याण प्रबलपराक्रमया तोभगोल्क भयङ्करया दृढया साङ्गुष्ठाङ्गुलिबद्धया सिद्धया मुष्टिकयोर आहत्य सप्रौढि अवदत् 'राक्षसाधम! समेतस्ते मृत्यु। कदर्य! नाधुना ते विमुक्ति। तावद्व्रज शोच भ्रम उच्छल यावन्मम मुष्टिद्वयविनिष्टतनुयष्टिर्मृतिमवाप्यापेतसमीरो विमुक्तमर्त्योऽन्यस्मि ञ्जनुषि कस्यचिद्रक्षसोऽजिर न पश्यसि। विपुलाघ! बहवस्त्वया धर्माधिया देशभक्ता मानिनो विपश्चितो नीच! भक्षिता। विधवानेत्रनिष्य देन महीयसी सरसी त्वया सम्पूरिता अधुना त्वधन्य! प्राप्तस्तव प्राणहन्ता कर्त्ता चित्रपुरवासिनागरिकनिकरस्य सुखम्। चिन्त्यान्त! चिन्तयान्तिमचिन्तनीयम्।' इति

अथ क्ष्वेडानुकारि घनघनाघनध्वानानुसारि दमितजनारि वच आभाष्य उत्प्लुत्याय समिव तच्छिरो दृढेन करालकरतलेन मृदुलयत्। पुरुषौपयो सत्वरपदन्यासमृदुलितधरयो मुष्टिकापतनसङ्कुचितावयवयो खिन्नखिन्नगात्रयोस्तयो सधान सकरतलपात बभूव तुमुल जन्यम्। तत स शुण्डिशुण्डामिव प्रचण्डा शिलामिव नीला शालग्रामस्य माहिषीमिव आयसीमिव तद्ग्रीवा दोर्दण्डेन भृशमाहत्योत्थाय गजमिव त चलद्वस्त श्रोण्योर्भूतलेऽपातयत्। तेन च दिगन्तव्यापिना कर्णकुहरभेदकेन ध्वानेन भीत पक्षिपूर आख्यातुमिव वियद्विहारिण विनतानन्दन शब्दितसकलप्रदेशो दिशास्वगमद् न्ते केकाभीषितजन केकिनम्।

अथासौ प्रहतस्य तस्योरसि समुपविश्यसूदन् वचनसूचीभि प्रारब्धमुष्टिद्वयरब्रवीत्।

"रक्षोऽपसद! जगतीविषाद! निषाद! क्षणस्थायिनस्ते प्राणा, स्मराभीष्टम्' इति। पर परमगव स क्रोधाश्रुपूर्णवीक्षण पद्भ्या दद्भ्या नखाभ्या तुदन्, नासिकया प्रबल समुच्छ्वसन्, मुष्ट्याऽऽहतो मूर्ध्नि, फेनमुद्वमन् नसा रुधिरञ्च, मुखं व्यादाय शनुतो मान मर्दनमनुभूयान्तविश्राममवभवत्। तस्य प्राणमरुत् नागरिकमित्रवैव सद्य एव

स्कन्धेन वीतः। तस्य पाटितमपि मुखं भीरुत्वैर्न प्रैक्षत। शूलः स प्रबलः प्रहार-केलिद्रुमेन गुम्फितः। तस्य लोहकपेटा अमोघाः प्रहाराः सकोपे ज्वलन्ती चक्षुषी निचिता दन्ताः स्फुरन्तावोष्ठौ निःश्वसन्ती नासिका तस्य वीरत्वमौदार्यं अकथयन्। परं स दर्शनीयः। तस्य च कर्णनालनिर्गतेन मेदस्विना नीलगात्रेण पिच्छिलेन प्रविष्टस्य पशुना स्रवता, दर्शितौ अन्तर्यामिनौ कुसुम इव मेदस्विनौ।

अथासौ अन्धतमसभ्रमधान्तो विस्तृतं मार्गं समाश्रित्य रक्षोऽवध्योत्तरणी-तस्य गाढमविशत्। यथादृष्टमनन्तरोत्थितपादप्रकर्षैरुत्कटमुद्गरप्रहारैः कपोलकरि-राजन्यकौक्कुरराणां पवेन सार्धं वायुयानेन सविस्मयमुत्थितोऽपश्यत्, स यत् तत्-गम्भीरं मुरजमृदङ्गतालकरतालदुन्दुभिवादिनो वैतालिकाश्च पटहना समत्वरन्ति। स्वर्ण-स्तम्भविदुमस्थमणिजटितकार्तस्वरकन्दनमा' मदोन्मत्तश्वेतकमलनया दन्तावलविभ्रान्तया चिरपुरपतिः मन्त्रिप्रमुखपोऽनन्यकाः मुखसन्तोषितवाजिनः सादिनश्चाजग्मुः स्म। कल्याणस्तु सैनिक आर्याद् व्यवहारमभिज्ञः, कुतुकेनाऽऽगच्छन्तम् विराजमानो विद्योतमानस्योत्सवादयोऽदर्शत।

"देव! स्वागतं विनीतभावेन विज्ञपयामः, पुनरपमङ्गलसुरनाथ सविशेषं सत्कर्मः, अतः पद्भ्यामेव कल्याणम्, अन्यथा को वर्णयेत् किमाचरेदेव पुरा" इति मन्त्रिणा प्रतिबोधितो हस्तिनोऽवतीर्य चक्रवर्तिपुत्रानीतो मन्त्री राजा च तमन्वर्हयानस्य समारोहेण पुरमनयच्च।

"वीरवर! देशस्य दुःखमखण्डम् ससरिवर राजाननेव न हि, सकलदेशमेव यथो-द्धरसि। अस्मदर्थे प्रभूतं कष्टं विषह्य महीतले त्वां देशजनेऽस्मयां दृढवन्ति।"

कल्याणः—आर्य! अद्भुतमसम्मदनं मत्सकाशमिति श्रुत्वा विहेमि। क्षत्रिय-धर्म एषः। का नवीनता!

मन्त्री०—महता महत्त्वमेतद् देवस्य वर्ण हृत्वापि न प्रमाद्यन्ति।

कल्याणः—केन सूचकेन मम एतत्कर्म दृष्टम्!

मन्त्री०—विरक्षितमार्गदर्शन! सर्वे जना त्वामर्दितम् वीरं मन्यन्ते। ते चापदमर्दले तत्र "स्थ स यो हतः"—इति दिदृक्षवा यान्ति। देव नीरवरस्य महता प्रयासेन राक्षसो हतो ननः। तत्प्रयोगहर्तलिम्बः कृतकेन स्थितस्तत्र

1 स्टेशन = कूँची।

राज्ञ राक्षसमारण सूचयाञ्चक्रु। केचन दलमायोज्य वासासि लिप्त्वा "अस्माभि स देव! प्रसह्य हत"—इत्यपि प्रोचुः परस्पर व्यवादिषु। महाराजमुखगगने नवीन ज्योतिरुदगात्। मानससमुद्रस्योपहारतरङ्गा कराभ्यां निर्जग्मु। ग्रामाणामधिकारपत्राणि लिखितानि। सर्वेषां मुष्ट्यो भारैर्भृता।

अह विचार्यावोच "देव! किमर्थ निर्धनीक्रियते कोश। अत्रत्या एवैते न कदापि व्यापादि राक्षसोऽप्यस्यैरेव। अद्य किमेषु दैव बलमुपेतम्! देव! यदि राक्षसो मृतस्तर्हि अनन्यसाधारणो हन्ता तत्पृच्छ्यतु कस्यावसर कोऽगमत्"—इति।

तत्र च व्यतिकरे भवद्गमन भवच्छयनञ्च विदितम्। अत पर यज्जात तज्ज्ञायत एव श्रीमद्भि।

कल्याण—आम्।

मन्त्री०—कस्य वशस्य विभूषण देव।

कल्याण—राजन्यकुलप्रभवोऽहम्।

ससरणे सद्यासोभूषणैर्नरैर्नारीभिश्च कसुमस्रग्भिर्मधुरादरवाग्भिश्चाद्रियमाण कल्याणो राज्ञा राजभवनमानीत।

केवलमेतन्नगरनिवासिन एव न हि प्रान्तीया अपि समूहिता। मानवमहोदधेस्तरङ्गास्तरङ्गिता आसन्। सर्वो जन प्रान्तप्राणप्रदातुर्दर्शनाय आकुल आसीत्। कल्याणो महाराजेन सह राजभवनस्य गवाक्षे स्थितो जनसमूह नन्दयामास। चिनयता विद्युत्प्रदीपा लोकचक्षूंषि चमत्कुर्वन्। महाराजश्च लोक सम्बोध्य[1] ध्वनिविस्तारकसाहाय्येन प्रावोचत्—

प्रिया प्रजा! अद्यतन दिनमस्मज्जीवनस्य प्रदीप्ततम दिन वर्त्तते। केन शब्देन कया रीत्या केन कर्मणाऽस्य महाप्रभावस्य यून आभार प्रदर्शयामो मनो न निश्चिनोति। अस्मत्सविधे नैतादृक् किमपि यत् प्रत्यर्प्य वयमानृण्यमासादयाम।

शास्त्रकारै राजनाद् राजा नृन् पातीति नृप—इत्येवं तेजोऽतिशायित्वात् पालनाच्च सामान्यो मानव एतद्गुणवैशिष्ट्येन राजाभिहित। एतद् गुणद्वयमस्मिन् यूनि वर्त्तते। अतोऽय राजा भवितुमर्हति। भगवता राज्ञ पद योग्यतानिष्टमेव

१ लाउड स्पीकर।

रचितम्। अस्माभिर्दौरात्म्येन तत्कुलपरम्परया स्वीकृतम्। अद्यैन युवान वीक्ष्य अनुतप्तो लज्जितश्चास्मि, अत इत प्रभृति अयमेव प्रजाना शासक । लोकस्य न्यास योग्येऽधिकारिणि समर्प्य भाररहितोऽह नितरा प्रसीदामि। नवीननरपालस्य शासने सर्वे-विधमानन्दमनुभवन्तो भवन्त प्रेय श्रेयश्चाप्नुवन्तु—इत्यस्तु मे शुभाशीर्वाद इति।

महाराज स्वय स्वमुकुट तस्य शिरसि पर्यधापयत् करवाल करयोरादायार्पयत्, चामरश्चादाय सर्वत प्रथम व्याजयत्।

महाशय, अधुनाय नितरा वृद्ध केवल नाममात्रेण राजा। केन्द्रादेशानुसारिकार्य-निर्वहणे विवश कि करोतु वराक इति।

अथाह प्रधानमन्त्रिण सम्भाव्य ब्राह्मणबटुनाऽऽत्मपितुकामस्तरयावास गत्वा यमदूतो-पमैश्चतुर्भी राजपुरुषै कृतेक्षण शृङ्खलाबद्धपद सहयोगिभिर्भविष्यत्कार्यक्रमायाऽऽलपन्त मनितरसाधारणवैदुष्यमनालस्य कर्म कर्तमाग्रे ऽयन्त विप्रयुवान वीक्ष्य तद्भावमुपधस्तस्योद्देश्य विभाव्य तस्य जीवन परमावश्यक मन्वान उदघोषयम् —

"मान्या, शासनस्यान्याय्य परा काष्ठा स्पृशति। परोऽपराध्यति दण्ड्यते चापर। अस्मदीया एव भ्रान्त्याऽस्मान् हन्तुमग्रेसरा। क्रूर एव गलमर्पजिहीर्षेच्चेत्कथ जीवनम्। अस्माक भ्रातर एवास्मान् हन्तुस्त दा कथ जीविष्याम। अस्माभि प्रतिज्ञातव्य वय सघटिता शासनमनुदूलयिष्याम। एतदर्थमेका विचारपरिषत् स्वतन्त्रोपवने परेद्यवि पञ्चनदनसमये भविष्यति सर्वै समेतव्यम्। एतदाह्वानश्च सर्वेभ्य श्रावयितव्य येनाधिका जना समागच्छेयुरिति।"

इत्थानुपगम्यावोचं "शोक त्यजतम्, अह भवत्पुत्रमन्यांश्च कारावासिन उन्मोचयिष्यामि नो चेत्स्वीकृतापराधो भवत्पुत्रस्थाने शूलमारोक्ष्यामि। अह कथयिष्यामि यन्मम प्रबन्धो मदाज्ञया मयि रोगग्रस्तेऽनेन पठित। पाठको निर्दोष। भवत्पुत्रस्य रक्षण देशस्य कृते परमावश्यकम्। धन्यौ भवन्तौ यौ स्वार्थ परित्यज्य देशस्य निर्माणाय स्वातन्त्र्याय च प्राणार्पक सुत प्राप्नुवाताम्। भवादृशामाश्रयेणैव स्थिता भू"।

त्रयोदशपलन्यूने पञ्चनदनसमये स्वतन्त्रोपवने मनुष्या क्रियधाजग्मु। धरणी मानवान् प्रसवन्तीव प्रतीयते स्म। पञ्चनदनघण्टाघोषेण सममहमुत्थाय सभापतित्वदाय जनश्रद्धेय प्रस्तुत पार्श्वमञ्चे स्थापिताया भारतमातु प्रतिमाया गले पुष्पहार समर्प्यावोचम्।

समवेतसहयोगिन ! सुहृद !

सर्वत प्रथम स्व सर्वथा निरीक्ष्यास्माभि प्रतिज्ञातव्यम्, यदह स्वेच्छया स्व भारताय तस्य सेवायै स्वतन्त्रतायै उन्नत्यै च समर्पये। एतदर्थं कशाघाते वृश्चिका तोद काराबासो मशकादन परिजनैर्वियोग क्षुधा द्रव्यदण्डो मृत्युश्च मन्निर्णय प्रतीपयितु न शक्ता। स्वार्थं परित्यज्य देशहिताय वर्णवर्गधर्मनिरपेक्ष कार्यं करिष्यामीति।

यूय सर्वे भारतस्याधिपतय, स्वतन्त्रे भारते सर्वस्य समानमुत्तरदायित्वम्, इदमनुपयुक्त भविष्यति यदहमाज्ञापयामि, परमह भवद्भिर्नियोजितोऽनुशिष्ट सहयोगीव निवेदयामि।

अस्माभिर्यथाशक्ति सघटय देशस्योत्थाने यतितव्यम्। वृद्धैरेतद् विचारणीय यत् स्वाधीन भारत द्रष्टु क स्थास्यति—एष विचार कर्मणि शैथिल्यमौदासीन्यञ्चापादयति। सर्वेषामस्माक कर्तव्य यद् वयमस्मज्जीवनसर्वस्व स्वतन्त्रभारतस्याधारशिलाया अधस्तात् स्थापयिष्यामो यत्र कोऽपि नेक्षेत। अद्यतना भोगा अस्मद्बान्धवरक्तसिक्ता ज्ञातव्या। अवधार्यताम्, परतन्त्रतायां घृतादनात् स्वतन्त्रताया घासादन गरीय.। मरुमणि प्रतापो घासमेव जघास।

विश्वसन्तु, एष दासो विजये पराजये तेजसि तमसि सुखे दु खे सहैव भविष्यति। अह किं दातु शक्नोमि, ऋते क्षुधा तृषा श्रम खेद क्लेश मृत्यु वा। एतज्जीवन भारतमातुश्चरणयोरर्पये।

सुहृदो मातरो भगिन्यश्च,

सघर्षं चालयितु धनस्यावश्यकता वर्तते। निर्धनो ह्यसमर्थ स्थातुमद्यतने समये। एतदर्थयुगम्। अर्थस्याद्य महती प्रतिष्ठा। धनस्य प्रतिष्ठोन्मूलनमस्माक ध्येयम्। पर नाद्य तस्य समय। अत कण्टकेन कण्टकमिवानेन परतन्त्रतोन्मूलनीया। अस्माक कार्यं न सरलम्। सङ्घर्षो दीर्घकाल कठोरश्च सम्भाव्यते। शासकस्य हृदय नवनीताभ न भवति अपि तु वज्राभम्। यत्र स्त्रीणा चीत्कारा शिशूनामार्त्तनादा वृद्धाना श्वेतकेशा अश्रुद्रुम कर्तु न शक्ता। अत सर्वसाधनाना समुद्योऽस्माभि कार्यं। अस्माक भ्रातरो भगिन्यश्च करकवाला भुशुण्डिकामादाय सर्वविधा परिस्थिती प्रतिरोद्ध समर्था भवेयु, यद्यपि नास्माक शस्त्रेषु विश्वास। पर क्षमाऽपि शत्रौ सत्यामेव वरीयसी। भारतस्य परिश्रमप्रियाभि प्रजाभिरेतदम् शसितव्य यत् परेषा

यन छलेन व्यसनेन लुण्ठन्तो धनिनः, साम्राज्यवादिनः शासनस्य लुण्ठने साहाय्यमाचरन्तोऽस्मत्साहाय्यं करिष्यन्ति। यद्येभिः स्वार्थं साधयितुं सतृष्णः साम्राज्यलोलुपः सह सम्मिल्य विदेशयात्रादाता कृषकोऽन्नाय परमुखापेक्षी, विश्वव्यापाराय तन्तून् वयन् तन्तुवायश्च तरुण्याः पुत्र्याः लज्जाय वासांसि याचमानो विहितः। कार्मणविधकर्मानुरूप प्रासाद निर्मायापि शूकरवास वसन् भर्तुं बाधितः, स एव समाजस्य कलङ्कः स्वार्थी जलौका इव शासनस्य घटकः स्वस्य साधारणमनोरञ्जनाय लक्षशो रूप्यकाणि प्रवाहयति। एषोऽन्यायो बहुदिनं यावत् न स्थास्यति। आधुनिको धनी ज्वालामुख्यां क्रीडति चेदद्यापि सोऽनवहितो निश्चित पतिष्यति। किं सम्भाव्यते सोऽस्माभिः सहायिष्यते? सोऽस्माकं शवे हसिष्यति, स्वाधीनसंग्रामाग्नौ दत्तप्राणाहुतीरवहेलयिष्यति, क्लीबोऽपि स विषयरतः प्रेमदृग्भ्यां भ्रंशयितुमेषिष्यति। स्वाधिनो देश्या वा सुविदेश्या वा स्वार्थं लुण्ठतां रक्तं शोषयतां धनिनां वा नान्तरम्।

सगृहीतधनस्य कणाः स्वतन्त्रतामन्दिरस्य पथि विकरिष्यन्ते, भारतमातुश्चरणयोरर्पयिष्यन्ते इति।

समास्थले, विशेषतो विधवाः स्त्रिय आसन्निरलङ्करणा नराश्च, तथाप्याभूषणानां वृष्टिस्तत्राभूत्। क्षणेनैव भारतमातुरग्रभूः कर्णनासागलाभरणैरङ्गुलीयकैश्च व्याप्ता। परमनेन स्त्रीणां तृप्तिर्न जाता, ताभिर्न ज्ञातमासीद् यदद्य धनसंग्रहो भविष्यति, ता अपरदिने सभायै आजग्मुः। तासामाग्रहेण द्वितीयस्मिन् दिने तस्मिन्नेव समये स्थाने च सभाऽऽहूता।

नगरस्य सर्वाः स्त्रियोऽद्य आतुरिता इव कौशेयखण्डेषु चकचकायमानान्याभूषणान्याबध्य समयात्पूर्वमेवोपेताः। तासां मुखेष्वद्यैका विलक्षणा तेजोमयी च्छाया व्याप्ता। आभूषणानां स्वर्णानां बहुमूल्यानां राजतानां सौवर्णानां भाजनानाञ्च कूटं भारतमातुश्चरणयोर्जातम्। यौवने षोडशद्वादश वसन्तान् प्रक्षिपन्त्यो बालिकाः पुलकिताः प्रफुल्लारविन्दमुख्यो नव्यो हिमकेभ्यः स्वार्थं वासमनुभूयेव इव दृष्टाः स्वतन्त्रभारतवेदिकायां जीवनसर्वस्वं निश्चलं न्यचैषुः।

एका निरवलम्बं रुदतीं युवतिं समालम्ब्य मुग्धमुन्मादिता अपराः स्त्रियः समाजग्मुः। ता यथाकथञ्चिदस्फुटया गलेन रुद्धेन भग्नया स्वरेण प्राबोधयन् यदस्याः सत्व-

सुशीलो युवा भर्त्ता राजद्रोहापराधे बद्धोऽय प्रलम्बयिरोस्ति इति। "हन्त, हन्त," इति कोलाहल सर्वतो गगन व्यनादयत्। अश्रुपूर्णारक्तलोचना रमणी च स्वसौभाग्यसिन्दूरेण सह रत्नखचित चयत् शिरोरत्नमञ्चलो हृत्वा भारतमातुश्चरणयोरार्पयत्।

सत्यम्, ईदृशदेव्याश्चरणेषु प्रहीतु देवास्तपोरता मुनयश्च लालायिता।

एका वृद्धा स्खलन्ती एकेन हस्तेन वक्षसाश्लिष्ट चित्र परेण च दण्ड दधती समता। हिमश्वेता सा रुदत्यवोचत् "एतन्ममैकमात्रस्य पुत्रस्य चित्रमस्ति। अस्य पिता महापण्डितो विद्याव्यसनो मनस्वी निर्धनो युवावस्थायामेव देहमजहात्। तस्यान्तिमेच्छाऽऽसीद् यत्तस्य पुत्रो महान् विद्वान् भवेत्। भिक्षा पत्या निषिद्धाऽऽसीत् तद्वृत्या च पुत्रमानसे निम्ना दयनीया भावना न भवेद्यतोऽह वनात् शुष्कं काष्ठ समानीय विक्रीणन्ती सुत पाठयन्ती जीवन्त्यासम्। एकदा मम षड्वर्षीयो निर्भीकं भाषमाणो माणवक शासनेनावद्ध। एको गौराङ्ग आयुक्तः सह दशभिरन्यै राजपुरुषैर्मम शिशुमाहूयावदत्–"वन्दे मातरम्" न वक्तव्यम्। पर विकटसाहसोऽदम्योत्साह स तस्याग्रे एव तारस्वरेण "वन्दे मातरम्" इत्यवदत्।

पाशवप्रकृतिरधिकारी करायाऽऽहन्तुमादिदेश। विद्यालयस्य प्राङ्गण एव सड सडेति शब्दायमाना कशास्तस्य कमलकोमले कलेवरे निपेतु। एतदन्तर माध्याह्निक भोजनमादायाहमप्युपेता। स वन्दे मातरमिति कथयन् भूमौ पतित। तेन कदापि ताडन नानुभूतमासीत्। तस्य त्वचो निर्झरवद् रक्त च्यवते स्म। शनैश्शनै 'वन्दे मातरम्' वदन् स जीवनाञ्जलि भारतमातुश्चरणयोरार्पयत्। गौराङ्गस्य शिक्षित श्वा शिशोरुष्ण सद्योरक्त लिहन् स्वामिन प्रियता बभार। अह च जडीभूता पश्यन्ती सङ्क्षोभनष्टविवेका रुद्धगला उन्मत्तेव विस्फारितनेत्रा शिशोश्शरीरे निपत्य मूर्च्छिता। दिनत्रयानन्तर ममोटने मम मूर्च्छा भग्ना। गौरी सारमेयोत्पटित त्वच घृतमधुमधुयष्टिभिरुपनह्यन्ती आसीत्। समस्त शरीर सवाणि वस्त्राणि रक्तदिग्धान्यासन्, यानि दृष्ट्वाह पुनर्मूर्च्छिता।

तस्य विवाहाय मया सुवर्ण क्रीतमासीत्, यदेव एना गतिं प्रापितस्तदा मया सुवर्णस्य शिरोधिश्रियैषा शाखा निर्मापिता। अद्यतनोऽवसर पुरा न प्राप्त, एतत्कर्मण्यर्पणा मम शिशोरात्मा शान्तिमधिगमिष्यति—इति कथयन्ती वृद्धा चित्र भूमौ

प्राक्षिपत्। इद्घाविवरणेन सर्वो जनः स्फुटं रोदितुमारेभे। अश्रुस्रोतः नेत्रद्वारेऽस्मात् नासिकानाल्या बहिरुवाह, धैर्यस्य बन्धः क्षणशो भग्नः। कायो भग्नः। चित्रान् मनस्विता वर्षति स्म। मुग्धस्मितं तस्योष्ठयोः कपोले च प्रसृतमासीत्। इदया चित्र सौवर्णी शाखा च मातुश्चरणयोरारात् स्थापिते।

अहमुत्थायावोचम्, वयमवश्यं सफला भविष्यामो यत्रेदृश्यः शरणागतदीनार्त्तपरित्राण-परायणा देव्यो निवसन्ति, तद् भारत कथं विपद्येत्? याभिः पतयः पुत्रा भ्रातरः पितरः परिजनाश्च स्वाधीनतावेदिकायामारोपिता आहुताश्च, तासां भारत कथमवसीदेत्? सभास्थले यावन्नेको युवको मह्यं पत्रमदात्। अहश्चोद्घाट्य जनतामश्रावयम्:—

मत्पूरस्य प्रथमे किरणोद्गमेऽस्माकं भाग्यनिर्णयो भविष्यति। अस्मदवसानमनु हृदनस्पन्दनं समीपात् समीपतरमेति। अस्माकं जीवनप्रदीपः प्रातर्युमणौ विलेष्यते, उपाधिनाशे घटाकाशो महाकाश इव। परमस्मदीया विचारा विश्वस्मिन् विद्युल्लेखाव-च्चमत्कुर्वन्तो जागरणं सम्पादयिष्यन्ति। अस्माकं त्रुटिमेव भस्म यदि विनश्येत्, तेन किम्। शासनस्यात्याचारान् वहिस्समाजाय श्रावयितुमभियोगोऽयस्य योग्यः। तेन जगतो जागरणसम्भावना। यत्र शासुरोध निवर्तयितुमुद्युक्ता यदेव सद्धर्मन्याय-चर्व्णीयो यावत् मुष्टिमेयाना शक्तिशालिना श्रमिषु भारतीयेषु शाङ्कटिकशायनेषु च सार्थं साधयितुमधिकारस्तिष्ठेत्। श्लाघ्यानां वीराणां वर्धनेन भवता सपर्या यस्मात् भविष्यति। वैमानस्तुरनं साहसमुच्चैरादर्शो निर्भयतापूर्णो भावश्च विश्वं चमत्करिष्यति।

अन्ते, ज्ञानेऽज्ञाने वा भूतानां घृष्टानां कृते क्षमामभ्यर्थयमानः पत्रमदः समापयामि—

वन्दे मातरम्। "अनेकेष्वेकः"

* * *

यत्र राजधानीं गताः। शुल्कशालायामेवैको घटकः[1] क्वचनापि विदितोद्देश्योऽस्मानु दयानदर्शयत्। तस्य प्रेरणया चेकः कायस्थो वाकीलो घटच्चक्रटितमहाप्रभावोऽ लब्धावकाशः सर्वेषां स्वतन्त्रतासंग्रामाभिमुखानामुन्मोचनाय पञ्चदशसुद्राभिः स्थिरीकृतः। सोऽस्मान् बहुविधं पृष्ट्वा सर्वाणि पत्राण्यस्माकं विचार्य विभाव्य यान्यद् यत् न्यायाधीशस्योपस्थाता[2] मुसल्मिः मलीननामा विद्यते, तेन मेलनमावश्यकम्।

---

1 दलाल। 2 यः पत्राणि न्यायाधीशायोपस्थापयति (सिरस्तेदार, पेशकार)

समागमो यद्यपि सिद्धान्तविरुद्ध आसीत्, परमद्यतनजनपरिज्ञानाय, राष्ट्राय कारावासे म्रियमाणेभ्यो लोकभावनामधिकारिभावनाञ्च ज्ञातुं समागममपरिहार्य्यं मत्वा विहितसमयास्तस्यावासं गताः।

ग्रामसीम्नि कस्यापि समानशीलस्य धनिनो विशालं भवनं तेन स्वायत्तीकृतमासीत्। तस्य विशाले सभास्थले कुसुमकुड्मलाकारेषु पुण्डरीकसितेषु सहस्रशः काचभाण्डेषु उत्प्रभाः प्रदीपाः प्रद्योतन्ते स्म। अभित उपविष्टाभिरुपदर्शयामाभिरप्सरोभिरधिष्ठिता मिन्द्रपुरीमनुकुर्वति सभास्थले नगरस्यार्जितधना धनिनः कृषकोपार्जितराय सामन्ता उत्कोचिनो राज्याधिकारिणश्च कौशेयासनेषु वृहदुपबर्हपृष्ठा मद्यं पिबन्तस्ताम्बूलं चर्वयन्तः पतद्ग्रहे निष्ठीवन्तो धूममाकर्षन्त आसन्। मध्ये च विलासलीनः सलीमः।

* * *

गृहीतमुद्रेण द्वारपालेन बहिरेवासूचि यदुपस्थाता महोदयो गानसमाप्तिसमकालमेवान्तःपुरं प्रवेक्ष्यति, आलापेच्छा चेत् प्रतीक्षितव्यमेव। वयं कोणे कथञ्चिदपि प्राप्तस्थाना हृदये शोकशल्येन विद्धा अपि गानमञ्चे उपविष्टाः।

अथैकाऽऽनखशिखान्तं रत्नखचिता नर्तकी निःसरदनन्तचन्द्रा पौर्णमासी निशेव भास्वरा अनन्तचक्रवृत्तासमायुक्तं पारावताम्बरं शिरसा वहन्ती स्यूतरत्ननवनीतकौशेयचण्डातका विद्युल्लेखेव मञ्चमुपेता। सा जानुभ्यामवनिं गत्वा वृहत् कमलकुड्मलं हस्तस्पर्शेण विकास्य अञ्जलावादाय स्मितेन सितयन्ती सभास्थलं जनसाधुवादेन सार्द्धमुपस्थातुः श्रवणयोरापयत्। पार्श्ववर्त्तिनो ज्ञातं यदुपस्थाता महान् कलाकारोऽस्या गुरुश्चेति गुरुवन्दना।

अथ सा प्रतिसर्द्धिभिरनेकैर्वैणविकैर्मार्दङ्गिकैरनुस्वरं प्रक्वणद्भिरनुगता हस्तौ भ्रमयन्ती विरचितपदन्यासा दन्धे शिरसि मध्ये च हस्तं न्यस्यन्ती अङ्गुष्ठतर्जन्यौ परस्परं योजयन्ती मण्डलितचक्रचण्डातका अलक्तकविचित्रितहस्ततला विद्युदिव चञ्चच्चाञ्चल्या झङ्कृतनूपुरा कदाचन चूर्णकुन्तलान् स्पृशन्ती कदाचन झणझणायमाना रसना प्रक्वणयन्ती कदाचन मुद्रया हस्तौ संयोज्य विभजन्ती उत्तरीयं हस्तयोरादाय वातवेगेन रतिध्वजमिव प्रसारयन्ती पादतलेनापि तालं रचयन्ती चक्षुर्मुद्रया विश्वं विमोहयन्ती पद्मविलासविभासिसौन्दर्या मुद्राभिरेव गानस्यार्थमुद्बोधयन्ती सप्रभमुखी ओष्ठमुद्रया

मनोज्ञभाव मानवमानसे उच्छिदन्ती ग्रीवा मध्यञ्च वलयन्ती कमलकुड्मलायितानुरोजौ कम्पयन्ती कज्जलाक्षी प्रलम्बकृष्णकुन्तला दीपशिखातिलका साङ्गविक्षेप नृत्यन्ती गातुमारभत ।—

मम मनो व्याकुलम्
रात्रिन्दिवमलि ! मिलनं चिन्तत् । (स्थायी)
शीत. सान्द्रो वायुर्वाति
विद्युत् पत्या सह चाभाति
प्रोषितपतिका मुग्धा तरुणी
घनघोरघटा पश्यन्ती
भृशमेतद् ! उद्विजते ।
मम मनो व्याकुलम् (१)

उद्दीप्याशादीपं दृष्टा
अङ्गनमध्यमहो उपविष्टा
सज्जा भूपानेपार्थं रलि !
द्रष्टुं श्याममुखं भृशमुत्का
सुविलम्बो मा तुदते ।
मम मनो व्याकुलम् (२)

तिर्यग्वीक्षणमधुरालापन-
हस्तस्पर्शैः प्रेमोत्पाद्य
चक्षुर्मलं निद्रा हृत्वा
वशय न तारा. गणितुम्
प्रियतम ! स्वरमेहि ।
मम मनो व्याकुलम् (३)

उभयतो हस्ताभ्यां नवनीतचण्डातकमुत्थाप्य छनच्छननच्छनन्नूपुरा भ्रकुटिकोट्या कामकोटिं वशमन्ती विद्युल्लेखेव क्षणस्थिरा आपततो भ्रमरकान् कोमलप्रलम्बाभिरङ्गुलिभिर्मध्ये मध्येऽपसारयन्ती अङ्गुल्यङ्गुष्ठसाहाय्येन शिरसि मकुटमुद्रां रचयन्ती अपाङ्गे कर्णमूले नेत्रयोश्च हस्तं विन्यस्य विविधभावं प्रकाशयन्ती मध्ये मध्ये स्कन्धा उन्नमयन्ती मोहिनीव रराज ।

मध्ये भावोद्बोधनाय द्रुतविलम्बिता गतिमाश्रित्य आरात्तिकमुद्रां वा प्रकल्प्यागाद्यदा भित्तिरिष्टकाश्चापि धन्यवादान् व्यतरन् ।

मदोन्मत्त उपस्थाता सर्वेषां समक्षमेव प्रदर्शितानुरागस्तस्या कम्बुकमनीये उन्नतबन्धुरे कन्धरे सप्तावलिहारं स्वहस्तेनाबध्य हस्तमायोज्यान्तःपुराभिमुखं गन्तुमना अभवत्। एतत्सङ्केतेन सर्व एवोत्थाय अपसृत । अहञ्च कथमपि जनव्यूहं प्रतीर्य तमुपेत्य चनभ्यस्तदैन्योऽपि तं प्रसादयन्नवोचम् 'स्वामिना समयो दत्त" इति। परं मैरेयमत्त कशीकृतकामिनीसमुपारूढगर्वो विगलितदन्तश्च्यवदोष्ठोऽस्फुटवाक् भर्त्सयन्नाह—"अपेहि नायमनेहा" ।

अथाह वहिरुपेत्य सहयोगिनं सूचयित्वाऽचलम्, द्वाःस्थ पुनरुपहाराय हस्तं प्रासारयत्।

'एतादृशस्य धनिनो द्वाःस्थस्त्वं किमु अस्मान् खेदयसि ? समुद्रे क्व बिन्दोः स्थानम्" ? अहमवोचम् ।

"क्वात्र धनम्। स्वामी प्रतिमासं पञ्चविंशतिमुद्राः प्राप्नोति शासनतः, व्ययश्च प्रतिदिनं पञ्चशतम्। वर्षद्वयं व्यतीतम्, मासिकं मुद्रात्रयमेव न लभ्यते। शिशूनां पालनं भवादृशानां दययैव सम्पाद्यते" स उदतरत् ।

*   *   *   *

वयं समयात् पूर्वमेव न्यायालयमुपेता । वाक्कीलस्यान्वेषणमारब्धम्। तत्र जनसमुद्रेऽन्वेषणमेव दुष्करं नवीनेन। परं तस्य लेखक उपलब्ध । सोऽब्रूत यदद्य गानवाद्यरसिको वाक्कील उपवनभोजने कस्या अपि गायिकाया सम्मानभोजने सम्मिलित इति। पञ्चसहस्रमुद्रा गृहीत्वापि देशसेवकानां प्राणै क्रीडां विचार्य मनो घृणया पूर्णम्।

न्यायालयो जनसमुदयेन परिपूर्ण । अप्राप्तस्थाना बहिरजिरे वृक्षाणामालवालेषु

न्यायस्थले उपाविशन्। समये आरब्धपुन्यायविमर्शः शासनस्य विशेषाज्ञया नियुक्तैर्विधि-विज्ञैः सह न्यायासनमलञ्चकार। अभियुक्तानामनुपस्थितावेव तेषां भाग्यनिर्णयः प्रवृत्तः। कस्मै तथा अत्र किं परामृश्यते? पौरजनैरप्येका समितिरभियोग-संशोधनाय समर्पिताऽऽसीत्। तया नियोजितो वाकीलः प्रार्थयत यदभ्यर्थिनां समक्षमेव अभियोगकार्यं वहन् भवेदिति। शासकानामाड्विवाको विभिन्नकारणैस्तं प्रस्तावं कार्यहानिबाधकं मन्वानो निर्णये प्रतिषेधद्व्यधात्। परमस्मदायप्राड्विवाकस्या-भ्यासेनाभियुक्तानिरन्तरः सोऽकुर्वत प्रयान्यायालयेनोदघोषि यदभियोगिनामनुपस्थिता-वेवाभियोगः श्रोष्यते इति। परदिनाय श्रवणं स्थगितम्।

विरोधिवचनं तु मया श्रुतमासीदेव, अधुना प्रवृत्तेः प्रवृत्तेश्च हेतोः प्रतिदिनमागतः समयो विधिपुस्तकालय एव व्यतीतः स्म। ज्ञानवृद्धिर्योगगर्भोऽस्य मनः सान्द्रमस्तुते। स्वपदहितो वच्मि यदहमधुना विविक्तो भूतः।

विनयस्य सद्भावेन, इतस्ततो न्यायासननिर्णीतानामुदाहरणेऽहं सर्वदा मग्न आसम्। एकदा विधिपुस्तकालये विधिवित्तमेन निर्विकल्पकविदा सह मम सम्पर्कोऽभूत्। एतस्य नाम मया श्रुतमासीत्। अथ यदा कदा न्यायालयमुपैति स्म। एषोऽनुपेतकार्ये "असद्"इति प्रतिवचनं श्रोष्यमाणैव लब्धः। मया सामरणसन्धवेनापि सर्वोऽप्यभियोगस्तस्मै श्रावितः। तत्स्वभावः श्रुत्वा प्रभावितो निःशुल्कमेवास्मदनुकर्तुं सन्नद्धोऽभूत्। अयं महात्मा वकीलः सर्वेषु महाप्रभाव आसीत्। परीक्षणप्रतिपरीक्षणरूपेण साक्षिणो जनाश्च तस्माद् बिभ्यति स्म। न्यायाधीशेषु वाक्कलेषु वादिप्रतिवादिषु च तस्य समानः प्रभाव आसीत्। न्यायाधीशाः स्वयं तस्य तर्काद् बिभेति स्म।

तस्य स्वर्णोज्ज्वला प्रलम्बा स्कन्धस्पर्शिनी जटा शिखोन्नत यदस्माद दीप्यमाने नयने उदग्रा नासा गम्भीरा तर्कवन्यथा वाक् च सर्वेषां शिरो नमयति स्म। धीरस्या एकतानया दृष्टया अभिवादिप्रतिवादि पश्यन् मनोनिविष्ट भावमपि रहस्यं वा प्रकटयितुं प्रयतते स्म सः। अकस्मात् क्षिप्यते तर्हि गृह्या फलन्ति स्म।

परदिने प्रधानन्यायसदस्सु द्रोणमक्क यद्वाशोऽप्युप्यनमन आगतः। मदर्थमपि तेन तस्य चरितं प्रतिकूलमयोग्यमपि वेद्यत्।

अथ समस्मिन् नगरे सर्वेषु कर्मसु हरिताल[1] प्रसृतम्। नगरस्योद्युद्धयो न्यायालयमुपेताः। कारावासिनः सैनिकसुरक्षिताः समये समागताः। कारावासिना सङ्ख्या अधिकाऽऽसीदतो दर्शनागन्तुमाज्ञप्ताः। आगतमात्रा एव ते "वन्दे मातरम्" "जयतु स्वतन्त्र भारतम्" "उत्क्रान्तिर्जीवतात्"—इत्युद्घोषैर्विष्णुपदमेव व्याकुलयामासुः। असह्यस्येयजनगलनादिना ध्वानेन न्यायसमितेरासनमेव दोलायितमभूत्।

कारावासिनः पुष्पमालाभिराच्छन्ना आयस गृहमानीताः। मृतभुशुण्डीकाश्च सनिकाना पङ्क्तिरभितः सज्जाऽऽसीदेव।

शासकीयप्राड्विवाकोऽभियुक्तानामपराधं पुन. श्रावयामास।

(१) अभियुक्तैर्मुग्धा जनता महाप्रताप राजान द्रुह्यन्ती कारिता। राजद्रोह।

(२) सभाया बहवो वधा जाताः। नरहत्या।

(३) दुर्बलमनसां मनस्सु दुर्भावनां सङ्घर्षभावनाश्चोत्पाद्य तेषा दुर्गतिकरणेन प्रजाना दौःस्थ्यम्। आदिरादिः।

प्रतिदिन होराष्टकमेतत्कार्यं प्रचलदासीत्। शतशः साक्षिणो भारतीया अपि स्वतन्त्रताप्रद्वेषिणा विरुद्ध मुद्रालोभेनानृतं वक्तुं सज्जा. स्थिरीकृता आसन्। अभियोगोऽयमादशःयो वर्षेऽन्यथलन्नासीत्। अपराधिषु बहवो राजपुरुषैः परुष ताडिता देहमत्यजन्, केचन रुग्णाश्चिकित्सालयेषु न्यवसन्। शासनस्य निःशतलक्षमुद्रा अस्मिन् व्ययिता आसन्। पर कार्यं निर्णयाभिमुख नासीत्। अतः शासनेनैका विशेषा समिति र्घटिताऽऽसीत्। अतः सर्व बलं सर्वैः समयेऽस्मिन् कार्ये लग्न आसीत्। पण्डितपुत्र प्राप्त्याभियोगे जीवन समेतम्। अन्ततोऽन्तिम प्रतिपरीक्षणदिनमभ्युपेतम्। न्यायाधीशाना मण्डलं चर्चरायिताभिरुपानद्भिर्मसृणकृष्णपरिधानैः प्रलम्बेन भ्राजमान ग्रीवाबन्धनेन[2] चक्रदण्डेनोपनेत्रेण मणिबन्धघटीं पश्यत् सम्मानितै उच्चैर्भव्ये कक्षे यथास्वमासनेपूपविष्टम्। सम्मुख एव वाकीलानामासन्य. सज्जा आसन्। पुस्तकेषु उद्धरणसौविध्याय दत्तपत्रखण्डा. सहयोगिभिस्तर्कसंग्रहकुशलह्पेताः परपक्षखण्डनपण्डिता. वाकाल्य

१ संस्कृताध्येतारोऽशुद्धपदेषु हरितालमायोज्य सूचयन्ति स्म "इदमन्यवहार्यम्" एवमेवायतने कर्मावरोधे। नायं, हट्टतालस्यापभ्रंशः। तालकवाचकस्य तालस्य संस्कृतवाङ्मयेऽभावात्। २ न्यकटाई।

अभ्युपेताः । अस्माकमातङ्कवादसहस्तदोऽपि कथयति स्म शासकाः ? एतदुपनेतः श्वेतस्वेदस्नातः पुलकोद्गतचक्षुरागतः । होराचतुष्टयं यावदन्तिमं प्रतिपरीक्षणं जातम् । केशनिर्मोकसोचितत्वकां न्यायालयाजिरं मोहमानाप्तः । शेषेऽस्माकं निर्विकल्पमवस्थित आसीत् । जनकरतलध्वनिना वन्दिदवाणीप्रवाहः प्रचुरोत्साहः कृतसन्नाहः स न्यायाधीश-मण्डलमभिमुखीभूत्वावदत् । सर्वे श्रोतारश्चित्रलिखिता इवाभवन् । यदा कदा जनकरतल-ध्वनिस्तत्रबाधाप्यात् । तस्य भाषणस्य सारमिदमस्ति ।

यदि कश्चन स्वभ्रातरं शिक्षयितुमुद्यते तु स्वावलम्बनाय स्वोन्नत्यै वा प्रयतते स किं सापराधः ? देशं स्वतन्त्रयितुं सेवकसंघटनं तेषां कर्मठतोत्पादनञ्च तेषां नैतिकमुत्थान न राजद्रोहः । शासनस्य प्रणालीं समालोचयन् स्वस्थचेताः किं द्रोग्धा ? दुष्कोचितां स्वार्थसाधनाय परान् पीडयमानानामधिकारिणां समालोचने किं राजद्रोहः ?

असंख्याता नरा नार्यश्च कारासु निगडिताः, बहवो वसन्ता वीतास्तेऽद्यानभियोगा एव कारासु सीदन्ति, राष्ट्रं तेषामावर्त्यं चिन्तितम् । भारतं स्वतन्त्रयितुं कष्टं सहमानेभ्यो यदि दण्डः दास्यते, यद्यपि तेऽधुना दण्डमेव भुञ्जन्ति बहुभिर्वर्षैः कारासु कष्टं सहन्ते, तेनात्यधिका विरोधिनी भावना भारतीयेषु जागरिष्यति, येन शासनस्य महती हानिः सम्भाव्यते ।

स्वोन्नतिः स्वातन्त्र्यं सर्वतः प्रथमो धर्मः । देशभक्तो देशोद्धारकार्यं यदि भजति तदा न कोऽप्यपराधः । अयं नागरिकाचारोऽस्ति सदाचारो गण्यते । अत एव निर्दोषाः । अफजलखांवधापराधमाश्रित्य निकृष्टोऽपि शिवराजो राजनीतौ न क्वापि सापराधो गणितः । स्वोन्नत्यै कदाचन स्वधर्मसिद्धान्तप्रतिकूलमपि समाश्रयन् न हेयो गण्यते ।

स्वातन्त्र्यं सर्वेषां जन्मसिद्ध ईश्वरप्रदत्तोऽधिकारः । स नरहत्यापराधी यः स्वेच्छया परान् वशीकृत्य मारकरूपेण प्रहरन् सफलो भवति । आश्चर्यम्! शासनविहिता हिंसा लोकहितस्कन्धेष्वारोप्यते ! सर्वा हिंसाः शासनीयराजपुरुषैः कृताः । अतो नस्त्ये-पन्नीमानपि दोषः । न्यायस्य मर्यादामानेतं सर्वथाऽदोषाः । न्यायस्य परिपाट्याः रक्षा न्यायालयस्य प्रधानं कर्म इति ।

न्यायाधीशानां कृते सङ्कटमुपस्थितमासीत् । परीक्षणप्रतिपरीक्षणेन तेऽभियोगतथ्यं सर्वथाऽवागच्छन् । तेन कारावासिनामपराधः प्रमाणितो नाभूत् । परं व्यवहारमपि ते दण्डव्यवस्थां ददुरेव । द्विवती तेषां निरपराधोद्घोष्य मुक्ता । त्रिवती दशवर्षकारा-

वासेन पञ्चशती पञ्चवर्षकारावासेन दण्डिता। कारासु निवसतां दण्ड समाप्तप्राय आसीत्, अत सर्वे तत्क्षणमेव मोचिता पौरप्रतिष्ठानस्य विशाल भवनमुपेता जनसमूहन सोल्लास सत्कृता रात्रावेव चित्रपुरमायाता।

कार्त्तिककृष्णपक्ष। दीपावलीमहोत्सवो बहुभिर्वर्षै रुद्ध आसीत्। मृत्युमुख विशता कोऽवसर उत्सवस्य ? सर्वे दीनवदना अलिप्ताशा हतोत्साहा हीनहासा दृश्यन्ते स्म, तेषु महोत्सववार्त्तावार्त्तिकरी। सर्वेषु कारावासिषु मुक्तेषु राजाज्ञयोत्सवश्चक्रे। सुधा कारिणा कारुणा महघता सम्पन्ना। तैरद्योरात्र गृहाणि धवलयद्भिर्भोजनवेलैव न लब्धा। इत पटरागिणा काष्ठरागिणामप्यभाव। सर्वेषा सुखे मनसि चानन्द। सर्वेषा करौ पादौ च परिमार्जने लग्नौ। गृहा अवकरनिकरव्याप्ता विपणयश्चाव सङ्करकूट मुदगिरन्। पौरप्रतिष्ठानस्य भृत्या सरणिसङ्करपरिमार्जनाया प्राचुर्येण व्यग्रा अनवरत महिषैगर्दभैर्वहन्तो व्याकुला आसन्। नगरे नवीन जीवन समेतम्। सुधालिप्तैर्गृहै, रागरक्तैश्चित्रचित्रितैस्तैलस्निग्धै कवाटैश्च नगर विचकास। मलिन मालिन्य ह्रिया गर्त्तगतमभूत्। सरणानि जननिरीक्ष्यता भेजु।

महालक्ष्मीरात्रौ प्रदोष एव गृहेषु विचकसुर्दीपावल्य। विविध न्यस्ता दीप पङ्क्तयो ससरण दीपयामासु। विलक्षणराग प्रकाश प्रकाशते स्म। कान्दविकाश्चैत प्रसादयद्भिर्लालामाश्रोतयद्भि स्वर्णरजतपत्रलिप्तै सवैचित्र्य न्यस्तै काचमञ्जषा जुष माणैर्मिष्टान्नै विपणि पूरयामासु सौन्दर्येण। इत फलविक्रतारोऽपि दाडिमजम्बीराङ्गूरै स्वरञ्जितपिठरा पुरुषानाकर्षयामासु। वस्त्रापणिकाना विपणयोऽद्य प्रोज्ज्वलाभासैर्वासोभि दीप्यन्त स्म, येषु पटप्रभा द्विगुणयन्त प्रकाशा अवलम्बन्ते स्म। मनोहरमञ्जूषासु विधृत स्वणरजतभूषणा भूषणविक्रेतारश्च चक्षूंष्यशयन्ति स्म। ताम्बूलिकाना विपणिष्वद्य मेलापक इव लक्ष्यते स्म। तेषां वार्त्तविकाश एव दुर्लभ। परिणामे परिदेविनो द्यूतदेविनश्चाद्य राजाज्ञयाऽदीव्यन्। युगपद्धवनोद्धरस्तेषा कोलाहल आकाशमपि व्याकुलयति स्म। तेषु केचनाहसन्, परे उदासत।

अभितो वेदध्वनय श्रूयन्ते स्म। विभविनां भवनेषु गायका गायन्ति स्म। रमणीभूषणशिञ्जितानि विजयन्ते स्म। पट्टवासवासितवसना परस्परालापप्रकटितप्रेमाण पुरुषा प्रेक्ष्यन्ते स्म। यथारीति सम्पन्नोऽभूदुत्सव।

वासेन पञ्चशती पञ्चवर्षकारावासेन दण्डिता। कारासु निवसतां दण्डः समाप्तप्राय आसीत्, अतः सर्वे तत्क्षणमेव मोचिताः पौरप्रतिष्ठानस्य विशाल भवनमुपेताः जनसमूहेन सोल्लास सत्कृता रात्रावेव चित्रपुरमायाताः।

कार्त्तिककृष्णपक्षः। दीपावलीमहोत्सवो बहुभिर्वर्षै रुद्ध आसीत्। मुहुर्मुहुरा दिशतां कोऽवसर उत्सवस्य? सर्वे दीनवदना अर्पिताशा हतोत्साहा हीनहासा दृश्यन्ते स्म, तेषु महोत्सववार्त्तावार्त्तिकरी। सर्वेषु कारावासिषु मुक्तेषु राजाज्ञयोत्सवश्चक्रे। मुत्कारिणां कारूणां महर्घता सम्पन्ना। तैरहोरात्रं गृहाणि धवलयद्भिर्भोजनवेलैव न लब्धा। इतः पटरागिणां काष्ठरागिणामप्यभावः। सर्वेषां मुखे मनसि चानन्दः। सर्वेषां करौ पादौ च परिमार्जने लग्नौ। गृहा अवकरनिकरव्याप्ता विपणयश्चाथ सङ्करकूट मुद्गिरन्। पौरप्रतिष्ठानस्य भृत्याः सरणिसङ्करपरिमार्जनायां प्राचुर्येण व्यग्रा अनवरत महिषैर्गर्दभैर्वहन्तो व्याकुला आसन्। नगरे नवीनं जीवनं समेतम्। सुधालिप्तैर्गृहैः, रागरक्तैश्चित्रचित्रितैस्तैलस्निग्धैः कवाटैश्च नगरं विचकास। मलिनं मालिन्यं ह्रिया गर्त्तगतमभूत्। संसरणानि जननिरीक्ष्यतां भेजुः।

महालक्ष्मीरात्रौ प्रदोष एव गृहेषु विचकसुर्दीपावल्यः। विविध न्यस्ता दीप पङ्क्तयो ससरण दीपयामासुः। विलक्षणरागः प्रकाशः प्रकाशते स्म। कान्दविकाश्चैतः प्रसादयद्भिर्लालामाश्चयोतयद्भिः स्वर्णरजतपत्रलिप्तैः सवैचित्र्यं न्यस्तैः काचमञ्जूषां जुषमाणैर्मिष्टान्नैर्विपणि पूर्णयामासुः सौन्दर्येण। इतः फलविक्रेतारोऽपि दाडिमजम्बीराङ्गूरैस्तरङ्गितपिठराः पुरपथानारदर्शयामासुः। वस्त्रापणिकानां विपणयोऽद्य प्रोज्ज्वलाभासैर्वासोभिर्दीप्यन्ते स्म, येषु पटप्रभा द्विगुणयन्तः प्रकाशा अवलम्बन्ते स्म। मनोहरमञ्जूषासु विधृतस्वर्णरजतभूषणा भूषणविक्रेतारश्च चक्षुर्वञ्चयन्ति स्म। ताम्बूलिकानां विपणिष्वद्य मेलापक इव लक्ष्यते स्म। तेषां वार्त्तावकाश एव दुर्लभः। परिणामे परिदेविनो द्यूतदेविनश्चाद्य राजाज्ञयाऽदीव्यन्। युगपद्वचनोद्भवस्तेषां कोलाहल आकाशमपि व्याकुलयति स्म। तेषु केचनाहसन्, परे उदासत।

अभितो वेदध्वनयः श्रूयन्ते स्म। विभविनां भवनेषु गायका गायन्ति स्म। रमणीभूषणशिञ्जितानि विजयन्ते स्म। पटवासवासितवसनाः परस्परालापप्रकटितप्रेमाणः पुरुषाः प्रेक्ष्यन्ते स्म। यथारीति सम्पन्नोऽभूदुत्सवः।

अपरदिने सभाभवने सभासदेष्वखिलेषु सानन्देषु, प्रतिष्ठितेषु नागरिकेषु च, वाद्य-यन्त्रेषु च लग्नेषु एकस्मिन् स्वर्णासने स्थिते मयि सज्जायां च समन्ताया राज्ञा राजसिंहासनादुत्थाय सभ्यान् सम्बोध्योक्तम् :—

प्रियाः! सभ्याः! विदितमेवैतद् यन्नगरजनजनमनःसरसिजदिवाकरस्य वीरवरविरो-चनस्य श्रीचन्द्रकुमारस्य स्वागतविधौ दिना समारोहदर्शननिमित्तेनैतस्य महतः सत्कारस्य हृते किमपि वेतनमनीहमानाः केवलान् साधुवादान् लिप्सामहे, इत्येव महोत्सवस्य विषयः। महत आनन्दस्यावसरो यत् श्रीचन्द्रकुमारो वीरविजयेन्द्रस्य श्रीनवेन्दुपालस्य पुत्रो विनयपुरनन्दननरेशयोश्च जामाता विद्यते।

प्राणप्रदाने प्राणदानमपि स्वल्पदानम्, परन्तु 'अदानान्मन्ददत्तं श्रेयः' इति कृत्वा कर्मणि तुच्छां सत्कृतिं कुमारचरणयोरारोपयामास्ये। श्रीमन्तो जानन्ति यदस्माकं पूर्वो महाराजो मह्यं वीरोऽयमिति विचार्यैव पालकत्वाच्च राज्यं दत्तवान्, ते गुणा अद्य मयि हीनाः, एतत्प्रवृत्तिवृत्ता अहं प्रजाः पालयितुं सर्वथाऽसमर्थः। अतोऽहं राज्यं लोकस्य न्यासं योग्ये सर्वगुणैः समन्विते चन्द्रकुमारे चन्द्रकान्तवत्सला राजकुमार्या धर्म्याः पाणिग्रहणमनुमहामि। अनेन कर्मणाऽस्माकं पूर्वस्य राज्ञः प्रणाली पालिता भवति या नितान्तमुपयुक्ता इति।

प्रसन्नतां जनाना साधुवादेन सहैव मन्त्रिवरोऽपि छत्रं चामरयुगलं च मह्यं। ततः सज्जने व्यूढा देव चन्द्रिकावदातेव, नवनीतनिर्मितेव, मृणालमृदुला, सम्भवदन्तःहृदयेव नवाम्रपल्लवकलितद्रुमावलीव शीतला, मन्दस्मितसिता, हास्यस्मलला वसुधेव सद्भावना, लावण्यनेत्रविस्तारिणी, वीणावाद्यप्रवीणा, मुकुरविमलकपोला, हिमशुभ्रवदना, ईक्षणीया, चलनाम्बुजाभा ललितपदा कन्या। ततस्तैव तदुत्थं प्रार्थने, जयघोषद्वारेण नवलिमनि-नादिनवती जाता। देवालयमपि लब्धत्रपाक्षत्र लज्जा, पुनाति।

सम्प्रति सुखी सम्पदया यथाऽऽत्मराज्येन श्रीपुनाम्नाम्येतेन मनोदन्तः।

श्रीविद्वज्जनरुचिरं नितान्तमधुरं वागीशवन्द्यं लस-
च्छास्त्रं तन्त्रकृतालि विद्वद्रसिकपा गायाहितोऽप्यङ्कुषि ।
रम्यं मानिमनश् चिरं रमयता वृत्यान्चनोऽयं पठन्
दृष्टिं तस्य भवेन् मयूखमहितोऽहीनो गुणैः सत्कृपः ॥१॥

इतिश्री—

समस्तशास्त्रशास्त्रवततिततिपुष्करभरस्य पुराणमकरन्दमधुकरस्य

महामान्यविपश्चित्तल्लजस्य श्रीनवरङ्गरायशास्त्रिण पुत्रस्य

विश्वविश्रुतविपश्चि‍न्मण्डलाखण्डलानल्पदर्पदलनदम्भस्य

तस्यैव गुरो परमानुकम्पाऽवणपात्रस्य काव्यालङ्कारस्य

श्रीनिवासशास्त्रिण

चन्द्रमहीपतौ निरगादयमष्टमो नि श्वास ।

अखिलवैदुष्यरूपया श्रिया युक्ता य विद्वासस्तेभ्यो रुचिरम् साधारणजनायापि नितान्त मधुरम् रसशास्त्रम् अतएव वागीशैवन्द्य किमपि वचन्—ब्रुवन् विदा रसिकाना पाणौ आहितश्चन्द्रमहीपतिनामको ग्रन्थ भुवि ज्ञानिमन चिरं रमयताम्। एतस्य द्रष्टा च ज्ञानपूर्वक चक्षुषा पयवसको ऽध्ययनशील मयूखैरिव विविधैर्विषयै महित युक्त अतएव गुणै अहीन =पूर्ण सता कृपा यस्मिन् एकभूतो भवेत्। तस्यायमष्टमो नि श्वासो ऽगात्। पद्यऽस्मिन् श्रीनिवासशास्त्रिणा विरचितश्चन्द्रमहीप —इतिवाक्य नि सरति।

———

नवमो निःश्वासः

विद्वज्जनसम्पर्को नष्टेष्टज्ञातिदर्शनाभ्युदयः ।
कस्य न सुखाय भवने भवति महारत्नलाभश्च ॥
मीनवती नयनाभ्यां चरणाभ्यामपि प्रफुल्लकमलवती ।
शैवालिनी च केशैः सुरसेयं सुन्दरी सरसी ॥
अद्यापि तां कनकचम्पकदामगौरीं
फुल्लारविन्दनयनां तनुरोमराजिम् ।
सुप्तोत्थितां मदनविह्वलसालसाङ्गीं
विद्यां प्रमादगलितामिव चिन्तयामि ॥
सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत् ॥

रचना विरच्यमानाऽनुपदं क्लेशयति नव्यवल्लीव ।
कालेन परिचिता सा सुखरा गलभूषणीकर्तुम् । अत इयमस्य दाम्नेन म् ।

शशिधरो मनोमोदिन्या कुमुदिन्या प्रचितवत्स्या चपल्या सहदन्यनदतदचन्दना सरोजिन्या च सहितः समागतो राजनगरम्, सर्वोऽपि चन्द्रस्य च वृत्तं राज्ञः पुरो न्यवेदयन्। सरोजिनी चन्द्रमसं विना प्रभातमिव नन्दनवनसमीरं विना कुसुमितवनमिव प्रेयांसं विना नाधिकमराजत, किन्तु किंकुर्यादन्तत एकाकिन्येव वधूपादौ स्पृष्ट्वा प्रासादं प्रविश्य। चन्द्रविलम्बे शशिधरस्य सरोजिन्याश्च विशेषतः शङ्कितमभूच्चेतः, परं परमविनोदिनोऽस्य सम्भाव्यते विनोदविलम्ब इति विचार्य किञ्चित्स्थैर्यं बभूव मनः। मास ऋतुरयनम्, अनन्तरौ वर्षे, सर्वाण्ययानीव व्यतीयुः। शतशः सूदाः दर्शिता निमग्ना, सुदीर्घाणि महान्त्यायुः स्थानानि बभूवुश्च। विशाला निशा राज्य तेनुर्नगरस्य, विटपा विचकम्पु कन्दमानवाचत-स्थिरे च। परं चन्द्रो न समागतः। महाराज्ञो विचित्रदर्शनदर्शच्छिधर प्रतिदिनं खेदयति।

पुनः पटवः प्रेरिताः, पुनर्वियोगवारां निधेः शोकसागरस्य च प्रवाहोद्गाराः प्राबल्यं प्रापुः। मालिन्यं पुनर्मनुजमुखमण्डलान्यभजत। महाराजे मन्त्रिणा मन्त्रयति द्वास्थो गुप्तविभागाध्यक्षागमनमसूचयत्। इङ्गितज्ञः स तं प्रैषयत्। स च निः प्रणम्यासूचयत्—

'देव, महत्या सेनया राजनगरमधिगन्तुकामश्चिनपुरेशः समेति। शतं शिबिकानाम्, प्रतिशिबिकं निष्कोषनिस्त्रिंशानां बलवद्वपुषां पदातीनां शतम्, भोशुण्डिकानां सादिनाञ्च त्रिशती, मदमत्तमातङ्गस्थायिनां द्विशती, भल्लकराणां नराणां चतुःशती। विज्ञानबला असंख्यातयन्त्रा परा सेना, तस्या रक्षायै चाश्वारोहिणां पदातीनाञ्च दशसाहस्री। परा च मरुत्तरारूढा वस्तुजातरक्षायै पञ्चसाहस्री। सहस्रशश्च कर्मकराः सेवकाः पाचका निवेशकाः। प्रतिदिनं गव्यूतिपञ्चकं प्रचलन् वनाद्वन कृतनिवेशः समायाति।'

राजा०—दुर्दैवेऽविचारितागमना विपदः स्फीता भवन्ति। मन्त्रिन्, को विचारः?

मन्त्री—युवराजे गते सर्वत्र शिथिलता विद्यते विभागेषु, अस्यां स्थितौ सन्धिरेव गरीयान्।

राजा०—नहि नहि, एतन्न भवितुं शक्नोति।

महाराजो नवेन्दुर्वीर आसीत्। शक्तिवरप्रबलावपि गणनीयगुणावास्ताम्। एतेषां साहसगिरा निर्जीवानां मानसेऽपि साहसविक्रमाभ्यां समचारि। राजनगरसेना जगद्विदितपौरुषासीत्, चन्द्रे गते शिथिलता तामजूगुहत्, तथापि समुद्रः शुष्कोऽपि मानसं सरस्तिरस्कर्तुं प्रभवत्येव।

विभागास्त्वासन्नेव, विद्युत्स्पर्शेनेव तेष्वेका नवीना स्फूर्तिः समाजगाम। जलसेना जले वियद्वाहिनी च वियति, मरुत्तरचमूश्च स्थले सज्जिता। 'छत्रधारिसैनिका[1] स्वाभ्यासं वर्द्धयामासुः। नगरमन्धतमसेन[2] परिचितं कारितम्। समुद्रे प्रकाश[3]-स्तम्भानां प्रबन्धका नियुक्ताः। जलनिमज्जिन्यो[4] विरङ्गीकृतरणपोताः सुरङ्गाश्च[5] समुद्रे प्रसारिताः। परं परप्रपीडकास्तारपीडकाः[6] परपीडायै प्रेरिताः। आटङ्का[7] लोहस्य चञ्चला दुर्भेद्यदुर्गा भीषणशक्त्या जगदुट्टङ्कयामासुः। सहस्रघ्न्यो दलमर्दनतोपा अथ

---

१ पैराशूट २ अन्धेरा (Black out) ३ (Light-house) ४ पनडुब्बियां
५ सुरङ्गें ६ तारपीडो (Torpeedo) ७ टैङ्क (Tank)।

वैज्ञानिका बभूवुः। जगतीं सन्देहसिन्धौ जुघुक्षितुं विघोद्यमका बमाः विस्फोटबमा[1] नगरभस्मकर्माणोऽग्निबमा[2] शीघ्रविस्फुटनशीलाः,[3] समयापेक्षिण[4]श्च बमाः प्रचुरमानया निर्मिताः। गोलिकेद्वानिनीनां[5] शक्तिः परीक्षिता। नरसंहारका विषाक्ता[6] अश्रुसारिणः[7] क्षावितः[8] तोदोत्पादिनो[9] विसर्पसम्पादिनश्च गेषाः,[10] प्रलय-प्रचारेणैव भुव भीषनाङ्कक्रिरे। परप्रयुक्तान् गेषान् व्यर्थयितुं दुष्वातोपरोधिका[11]-सव्ग्रहः समारब्धः। परमसुन्दर्यौ गानवाद्यप्रचलीलाप्रदीपा वीणाकम्बुस्वरतानान्वेद[?]। [12]वाणीयन्त्राणि सैनिकवासस्थां कृते नियन्त्रितानि। तारविभागे,[13] दूरालापयन्त्रविभागे,[14] [15]आकाशवाणीप्रेषणविभागे च राजनियन्त्रणानि व्यनक्तुः। राजभवनानां धनिभवना-नामुपरि पार्श्वतश्च सिकतासंग्रहः समजनि। चिकित्सालयेषु विशेषचिह्नान्यङ्कितानि। शिशूनां स्त्रीणाञ्च कृते पृथग्व्यवस्था प्रारब्धा। भूरक्षागृहाणि[16] प्रचुरमानया स्तरस्तर निर्मितानि। वायुयानविध्वंसकतोपाः[17] भविष्यन्निर्देशकयन्त्रेण[18] उच्चतानिर्देशकयन्त्रेण[19] च संयुक्ता आश्चर्यकरं कृत्यं चक्रुः। वायुयानदर्शनाय प्रखराणि प्रकाशयन्त्राणि[20] आविष्कृतानि। समस्मिन् राजनगरे यानान्तरजालाः[21] प्रसारिताः। गुप्तभाषाप्रयोगाः

---

१ बमतीति बमः "टुवम् उद्गिरणे" 'पचाद्यच्'। विस्फोटयतीति विस्फोटकस्तस्य पदार्थस्य बमा इत्यर्थः। (High explo ive bombs) २ दाहकबम (Incandiary bombs.) ३ पृथ्वीपर गिरते ही फटनेवाले Immediate bombs. ४ टाइम पर फटनेवाले बम (Delayed Action Bombs)। ५ मशीनगन Machineguns. ६ जहरीली गैस (Poi-onous gases)। ७ रुलाने वाली गैस Tear gas। ८ छिंकने वाली गैस Nose irritant gas। ९ घुनघुनाहट पैदा करने वाली गैस Lung irritant gas। १० फफोले उत्पन्न करनेवाली गैस Blister gas। अत्र सर्वत्र गेषु अन्विच्छायामित्यस्माद् घञि 'गेष' शब्दः। अन्विच्छा = अन्वेषण-मातिं करोतीति गेषवत्। ११ गैस के असर को न होने देने वाली टोपी Gasmasks। १२ फाउनग्राफ। १३ तार। १४ टेलीफोन। १५ रेडियो। १६ जमींदोज रगाह[?]। १७ हवाईजहाज को नष्ट करनेवाली तोपें Anti Aircraft Gun. १८ जिससे यह मालूम होता है कि गोला जब वहां पहुंचेगा, वहीं जहाज भी होगा। १९ जहाज की लम्बाई मील, फीट, इञ्चोंमें मालूम करने का यन्त्र। २० अधिक पावरवाली लाइट। २१ बैलून बैरेज (Baloon Barrage) एकतरह का जाल, जिससे रगड़ लगते ही जहाज में आग लग जाती है।

सङ्केतलिपयथार्थप्रापण नवां रीतिमनुसृत्य । पक्षिणोऽपि श्वानोऽपि शिक्षामाहेदु। सूक्ष्मबुद्धय इन्द्रियज्ञाननिपुणा विविधभाषाप्रवीणा, लिपिजालान्युपा तत्त्वबोधविभागे[1] नियुक्ता ।

लघवो युद्धपोता[2] रक्षकपोता[3] सहायकपोता[4] औपचारिकपोताश्च[5] विविध सम्भारैः सम्भृता ।

अथ राजनगरस्य चत्वरान् चतुष्पथसमुद्रानभितोऽभिनव आहवकोलाहलस्वरजायते। सोऽय वारणार्थिनामोप्सित कालो वर्त्तते । अल्पश्मश्रुषु नवयुवकेष किमु प्रौढष्वपि नवीन उत्साहो मुखरीभवति । सर्वेषां करौ श्मश्रुसाधने लग्नौ स्वश्मश्रुपोषाहर्णिमा प्रश्नवे। परितो वीरतावरत्रचास्मुच्यन्ते श्रूयन्ते च । भटानां वीरभावो भेरीभङ्कारेण दुन्दुभि ध्वानेन चतुर्गुणितो भवति । युद्धवाद्यन योद्धृणा पादा स्वयमप्रतश्चलन्ति। पूर्णौजसोऽस्यतीना अश्वा अपि रणकण्डूमपनेतु सर्वप्रथम जिगमिषया कृच्छ्रेण सादि भिर्वार्यन्ते । मदमत्ता करटिनो घण्टाघोषैर्विश्व वाचालयन्त प्रावृषण्या सविद्युतो वारिदा इव अभितो भ्रमन्ति । खड्गानां खणत्कारेण कुन्ताना प्रभया भुशुण्डिकाना तोमानां तुमुलेन शब्देन शङ्खानां ध्वनिना सर्वा दिशोऽद्य परस्परमालपन्त्य इव प्रतिभा त। सर्वोच्चतुङ्गशिखरेऽभिमानलालिता जगन्मानिता कीर्त्तिलतेव विजयपताका पपरायत। सुदुरमनोहरे, निमलनिमले, प्रोच्चप्रोच्च आकाशे हर्म्याणा कनककलशा, विरोचनकिरण कुलेन धौता इव विश्व विहसन्ति । तत्र तत्र वातायनेषु स्थिता सौभाग्यसुन्दर कमनीया कन्याश्च पुष्पाणि पुष्पमालाश्च विकिरन्ति । यत्र तत्र वन्दिवृन्देन वीरवराणा वर्णना वर्ण्यन्ते । भगिनीभिर्भ्रातृभाला भूष्यन्ते । कश्चन सवर्मयति, इतरोऽनुलोमयति परोऽभिषेणयति ।

मन्त्रणामन्दिरे मन्त्रिणो मन्त्रस्यापक्षीणतामक्षीणयितु सप्रयत्ना प्रतीयन्ते। अभित सतर्का धृतद्विनलिका सैनिकप्रहरिण सदर्प भ्रमन्ति । एको दूतश्चित्रपुरनामा द्वितपदकप्रतिष्ठ आगत्य प्रहरिणमसूचयद् यत् स चित्रपुरेशस्य पत्रवाहकोऽस्ति

१ सैन्सर । २ छोटा जगी जहाज Sloop । ३ Escort ship ४ Auxilary Vessels ५ Hospital Ship

महाराजं दिदृक्षते" इति। प्रहरी च तं प्रहरिमण्डलमध्ये न्यस्य, तद्वृत्तं समाख्यातुं राजानमुपसृपत्। स च तदागमनं दूतागमनविविदिषुरुत्सुकः। कतिचिद्-घटिकाः स परितः आसन्नसंस्थायां परिषदि समागत्य महाराजं ददर्श यत् दुग्धफेनाद्रि-गौरश्वेतोऽङ्कुरितः शास्त्रेषु गुम्फितो गुणरत्नैः, अनुसारमेव यदि परब्रह्म इव सौदर्शनो राजा राजते। तत्र निःप्रसन्नं जननैर्विविधभावभङ्गया वंशलापः पत्रं प्रददौ। महाराजः पत्रं पृष्ट्वोऽपठोऽस्य मन्त्रिणं पठनायादिशत्। जनान्तिकोऽपयाय प्रसन्नहृष्टो राजानमभ्यभावत्।

श्रीमत्तेजःश्रान्तसान्तसमस्तशान्तदैर्दीप्यमानागणितमायप्रच्छदितनीतिसुदृढदृढोज्ज्वलन-खर्वीभवितविततनाशितारोपमदतनस्, अकल्पदतुभ्रमसुखाहृहमदकाम्यस्तुतवदनपुङ्गव वीरहितनिविष्टेषु प्रलयमनाश्वापदमानेषु श्रीपितृचरणेषु सादरं सस्नेहं नमस्कारपुरस्सरं प्रणमति।

चित्रपुरम्

नरता सुचिरविवुधः इतुन-स्कः।

अथ चन्द्रस्य पतनमिदमिति सुखरितेष्वखिलेषु शोभनमपतितमिति विचारेषु वीरस्मन्देषु अनल्पग्रे च राजनि पत्रवाहकेन सह मन्त्रिण एवमभूदालाप —

"कुशली क्षत्रिचन्द्रो महाराज ?"

"आं देव।"

"जाने क्षत्रियोऽसि।"

"आं देव।"

"शरीरेण साहसेन पुष्टश्चन्द्र ?"

[सकौते राज्ञि एकत्वप्रयोगेण खिन्न इव] "आं देव !"

"किं महत्या सेनया चित्रपुराधीश्वरेण समायातश्चन्द्र एव ?"

"आं देव।"

"चित्रपुरत एव त्वां प्रहितवान् ?"

"आं देव।"

महाराज दिदृक्षते" इति। प्रहरी च तं प्रहरिपत्रकमध्ये न्यस्य, तद्वृत्तं सभाम्ध राजानमसूचयत्। स च तस्यागमनं दूतागमनविधिनाऽनुमुमुदे। अक्षिनिबद्धपट्टिकः स परितः आसन्नसभ्यायां परिषदि समागत्य महाराजं ददर्श यत् कुङ्कुमेनाङ्कितोऽञ्चितोऽकुण्ठितः शास्त्रेषु गुम्फितो गुणरत्नैः, अनुस्वारस्य यथि परसवर्ण इव सोदाहरणो राजा राजते। तत्र त्रिः प्रणम्य जननैर्विविधभावभङ्ग्या वीक्ष्यमाणः पत्रं प्रादात्। महाराजः पत्रं पृष्ठतोऽवलोक्य मन्त्रिणं पठनायादिशत्। अमात्यश्चोद्घाट्य प्रपठ्य हृष्टो राजानमप्यश्रावयत्।

श्रीमत्तेजःशान्तस्वान्तसमस्तसामन्तदेदीप्यमानागणितमणिखचितमौलिमुकुटछटोज्ज्वलनखदीधितिततिनाशिताशेषभयतमस्सु, असन्त्रस्तप्रजामुखाट्टहासप्रकाशसमुत्पन्नयशःपुञ्जसितीकृतत्रिविष्टपेषु प्रत्यग्रभास्करायमाणेषु श्रीपितृचरणेषु सादरं सस्नेहं क्षमायाचनपुरस्सरं प्रणमति।

चिनपुरम्	भवता सुचिरवियुक्तः कुपुत्रः चन्द्रः।

अथ चन्द्रस्य पत्रमिदमिति सुचरितेष्वखिलेषु शोभनमापतितमिति विचारयत्सु पौरम्मन्येषु भ्रमव्यग्रे च राजनि पत्रवाहकेन सह मन्त्रिण एवमभूदालापः—

"कुशली कच्चिच्चन्द्रो महाराजः?"

"आं देव।"

"जाने क्षत्रियोऽसि।"

"आं देव।"

"शरीरेण स्वास्थ्येन पुष्टश्चन्द्रः?"

[स्वकीये रात्रि एतत्प्रयोगेण खिन्न इव] "आं देव।"

"किं महत्या सेनया चिनपुराधीशत्वेन समायातश्चन्द्र एव?"

"आं देव।"

"चिनपुरत एव त्वां प्रहितवान्?"

"आं देव।"

"तदा किमस्य सरिकयामपेक्षते स ?"

"आं देव !'

"तर्हि स्वयं वयमायास्याम ।"

"आं देव !'

'किं चन्द्रेण 'आं देव'—इत्येव कथयितुं नियुक्त !"

"आं देव !'

वार्त्तैव परिवर्त्तिता। इन्द्रायणयाराम्रनिम्बयो, दीनारकपर्दयो, सुभिक्षदुर्भिक्षयो युद्धयध्येरिव भेदा बभूव। शत्रोरभिमुखं प्रयात्री महती सेना चन्द्रस्वागत चिकीर्षया प्रोज्ज्वलमाना बभूव। कणाकर्णिकया क्षणेनैव समाचार सर्वत्र प्रसृत। मलिनमुखे नगरनेरे विलक्षणा दीप्तिरागता। सर्वे सम्मिल्य पताकाभि सत्तरणसेचनै परिमलविटपयासैमालामालाभिर्द्वाररचनैश्च पुर पुरन्दरपुरयमासु।

* * *

हारकपञ्जरस्थकीरगिरा विघूर्णिते प्रासादे रम्यासन्द्यामासीना राजमाता। भित्ति भजमानाना भ्राजमानानां विटपाना पुष्पलतानां सौन्दर्यं भवनसौरभ्यादाय धीरधीर समीरो विश्वस्मिन् वितरितुमिव वाति। सरोजिनी च सत्यपि सखीशते दासीसहस्रे परमप्रेमप्रह्वप्रणया स्वयमेव लघुना व्यजनेन व्यजयति। करकलितकीरा कुमुदिनी च शिल्पिनो नैपुण्यवीक्षणे निमग्नचित्ता अधस्तादुपरिष्टात् पार्श्वतश्च हर्म्यस्य रचनां सौन्दर्य दौर्बल्यं द्वाराणि अवस्थानञ्चेक्षते। सैव हर्म्यरक्षायै अधिकृता। शतशो दास्यस्तस्या आज्ञया परितो भ्रमन्ति। एका दासी तस्या कर्णान्तिकं शनैरवोचत्। सा च सरोजिनीम्।

सरोजिनी०—सत्यं कथयसि वा व्यामोह ?

कुमुदिनी०—व्यामोह ? महाराजमुखाच्छ्रुतम्।

सरोजिनी०—किं श्रुतम्।

कुमुदिनी०—यच्चित्रपुरेशत्वेन तव सौभाग्यसिन्दूर समायाति।

सरोजिनी०—कास्ति द्वारि।

वेदारिणी०—(प्रविश्य) आज्ञाप्यता महाराज्ञि!

सरोजिनी०—ज्ञातो राजसभासंवादः ।

*　　　*　　　*

योजनदीर्घः समारोहोऽयं नगरसरणीनि व्यापत् । हर्षवर्षप्रसन्ना भूमिरुहीव आकाशमपि विदितवृत्ता चचार । तोषपूर्णां निनदेन दिशोऽपि विज्ञपिता ।

समये राजभवनं प्रविश्य अश्रुस्नपितपितृपादः पितरं मोहमुग्धमुखीं मातरञ्च प्रणनाम चन्द्रः । प्रणेमतुश्च हर्षभुवनेशौ ।

अथ सरोजिनी कविकामिनीव हृष्टा प्रोच्चविचारा कमलां प्रणम्य प्रश्नशतेन कुशलमपृच्छत् । कमला च कमनीयाङ्गुल्या चम्पां निर्दिशन्ती सर्वमसूचयत् । करुणमनसा सरोजिनी च प्राणप्रियाणामेतां विपत्तिं संश्रुत्य नाशक्नोद्रोद्धुं बाष्पाणि ।

*　　　*　　　*

"देव, महतो दुःखस्य विषयः, महामात्यो विद्याधरः सन्ध्याक्रान्तोऽस्मान्विजहौ" —कम्पवक्षेण भृत्येन महाराजो नवेन्दुर्न्यवेदि ।

"आः विद्याधरो दिवं गतः, अर्जुनेव मया सह बहुशो गाढ्मियोजनात्सावध्य गतो मतश्च हन्त ? कीदृक् क्षणभङ्गुरमिदं शरीरम्, कीदृशो व्यामोहः, अतीतिर्मानिकीव वयः, तिस्रः परमसुन्दर्योऽप्सरस इव सुताः, सोदर्यौ ज्ञातकल्पाः मृदुलस्वभावाश्च, प्रियतिसा जगद्भ्रमणविपुलप्रतिभश्चन्द्रः गुणनौ पौत्रौ, सुन्दरम्यप्रमत्तं राज्यम्, तथापि नाहं लब्धसुखोऽहं, अनन्तेव मोहनिद्रा हन्त !

"वत्स ! यत्नमायोऽत्र शीघ्रं मां गुरुसमीपं प्रापय—" नवेन्दुना प्रोक्तम् ।

*　　　*　　　*

"गुरो ! कीदृगयं संसारः कथमस्मादावर्त्ताद् बहिर्गन्तुं शक्यते" ?

राजन्, अज्ञानमेव बन्धनम् । अजानन् यथा पुमान् मरुनगरे भ्रमनमुभवति वस्तु दुःखं तथा न जानन् । ज्ञानमेव मोक्षः, अज्ञानमेव बन्धनम् । ऋद्धिरियं मायानिद्रा । नात्र सुखम् । पुमानलोकसुखतया भ्रमन् दुःखमेवाप्नोति । सुखं तु केवलं भगवत्तत्त्वानुसन्धानम् । त्वमपि वैकान्ते निवसन् मदुपदेशविधिना ध्यानिमार्गो न चिरेण ब्राह्म्यमधिगमिष्यसीति मे विश्वासः

*　　　*　　　*

"धन्य पण्डित, किं नाम भवतः" ?

महाशय ! मा जना के के शास्त्रीति भाषन्ते"।

के के शास्त्रीत्यस्य कोऽर्थः ?

के के०—अर्थन्तु भाषका एव जानन्ति परं लोके भाष्यते नामैतत् सैनिक !

सैनिक०—(सहसम्) एतदेव पृच्छ्यतेऽनर्थकं सार्थकं वैतत् ?

के के०—को जानीते।

सैनिक०—क्व ब्रह्म व जानाति ?

के के०—(अनपेक्ष इव) सम्भाव्यते।

सैनिक०—(सादरम्) मपत्वाय। उत्कण्ठाकलितचेतसा पृष्टम्।

के के०—केचन कविताकामिनीकान्त परे च कमलाकान्त इति स्वरूप प्रकाशयन्ति।

सैनिक०—आ एवम् ! आडम्बललिप्यनुरूपम् (स्मितिद्विरम्य) किं क्रियतेऽत्र महानुभावेन !

के के०—किं क्रियते अस्मिन् काले किमपि कर्त्तुं शक्यते ? कः पृच्छति पण्डितान्नव कोऽद्य पिपठिषति संस्कृतां वाचम्। दोहासवैयारचयितॄणामल्पज्ञानां केवलं कण्ठमधुरिम्णा मोहयितॄणां तथाकथितानां नवीनानां कविम्मन्यानामद्य सम्मानं। साद्य जगद्धात्राजनन्यपि विश्वे नोच्यमानापि विभिन्नरूपेण, मृतभाषेति शब्द्यते म्लेच्छभाषाविद्भिरज्ञैः। संस्कृतज्ञाना सुदुस्तरतरा दारिद्र्यापगा प्रतिदिनमेधते। यदा प्रतीक्ष्यमाना मानमहोदधिचराश्चक्रवर्त्तिभिरपि प्रत्यहमर्च्यमानचरणयुगलचरा सम्प्रति अविगणय्य अम्बरमध्यगणितगभस्तीन् खेदलाता प्रतोलीतः प्रतोलीं पर्यटन्ति बचकव। येऽञ्जलिजलमानतुष्टास्तपोधना राज्ञोऽपि वाहीकृत्य न्लु सक्रोधधु येषु लोकपालानामपि त्यक्तस्थैर्यं मन त एवे प्रक्षीणतपोवैभवा अज्ञातजातीना धनिनां गृहेष्वनाहूता यान्तो विना प्रणाममाशिषं वदन्त उद्गारे जम्भणे च चिरञ्जीव इत्यादि ब्रुवन्तो मिथ्याचाराः ध्वाङ्क्षायन्ते।

असत्योदकोच्चयताधिगतधनाश्चरिनाचारविरहिता धनिनश्च समुद्रफेनसुधासारकारण्डवपङ्कपटलायितसितहितशीतवसनविभूषिता कुन्तलतल्पपरिमलेन भवनमामोदयन्त पञ्चद्वारलमोशीरा शीततापनियन्त्रेण सेव्यमाना राजतपादपेषु मञ्चेषु स्थिता

वेधसमिव तन्वन्तः स्वस्योत्पादकान् वर्द्धकांश्च ब्राह्मणान् भर्त्सयन्ति । धर्मरक्षकाः प्राधान्येनासन् क्षत्रियाः, परं तेऽधुना मांसे मद्ये च शौर्यं चिन्तयन्तो निःक्षा जठरज्वालानिर्वापणपटवः स्वन्तोऽनुपनीता व्रात्याः कन्याहननपातकिनः परस्परविरोधविनाशितबला विशां ललाटिका कुर्वन्तस्तेषां पुत्रोत्सवे सम्मानं लभन्ते ।

यवनाश्च विलासाचारपावकाशमेव न लभन्ते दुराचारा वस्त्राभक्ताः ।

वैनिक, विचित्रचरित्रोऽयं कलिस्तत्रभवतोऽर्वाचीनकारणबन्धून् एकोऽपि भिक्षुकान् करोति, धर्ममूर्तीन् हरिश्चन्द्रादीन् शकृच्छोधनजीविनः श्मशानसेविनो निष्फलस्य नृपस्य तनुपनयति सौदासमिव नरभोजित्वं प्रापयति ।

श्रूयतामस्मिन्नेव नगरेऽस्माकं युवराजश्चन्द्रो विद्याबुद्धिविवेकवित्तोऽपि प्रवसा-प्रणयपूजनप्रेम्णा विलासासक्तः समयमतिवाहयति । पिता योग्यश्चावलाधीत्, बहवः प्रतिज्ञा अनेन कृतचराः प्रजातन्त्रपद्धत्या शासनमनेन प्रतिज्ञातचरं परमधुना मधुना हृतविवेकः क्व स्मरतु, प्रेमसानुपुरस्कृतौ क्व प्रजाकष्टं शृणुयात् ।

वैनिकः—सत्यं देव ! एतदेव जातम् । परं चन्द्रो हृदयेन शुद्धः सद्विचारश्च, परिस्थितिवशमेवम्भूतनकार्षुः । अहं चन्द्रस्य सन्निकटः स शीघ्रमेव स्वप्रतिज्ञानुसारं चिकीर्षति । परमेतन्निश्चितं यत्तस्योद्यानं नाल्पीपरिमलेन चम्पकसुरभिणा बकुलगन्धेन शुकपिककलहंसकलरवैरनेकान्देलुब्धानां षट्पदानामहर्निशगन्धेन सुशोभितमासीद् कुटिलकालकटाक्षदृष्ट्याहितं धूलिधूसरितं श्मशानायितं जातम्, परं चतुरो मालाकार इव स तत् शीघ्रं पुनरुज्जीवयिष्यति । स न मद्यपो न च स्त्रीभक्तः । तस्य विरहनयननीरपरिस्थित्या जातम् । सरोजिन्या विवाहः कमलाऽऽग्रहेण । कमला च कमलां मृता विज्ञाय राज्यप्रत्यावर्तनानुत्सुकश्चन । तस्य स्निग्धोऽपि पुरुषनिर्विशेष-राज्यकर्मनिपुणास्त्वं प्रजातन्त्रपद्धतौ प्रेरयन्ति । श्रूयते स स्वाः स्त्रिय एव विभिन्नप्रान्तेषु राज्यप्रतिनिधित्वेन प्रेषयितुमिच्छति । किन्त्वेतद् सर्वथा सत्यं यद्विपरीतायते कालः । प्रत्येकस्मिन् क्षेत्रे विपरीतमेव स्थितिं पश्यामः । श्मश्रुशालिनः पुरुषाः पुरा वरा गम्यन्ते स्म, अधुना न शिरसि विन्यस्तकेशा निर्दुःखाः स्त्रीनिर्विशेषा एव वैशिष्ट्यं लभन्ते । कलवली यथा प्राकृतिकानां करं करवत्त एवाधुनिकानां तथा वसुधां वशयति ।

पूर्वे पुरुषाणामाज्ञया स्त्रियोऽधुना च ता एव वाम दक्षिणयन्ति। प्राचीनाना वामिता यथा तथैवाधुनिकाना धूर्त्तता।

नवीनाः सम्प्रदाया प्रतिदिन प्रेक्ष्यन्ते। जगति जागरूकदम्भारम्भा जना जठरपिठर-पूरणाय अविवेकिजनवञ्चनाय सुतरा स्वपरिवारपूर्त्यै मिथ्यायशःप्रचाराय च नवीन सम्प्रदाय प्रचारयन्ति। नवीनत्वञ्च प्रचलितविपरीतत्वम्। जगत्प्रचलितस्य सम्प्रदायस्य व्यवस्थापका जटिला मुण्डिनो वा, अतो नवीनैः केशा लुञ्च्यन्ते, प्राचीनाः स्नान्ति जनतां परोपकाराय प्रेरयन्ति च, नवीनाश्चास्नान्तो मातापित्रोरपि सेवा कदर्थयन्ति। चन्द्रमुख्य कमलिनीकमनीयतनुलताः कदलीकोमला बालिका. परलोकताडिण्यादिपदैश्चाटुशतैः प्रवञ्चन-वचोभिः प्रलोभ्य यौवने पदमर्पयन्त्यः प्रार्थिता अनेकैर्वरैः प्रथिताः पृथुगुणैः केशान् विलुच्य वास पट्टिका मुखे आबध्य स्नानज्ञानाचारसंस्कारान् सर्वथा परित्यज्य केवल विषयनिरतैः (केवलिभिः) छद्मधर्मगर्त्तेषु पात्यन्ते।

के० के०—अक्षरशः सत्य कथयसि।

सैनिक.—भगवन्, जगत स्वाभाविक एव धर्मः। नद्या. प्रवाहोऽपि नैकत्र स्थापयितुं शक्यते, किं पुनर्मानवानां चञ्चला प्रवृत्ति। विचाराः प्रतिक्षण परिवर्त्तन्ते। अस्तु, अह देवस्य परिचय श्रोतुकामः।

के० के०—स्वल्पीयान् कविरहमस्मि, सोऽहमधुनाऽत्रस्थ इति गृहीतावकाशो गृहे निवसामि।

सैनिक—तर्हि श्रीमन्तः कवितामपि तन्वन्ति !!

के० के०—आम्, कदाचित्कुतूहलपरवशः।

सैनिक—किंविषयिणीं देव !

के० के०—को विषय, यस्यावसरः समापद्येत्, स एव विषय।

सैनिक—गुरो ! जगज्जालोद्विग्नं चेत. साहित्यचर्चाविस्तृतये प्लवे। यदि नास्ति भवतो वेलाविलम्ब, यदि चेम साहित्यसुधयाऽनुजिघृक्षन्ति, तर्हि पूरयन्तु ममाभिलाषम्।

के० के०—क्षत्रिय ! कः संसारविहारी एतस्माज्जगज्जालादुन्मुक्तोऽस्ति। मादृशा अप्यस्मिन्पाशे सुमृश बद्धा, परं साहित्यचर्या चरितुमोहास्ति चेद् ब्रूहि क विषयमधिकृत्य त्वां प्रसादयामः। त्वमस्माकमद्याभिनव. साहित्यातिथि.।

चैनिकः—गुरो! अयं यवनसेनाविह्वलस्य चापि सरला मनोमोहिनी सान्द्र-मन्दली रचना भवेत्।

के० के०—यतिष्ये। गद्यं रोचते उत पद्यम्?

चैनिकः—भगवन्! पद्यम्।

के० के०—श्रोतव्यं तत्। अद्यतनस्य समयस्य सन्ध्यावर्णनं भवतः पुरः पठामि—

सुखदशारदपौर्णिमचन्द्रमःसुविशदप्रभभास्वरविग्रहान्।
अवहदम्बरसुरक्तछवी नभो विपुलविभ्रममचिन्त्यगुणा गुणः (१)।

सुखं ददातीति सुखदो यः शरदि भवः शारदः "रूत्वम्" शारदः पौर्णिमचन्द्रस्तद्वत् सु-विशदप्रभः=उज्ज्वलकान्तिः, भास्वरस्य विग्रहो यस्याः सा तम् अवहदम्बरस्य इतो=रक्ताभां विभ्रमभृतम् अवहदनन्तो अचिन्त्यगुणा कमपि गुणः।

जिगमिषुर्दिशि पाशभृतः पर्यपहरन् कमलश्रियमीक्षितः
परिचितैरपि लज्जितमानसः समभवत् परिरक्तलिताकृतिः (२)।

पाशभृतः=वरुणस्य, दिशि=पश्चिमायां, जिगमिषुः=गन्तुमिच्छुः पतिः सूर्यः, परितो रक्ता यस्मै, सिता आकृतिरस्य स समभवत्। कमलानां श्रियं=शोभाम् अपहरन्, परिचितैः=लोकलोकैः ईक्षितः=दृष्टः, अतएव लज्जितमानस इव। परद्रव्यहरणं दृष्टः सर्वोऽपि लज्जते। अन्य सहलर्पंसिरसुभिन् दुरुक्तो कर्मणि प्रवृत्त इव नदलनात्परम्। लज्जितस्य मुखं रक्तं सितं च भवतीत्यनुभूतम्।

सकलवासरविभ्रमणातपव्यथितकाय इवोज्ज्वलितोऽग्निना।
जलनिधाविव मङ्क्तुमभीहते कमलजातविशोकिविभाकरः (३)।

कमलजातविशोकी यस्मात् विभाकरः=कमलकुलशोककारी एष सूर्यः। अग्निना दग्धस्थित इव वह्निदग्धः प्रकृतो नर इव, सकलवासरे=समस्तदिने, भ्रमणया आतपेन व्यथितकायः=दुःखितशरीर इव जलनिधौ समुद्रे मङ्क्तुं=स्नातुमभीहते इव।

श्रमणरोक्षितपापकदम्बकं गमयितुं नयितुं मुनिमानिनः।
गिरिगुहामुपविश्य वितप्सति सकुलबद्धितवार्धिमुपैति वा (४)

इनः=सूर्यः। अमगे वीक्षित=दृष्ट, पापकदम्बकम्=अनाचारसमूह, गमयितुं=नाशयितुं, मुनितां=मुनिभावं, नयितुं=प्राप्तुं, गिरिगुहाम्=अस्ताचलदरीम्, उपविश्य=आसनत्वेन परिकल्प्य तितप्सति=तप्तुमिच्छति।

स्वस्मात् (जात) कुल=स्वकुल=सूर्यवंशस्तेन वर्द्धितो यो वार्धिः=समुद्रः (षष्टिसहस्रसगरसुतादय मृगयमाणैरेव खनितः—इति पौराणिकाः) त वा उपेति।

उपतटोद्गतपादपमञ्जुले किसलयारुणिते नववञ्जुले
विशदवारिणि वार्धितटे शुचावयि। विधित्सति सान्ध्यविधिं रविः (५)

रवि, तटस्य समीप उद्गतैः=उत्पन्नैः पादपैः मञ्जुले=सुन्दरे। किसलयैर्नवपल्लवैररुणिते, नवाः=नूतनाः वञ्जुलाः=वेतसा यत्र, शुचौ=विशुद्धे जलदुर्गमत्वादितिभाव। विशद वारि यत्र तथाभूते वार्धितटे=समुद्रकूले, सान्ध्यविधिं विधातुं=कर्त्तुमिच्छति इव।

क्षितितले कमला भवता प्रिया युवकराजकवाञ्छितसुस्मिता।
इति निवेदयितुं जलशायिने त्वरितमस्तमगादिव भास्करः (६)

क्षितीति—"युवैव युवक, राज्ञां समूहो राजक "गोत्रोक्षे ति वुञ्" तेन वाञ्छित अभिलषित सुस्मित यस्याः सा भवता प्रिया=भवतां प्रियेव सुन्दरी कमला, क्षितितले मर्त्यलोकेऽस्ति—इति जलशायिने भगवते विष्णवे निवेदयितुं इव भास्करः=सूर्य, त्वरित यथा स्यात्तथा अस्तमगात्।

सैनिक०। शान्तिम्! केय कमला।

के० के०। कवयो हि नाम केवलकीर्त्तनपरा वस्तुनः सौन्दर्य्यमुद्गिरन्तो निर्दूषणा न दोषभाजोभवन्ति, अम्भोजनिरिवाम्भसः। कापि भवेत् कमला।

सैनिकः०। तदैव निस्तारः। अस्तु, प्रकृतमनुसरन्तु।

उपगतेऽपगतिं जगदक्षणि विपुलगर्वसदर्वविधूननात्
गगनसंसरणात्परिमार्जितं निपतितं पततीन्दुसमं रजः (७)

जगतोऽक्षणि=चराचरस्य नेत्रे भगवति सूर्ये, अवगति=अस्तं प्राप्ते, विपुलगर्वश्वासी सदर्वा=श्रेष्ठाश्वस्तस्य विधूननात्=कम्पनात् निपतितम्, इन्दुसम=कर्पूरतुल्यं रजः, गगनमेव ससरण=राजपथस्तस्मात् परिमार्जितं सत् पतति। श्रान्तोऽश्वः शरीरं विधूनयति।

उदरदर्पविनाशकृतश्रमाः शुककपोतमयूरपिकादयः।
कथयितुं दिनदृष्टमिवाद्भुतं विविशुरेत्य कुलायचयांस्तरून् ॥८॥

उदरस्य "नाहं केनापि पूरणीयो भवामि" इति यो महान् दर्पस्तस्य विनाशे=सङ्घातो कृतः श्रमो यैस्ते शुकादयः पक्षिणः, तरून्=स्वाश्रयान् वृक्षान् एत्य दिनदृष्टमद्भुतम्=आश्चर्यं परस्परं बालेभ्यो वा कथयितुमिव कुलायचयान् विविशुः।

अगरुतः शिशवोऽशनयान्विताः सकणचञ्चुपुटानथ वीक्ष्य तान्।
विदधते विरुतम्, नवपत्रिताः शकुनिभिर्विटपाः सुषमामिव ॥९॥

न गरुत् येषां तेऽगरुतः=अपक्षाः, अतएव शिशवः=बालाः पक्षिशावकाः। अशनया=बुभुक्षया, अन्विताः=युक्ताः, सकण=अन्नकणसहितं चञ्चुपुटं येषां ते, तान् पक्षिणः, वीक्ष्य दृष्ट्वा, विरुतं=कलरवं विदधते=कुर्वन्ति। अथ विटपाः शकुनिभिः=पक्षिभिः शुकादिभिः, नवपत्रिताः=सञ्जातनवपत्रा इव सुषमा=परमां शोभां धारयन्ति।

सैनिक.—साधु! पण्डित! साधु! वस्तुतः कविताकामिनीकान्तोऽप्यसि। कवीन्द्र! अनुभूतोऽस्येकस्मिन् विषये, पुनरिमां पूरयित्वा अनुगृहाण विलक्षणार्थां समस्यां "दिनकरे रजनीकरतां गते।"

के० के०—(क्षणं नभो विलोक्य) शृणु—

प्रचलितेऽह्नि, तमोलिहि भास्करे कमलिनीवलनादिव संस्थिते।
मुखरितं विहितं विभिरावनं दिनकरे रजनीकरतां गते ॥१०॥

अह्नि=दिने प्रचलिते, तमोलिहि=तमोहन्तरि भास्करे=सूर्ये च, कमलिनीवलनात्=पद्मिनीसङ्कोचात् 'वल' संवरणे ल्युट्, संस्थिते इव=मृते इव लक्ष्यमाणे, अत एव दिनकरे सूर्ये, रजनीकरतां गते प्राप्ते, विभिः=पक्षिभिः, आ=समन्ताद्वनमावनं मुखरितं=

वाचालितम्। निशाकरणे सूर्यस्यापि अस्तमयनेन साहाय्यम्, अतो दिनकरस्यापि रजनीकरत्व युक्तम्।

लघुषु पुष्परथेषु कृतस्थिति भ्रमति वृन्दमिद रमणीजुषाम्।
विमलमाल्ययुजा सुहृदामितो दिनकरे रजनीकरता गते ॥११॥

दिनकरे रजनीकरता गते लघुषु = स्वल्पेषु, पुष्परथेषु=सुखभ्रमणार्थेषु रथेषु 'तागा' "वग्घी' इत्याख्यातेषु "असौ पुष्परथश्चक्रयान न समराय तत्' इत्यमर। कृता स्थितिर्येन तत् रमणीजुषा = स्त्रीपरिग्रहशालिना वृन्द=समूहो भ्रमति। इतश्च विमलमाल्ययुजा= निर्मलस्रजा सुहृदा मित्राणा वृन्द भ्रमति।

अरुणिते सुरवर्त्मनि तारका वृहतिकाङ्कितशुभ्रकुशेशया।
वभुरिवातनुभास इनद्विपो दिनकरे रजनीकरता गते ॥१२॥

दिनकरे = सूर्ये, रजनीकरता = अस्ततामिति यावत्, गते प्राप्ते, इनद्विप = सूर्यविरोधिन्यस्तारका, सूर्ये उदिते एता निष्प्रभा भवन्ति अत एता सूर्यं द्विषन्तीतिभाव। अत एवातनुभास = प्रोज्ज्वला। अरुणिते = लोहिते, सुरवर्त्मनि = वियति, वृहतिकया = उपयाच्छादनवस्त्रे, अङ्किता रजतखण्डसूत्रैश्चिह्निता, शुभ्रकुशेशया = सितकमलानीव बभु।

वियति मौक्तिकवृन्दमिवातत रवितुरङ्गमकण्ठतलाच्च्युतम्।
विपुलभं भमल प्रतिभात्यदो दिनकरे रजनीकरता गते ॥१३॥

सूर्येऽस्ते विशिष्टप्रभ नक्षत्रवृन्द रवितुरङ्गमाणां = सूर्याश्वानां कण्ठतलाच्च्युत वियति = आकाशे, आततं = विस्तृत मुक्तावृन्दमिव अल प्रतिभाति।

कमलिना मलिनो समभूदर कुमुदिनो मुदिनो भ्रमरै समम
सरसिका रसिकाचितभूमयो दिनकरे रजनीकरतां गते ॥१४॥

दिनकरेऽस्ते कमलिनी = नलिनी, अरम् = शीघ्र मलिनो समभूत्। सरसिका = सरस्य रसिकै = भावुकै, आचिता = व्याप्ता भूमयो यासां ता अभुवन्।

अहनि कार्यकदम्बभृशाकुलं जनकुल शयनीयगृह गतम्।
नभस आविरभूत्सुमहत्तमो दिनकरे रजनीकरतां गते ॥१५॥

सूर्येऽस्ते, अहनि = दिने, कार्यकदम्बेन – कर्मसमूहेन, नृपमाकुलम्, नरकुलम् सदनाय- पदम् = स्वावास गत । नभस सकाशात् सुमहत्तमस्त्वाविरभूत् ।

क्षणदया विततं स्वशिरोऽशुकं रजतपुष्पयुतं कृमिकोशजम् ।
गगनमृक्षगणेन विभात्यहो दिनकरे रजनीकरतां गते ॥१६॥

सूर्येऽस्ते, अहो गगनम् – आकाशम्, ऋक्षगणेन तारकासमूहेन क्षणदया = रात्र्या, रजतपुष्पयुत कृमिकोशज = कौशेय स्वशिरोंऽशुकम् – उपरिवस्त्र विततमितीव विभाति । यन्वदेशे स्त्रिय कौशेय रजतपुष्पाङ्कित "ओढना" पदवाच्य उपरिवासो दधति इति ।

घनकदामहिमांशुसुचन्दनैर्विहितकल्पन एष महेश्वरम् ।
अभयदं भजते क्षितिनिर्जरो दिनकरे रजनीकरतां गते ॥१७॥

दिनकरे रजनीकरता गते = प्रदोषे, एष क्षितिनिर्जर – भूदेव, घनकदाम = कस्तूरम्, हिमांशु = कर्पूर सुचन्दन काश्मीरागुरुसुचन्दनै विहिता = कृता कल्पना पूजनसामग्री येन स, अभयद महेश्वरम् = शिव भजते ।

यमदमैर्विमलं गतवासनं नियतशान्तिजुषो विदुषो मन ।
झटिति सश्रयते विभुमव्यय दिनकरे रजनीकरता गते ॥१८॥

नियतशान्तिजुष = नियाया शान्ति दधानस्य विदुष – ज्ञानविज्ञानसम्पन्नस्य यमदमै विमलम्, यमदमाभ्या मनसो विमलकराणि सर्वाणि साधनान्युपलक्ष्यन्ते । वासनारहित मन प्रदोषे झटिति अव्यय विभु श्रयते ।

जपति मन्त्रपवित्रकुशासने वटुजने हरिणाजिनधारिणि ।
समुदगात् कुमतेरपि सन्मतिर्दिनकरे रजनीकरतां गते ॥१९॥

मन्त्रस्वरूपये मन्त्रै पवित्रे कुशासन हरिणाजिन = चर्म धारयति तच्छील वटुजने = ब्रह्मचारिजने जपति सति = जप कुर्वति सति, कुमतेरपि = न सिद्धस्यापि शोभना बुद्धि समुदगात् ।

स्मरति योगिजने त्रिपुरशेखरं मलिनकर्मनुपाममपि मानसम् ।
द्रुतमहो ! परमात्मनि सङ्गतं दिनकरे रजनीकरता गते ॥२०॥

सूर्येऽस्ते योगिजने विधुशेखरम् = शिवं स्मरति सति, मलिनकर्मजुषा = निन्दितकार्यसेविना मानसमपि अहो ! आश्चर्यम् , द्रुतम् = शीघ्रं परमात्मनि सङ्गतम् ।

नदति वाद्यवरं सुरमन्दिरे कनककुम्भविभूषितसानुनि ।
प्रविदधत् किल दुष्टजनव्यथां दिनकरे रजनीकरतां गते ॥२१॥

कनकस्य = सुवर्णस्य, कुम्भैः = कलशैर्भूषितं सानु यस्य तस्मिन् सुरमन्दिरे, दुष्टजनानां व्यथां प्रविदधत् = प्रकुर्वत्, वाद्यवरं नदति ।

पिपठिषुर्निजपाठ्यसुपुस्तिकां ज्वलयितुं किल दीपमयोमयम् ।
विशति सत्वरमग्निगृहं वटुर्दिनकरे रजनीकरतां गते ॥२२॥

सूर्येऽस्ते निजपाठ्यसुपुस्तिकां = पठनीयपुस्तकानि विपठिषुः, अयोमयं दीपं ज्वलयितुं वटुः = ब्रह्मचारी सत्वरमग्निगृहं विशति ।

किरणकर्मकरैः परिशोधिते क्षणदया वितते तिमिरे घने ।
विपुलभं प्रतिभाति वियद्वपुर्दिनकरे रजनीकरतां गते ॥२३॥

दिनकरे = सूर्ये रजनीकरतां = चन्द्रतां प्राप्ते सति, प्रकाशकत्वेन चन्द्राय तेजोदानाच्च । क्षणदया = रात्र्या वितते विस्तारिते, घनतिमिरे किरणकर्मकरैः किरणकर्मचारिभिः शोधिते वियत् - आकाशस्य वपुः विपुला भा यस्य तथाभूतं प्रतिभाति ।

विरहिणां प्रचुरार्त्तिकरं शरं विहितसालसचौरजनाकरः ।
वितनुतेऽतनुतेजसि सत्वरं दिनकरे रजनीकरतां गते ॥२४॥

अतनुतेजसि विपुलतेजसि दिनकरे गते सति, विरहिणां = स्त्रीवियुक्तानां प्रचुरार्त्तिकरं = विपुलव्यथाप्रदं शरं इव । विहितः = कृतः सालसः चौरजनाकरो येन, चौराश्चन्द्रिकायां सालसा भवन्ति, तथाभूत एव चन्द्रो रजनीकरतां सत्वरं यथा स्यात्तथा वितनुते विस्तारयति । दिनकरभयादिति भावः ।

मदनमोदकरो वनितावतां धवलरश्मिभिरन्धमधो नयन् ।
उदयतेऽतुलकान्तिविधुर्निजां दिनकरे रजनीकरतां गते ॥२५॥

दिनकरे गते = सूर्येऽस्ते, अतुलाकान्तिर्यस्य तादृशो विधुः, वनितावतां = स्त्रीमतां,

मदनमोदकरः=स्मरकर, हर्षकरश्च, धवलरश्मिभिः=शुभ्रकिरणैः, अन्धं=तमः, क्षपो नयन् निशां रजनीकरतां=निशापतितां द्रष्टयते।

अलकमञ्जुनिकुञ्जतिरोहितद्विजपतिः प्रथिताभसुविग्रहा।
झटिति सज्जति विश्वजिगीषया दिनकरे रजनीकरता गते॥२६॥

दिनकरे रजनीकरतां गते=सूर्येऽस्ते अलकानां मञ्जुनिकुञ्जे तिरोहितो द्विजपतिर्यया सा, प्रथिता आभाऽस्त एव सु शोभनो विग्रहो यस्याः सा कापि झटिति=क्षणमपि नातिवाह्य विश्वं जेतुमिव सज्जति।

सैनिकः०—अस्मितविरणधिपण! गुरुवर! साधु,

भवति यच्छविमत्कमलाकरे नयति यत्कमलापतिरर्चने।
ग्रहपतेर्विरहे मलिनं हि तत् कमलजं कमलं कमलाकरे॥२७॥

कम्=जलम् अलयति=भूषयति तत् कमलम्, कमलज=पयोजं, कमलाकरे=लक्ष्मी-हस्ते, छविमद् भवति। यत्कमल कमलापतिरर्चने=पूजने नयति, तदेव कमल ग्रहपतेः=सूर्यस्य विरहे मलिनं कमलाकरे—ह्रदे वर्त्तते। नापरं स्थानं विधित्सति।

अथ वियोगजनिर्वत। कोकयोः प्रियवियोगमहोत्कटशोकयोः।
असुखमेति सुखात्परतः सदा नियतिसिद्धमिदं जगति ध्रुवम्॥२८॥

प्रियवियोगेन महोत्कटशोकयोः कोकयोः=चक्रवाकयोः, वियोगजनिः=वियोगोऽभूत्। सुखात्परं सदा दुःखमुपैतीति नियतिनियमः।

गणिकया गणिका सुषमान्विता गृहगवाक्षनिधापितकूर्परा।
पथिचरान्नयनेन विकुर्वती धवलिते वियुधायन इन्दुना॥२९॥

वियुधायने=आकाशे, इन्दुना धवलिते=प्रकाशिते, गृहगवाक्षे निधापितः=कूर्परो यया सा, गणिकया—"जूही"पदवाच्यपुष्पेण सुषमा=परमाशोभा तयाऽन्विता गणिका, पथिचरान् पथिकान्, नयनेन विकुर्वती=विकृतिं नयन्ती विचरते।

मुल्लनामणिनूपुरशिञ्जितं वलयझङ्कृतयोऽमुखोद्गताः।
कुसुदचान्यनशोभितदिग्व्रजे न पुरुषस्य हि कस्य हरन्ति हृत्॥३०॥

कुमुदवान्धवेन = चन्द्रेण शोभितश्चासौ दिग्गजस्तस्मिन्, सुल्लवाना मणिखचितन् पुराणा शिजितम्, अट्टानां शिरोगृहाणा, मुखेन – द्वारेण उद्गता = नि सृता वल्य मक्कतयश्च कस्य पुरुषस्य हृद् = मानस न हरति ? अवश्यमेव हरन्तीतिभाव ।

सैनिक —साहित्यामलसरोराजराजहस ! कवीन्द्र ! धन्या भवन्तो य एवमहर्निश मकरन्दमोहिभि पीयूषमयै काव्यालापविनोदयन्ति मन । नानायास भवादृशा साहित्यावताराणा समागमा सागमाना सम्पद्यन्ते ।

के० के०—सेनापते ! बहवो जगति काव्यकलाकलापस्लापिन किल । यया काव्यमूर्तीना मादृशास्तु छात्रत्वेऽपि न मता । परन्तु सरणिरिय प्रत्यह प्रश्नीयमाणा ।

सैनिक —गुरो ! चित्रालङ्कारपूर्णा कवितामपि तन्वन्ति भवन्त ?

के० के०—तस्या काव्ये गडुभूतत्व मतमाचार्यै ।

सैनिक —भगवन्, तेषा रचने वैदुष्य तु परीक्ष्यते एव भवेन्नाम गडुभूतत्वम् । सोऽपि रस आस्वाद्य ।

के० के०—आकर्णय—

सैनिक —आमवहितोऽस्मि । देव ! सान्ध्यविध्युचितोऽय काल । तथा यतनीय यथा देवाना स्तुतिरपि सहैव भवेत् ।

के०के०—अस्तु, एवमेव यतिष्ये । अथ सर्वतोभद्र शिवस्तव —

> देव कुश शङ्कु वन्दे रहता ककता हरम् ।
> कुनाम्बर रम्वनाङ्कुश सर व्यव्यर सशम् ।।३१।।

कुत्सितान् = दुष्टान्, श्यति = तनूकरोति यस्तादृश देव = भगवन्तमुमापतिं, शङ्कुदण्डवद् वन्दे । किम्भूत-रहतां – वेगवताम्, अविचार्य कुर्वतामितियावद्, ककतां गव कुर्वतां "कक लौल्ये" लौल्य गवश्चापत्यय । अनुदात्तत्वलक्षणमात्मनेपदमनित्य चक्षिङो ङिकरणात् । हरम् = नाशकम् । सशम् = कल्याणसहितम् । कुत्सित न अम्बर यस्य तम्, रमन्वे = क्रीडन्ति वे रम – विलासिन 'रमतर्विच' तर्षा वनस्य – समूहस्य अङ्कुशमिव । सरम् = ससार प्रति, अरम् = शीघ्र भक्तस्य निपरसमकारमेव व्यवी – विधियोऽवी, स्याक ।

अम्बा नुमो भासमाना वान्यवादशुभादिमा ।
नुवाममा नाल्पभासमोदमानाननाऽऽशुभा ॥३२॥
रसासाररसामन्दकासारा तमसामताम् ।
ता मसामसुसाहित्या शमरारसाहिताम् ॥३३॥

युग्मकम्। पूर्वमर्द्धभ्रमकम्, द्वितीयो मुरजबन्धः । ता भासमाना = तेजसा ज्वलन्तीम् अम्बा = देवीं नुमः । बन्धो बन्धन तत्सम्बन्धी बान्धः स एव वादः गृहस्था श्रमस्यो वाद तस्मै शुभा = श्रेष्ठा, आदिमा च । नुवा = प्रणमता अमा = सहवर्त्तिनी, नाल्पभास = विपुलतेजस्क मोदमानश्चानन यस्या सा आशुभा आशु = सद्य प्रसरणशील भा यस्या सा ।

रसाना = श्रृङ्गारादीना य आसार = धारासम्पात स एव रसो जलम्, तस्य अमन्द कासारा = महाजलाशयरूपाम्, तमसा = अज्ञानेन, अमताम् = अस्वीकृता । मा लक्ष्मी रस्यास्तीति मम् = शोभासम्पन्नम् "अर्श आद्यच्" तथाभूत यत्साम तदेव सु = शोभन, साहित्य यस्या सा ताम्, श = सुख क्रियते एभिरिति शम्मरा = राक्षसा, 'रुदीरप्' वानामयतीति "अम रोगे, क्विप्" शम्मरान् = विष्णु, त रान्ति = आददत, इति शमराराः = साधवस्तेषा रसेन – प्रेम्णाऽऽहिता = व्याप्ताम् ।

मारतो विषमा चारुचामादत्तकालिमा ।
मालिका देव्युमा गेया यागेऽमाजगतो रमा ॥३४॥
महेशवामनयना नमामो जगदम्बिकाम् ।
महेशनाथनयना समाप्या जगदम्बिकाम् ॥३५॥

युग्मकम्। पूर्वत पद्मबन्ध, उत्तरत्र गोमूत्रिकाबन्ध । वय महेशस्य वाम = सुन्दरे नयन यस्या = सा ता नमाम । जगद् अम्बयति = प्रेरयति तथाभूतम् महेश = सूर्य, बाधते नयने यस्या सा ताम्, समाभि – वर्षे, आप्या = प्राप्याम् "हायनोऽस्त्री शरत्समा" इत्यमर । जगदव अम्बक – शिशुरस्या ताम् = जगज्जननीम्। या मारतो विषमा – विपरीता । चारुचा सुन्दरीणा मध्ये आदत्ता = गृहीता काला = स्वर्गादीनां आदि. पक्ष क्रियया सा, चासौ मा । को मन्त्रणि समापदमयमदर्शे पु भास्कर—

इति मेदिनीकोश । मालिका जगद्धारिणी "मलधारणे" देवी = देवनशीला जगत = ससारस्य, क्षमा = सहवर्त्तिनी शक्तिरूपेण, यागे पूजाया गेया = 'सव वाक्य साव-धारणम्' प्रथम गणनीया, रमा = उत्कृष्टरूपा एव भूता या उमा ता नमाम ।

पालिका जीववृन्दस्य लये महति कालिका ।
कापि माता सता मान्या भवे जयति विश्वपा ॥३६॥
पाकशासनसम्मान्याऽनन्तदेवमहाधिपा ।
पाश ावद्धपापिपूरा पाथोजाङघ्रिसुपादुका ॥३७॥

खड्गबन्ध । जीववृन्दस्य = प्राणिमात्रस्य पालिका = रक्षिका । महति लये = महाप्रलये कालिका = क्षयकर्त्री । पाकशासनस्य = इन्द्रस्य सम्मान्या, अनन्तदेवाना = असख्याताना सुराणां महाधिपा – अधीश्वरी, पाशेन आबद्ध पापिना पूर = समूहो यया सा । पाथोज = कमल तद्वदङ्घ्रयो सु = शोभने पादुके यस्या सा, विश्व पाति रक्षति सा, सतां मान्या = पूज्या कापि विलक्षणा माता भवे जयति = सर्वोत्कर्षेण वर्त्तते ।

श्रीर्या नित्यं कुञ्जवास भेजे चन्द्रसमानना ।
मनोरमकलाधारा ता नुमो वीतस वित ॥३८॥
सततभ्रान्तकमलो हस्त शान्त्यै भवेद् ध्रुवम् ।
दैत्यवृन्दशिरोहर्त्री स्त्रीवरा नो दिशेद्धितम् ॥३९॥

पर्वतबन्ध । युग्मकम् । या चन्द्रसमानन यस्या सा श्री = राधारूपिणी कुञ्जेपु वसो यस्य त कृष्ण भेजे = सिषेवे । ता मनोरमानां = हृद्यानां चतुष्षष्टिकलानामाधाराम्, महासरस्वतीरूपा वीतसवितो वय नुम । सतत भ्रान्त कमल येन तथाभूतो हस्त ध्रुवं शान्त्यै भवेत् । महालक्ष्म्या इति भाव । स्त्रीषु वरा – श्रेष्ठा दैत्यवृन्दस्य शिरोहर्त्री महाकालीरूपा नोऽस्मभ्य हित दिशेत् = दद्यात् ।

रमा या मादमायामा क्षमा श्यामा दमान्विता ।
उमा प्रेमासमा वामा हे मात । मानमाचर ॥४०॥

हारबन्धोऽयम् । हे मात ! या त्व मादस्य = दर्पस्य, 'मादो मदे' इत्यमर ।

मायायाश्च क्षमा = सहवर्त्तिनी । "अमा सह समीपे च" । रमा = लक्ष्मीरूपा । क्षमा = तद्रूपा, श्यामा = सदैव युवति । रमान्विता, प्रम्णि = प्रेमविषये असमा वामा, नास्ति समस्तुल्यो यस्याः सा वामा उमा = पार्वतीरूपिणी त्वं मानमाचर = विरोहि ।

मुक्तिवर्ये ! मुरारिस्त्रि ! मुक्तोपेतमुखाम्बुजे !
वामावर्येऽन कृष्णास्त्रिप्रिये ! पूतपदाम्बुजे ॥४१॥

चक्रबन्धः । हे मुक्तिवर्ये ! मुक्तिदाने श्रेष्ठे ! मुरारेः स्त्रि ! मुक्तैः श्वेत मुखाम्बुज यस्याः सा तथाभूते ! वामासु वर्ये ! कृष्णश्चासौ अस्त्री = अस्त्रकुशलस्तस्य प्रिये ! पूत = पवित्र पदाम्बुज यस्यास्तथाभूते ! मा = तव शरणागत अव = रक्ष ।

सततं नम्यते या श्रीरस्तु सा नितरं पवा ।
वारेण योगिनीना सहिता मा नितरामसमा ॥४२॥

पद्मबन्धोऽयम् । या श्री सतत नम्यते, सा योगिनीनां वारेण = समूहेन सहिता, मा = माता, नितरा पवा = अत्यन्त पावनी, नितरामसमा च = अत्यन्त समीपवर्त्तिनी चास्तु ।

सैनिक०—एकदा देव ! देशभ्रमणोत्कोऽहं विद्वन्मतद्विकाक्रान्तकथा भगवतस्तारक-तारयितृनिःस्वार्थमुक्तिप्रदस्य विश्वनाथस्य पुरीं गत पूर्णपुरीमन्नपूर्णां शिरसाभि-नन्द्य, जगदघौघनाशनसङ्कल्पायां त्रिभुवनवन्द्याया महेशोत्तमाङ्गसङ्गाया गङ्गाया-मखिल मल विशोध्य, भैरवदण्ड कालभैरवमानम्य, भव विध्याय, इन्दरस्वामी-सुधापतृष्ण- कवितोत्कः कस्यापि कवीन्द्रस्य भवनमगमम् । दृष्टवाँश्च पद्मप्ट-दलाकार यदभितोऽष्टदलाग्रेषु कर्त्तु नामापि न्यस्तमासीत् ।

के० के०—आम्, आम्, भवन्ति तादृशा अपि बन्धाः । तानपि शृणु—

श्रीर्यस्य चञ्चन्मुखचन्द्रदैन्यदा नितान्तरम्या मुदभाजिनी स्त्री ।
धामेतरः स्यान्मुरदैत्यघातुकः स श्रीपतिर्मे मुदमावहत्स्वविः ॥४३॥

पद्म कमलबन्धः । यस्य विष्णोः चञ्चन् = विलसन् मुखचन्द्रस्तेन दैन्यम् = शोकं स्पर्शं = तनूकरोति सा, अत एव नितान्तरम्या, मुदभाजिनी = हर्षप्रिया । रम्यापि यदि दृपं नायत्त तदा तया किम् ? श्री = लक्ष्मी, स्त्री = पत्नी । स मुरनामदैत्यघातिनस्य स

सैनिकः—आश्चर्यम्। शास्त्रिन्! यद्वदसि तस्य चित्रमेव पुरः स्थापयसि। विलक्षणो भवतोऽभ्यासः। देव! किमाख्यं वृत्तमिदम्।

के० के०—इयमुपजातिः। यद्यपीन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्राप्रभृत्योः समानाक्षरयोरुपजातिः प्रयुक्ता प्रसिद्धा च, परं समलयेनैवोच्चार्यमाणानां वंशस्थादीनामिव नवीनोपजातिः। "एवं किलान्यास्वपि मिश्रितासु०—इत्यादिना तस्या विधानात्।

सैनिकः—आ एवम्। गुरो! हारबन्धे नाम समागच्छेत्काम, तदा सुशोभनं स्यात्, यथा कस्याश्चन नायिकाया गलेऽर्पितमिव। यदि सम्भाव्यते तर्हि भवतैव गीतगुणायाः सुन्दर्याः कमलाया एव गलेऽर्प्यताम्।

के० के०—उक्ते हारबन्धे तु नाम न समेष्यति, परं परस्मिन् पद्मगुच्छके हारबन्धे समेष्यति। शृणु, साधयामस्तावत्—

> मिथ्यारम्येऽतिकान्तिप्रतिमसमसमष्टौ मुखे मुद्रमुद्रा,
>
> ल्हेद्राविद्रावहृद्ये! हृतहृदयदरे! दत्सु कर्त्ता कलौ कः।
>
> मन्येऽमन्दं मलेनं विनशनकृतिकृत्ये कृतेशं प्रशान्धा।
>
> शम्भावे! भारभासे! मणिमयमधुरे! धुर्यधुर्ये! स्तवीमि ॥४८॥

कविः कमलां विशिनष्टि हारबन्धेन। अयि! शम्भावे! विलासादिना आनन्ददायिनि! कमले! मिथ्यैव रम्यवद्भासमानेऽस्मिन् जगति, अतिकान्त्या=विपुलप्रभया, प्रतिमा=तुल्या, समा=सर्वा, समष्टिर्यस्य तत् तस्मिन् मुखे। एकतः सौन्दर्यं सर्वं जगत्, एकतस्त्वन्मुखमेकम्, उभयं समानमिति भावः। तादृशे ते मुखे दृष्टे मुदं=हर्षं गच्छति तादृशी मुद्रा भवति। अद्य त्वन्मुद्रा वीक्ष्यैव हृष्या-मोतिभारः। अयि! ल्हेद्राविद्रावहृद्ये! ल्हिनाति=श्लेषयति संसारे स ल्हे-=मोहः, "ल्हिनातेर्डिच्" तं द्राति=कुत्सितां गतिं गमयति सा ल्हेद्रा=मुक्तिस्तत्स्वरूपिणी। तस्या विद्रावेण हृद्ये! मनोरमे! हृतो=गमितः हृदयस्य दरो दुःखं यया तथाभूते! दत्सु विषये कलौ युगे को नाम कर्त्ता सम्भवति, भवत्या दत्ता अप्यतुलसुन्दरा इति भावः। अयि! भारेण भासे! उज्ज्वले! "भारः स्याद्विंशतिस्तुलाः" "तुला स्त्रियां पलशतम्" इत्यमरः। प्रकरणवशादत्र भारः सुवर्णस्यैव ग्राह्यः, तेनैव स्त्रियामलङ्कार-

तथाभूतः, एतेन सौन्दर्यं व्यज्यते, मुरदैत्यघातुकः = मुरहन्ता, एतेन वीरत्वं गम्यते। स श्रीपतिः = विष्णुर्मे = मम वामेतरः = दक्षिणः = अनुकूलः स्यात् = भूयात्।

श्रीशङ्करः कामरिपु शुभस्पृशा नितान्तमव्यान्मखनाशकोऽस्त्री ।
वामेतरः स्यान्मददा कदम्बकसमृद्ध ईड्यो मदमत्तशीर्विः ॥४४॥

कामरिपुः = श्रीशङ्करः, मखनाशकः = दक्षयज्ञविध्वंसक, अस्त्री = अस्त्रचतुरः, शुभस्पृशा नेत्रेण मां नितान्तमव्यात्। मद = हर्षं ददतां कदम्बके = समूहे समृद्धः, मदेन मत्तानां = दसाना शीर्विः = हिंसक ईड्यश्च अस्माकं वामेतरः = दक्षिणः स्याच्च।

श्रीद्रोहिणामाशु विनाशकर्कशा निश्शेषदेशेऽशुभनाशिनी स्त्री।
वामाभिरामाऽऽशु निहन्ति दैत्यकसङ्घं नुमस्तां शुचिना हृतो रविः ॥४५॥

या वामासु = स्त्रीषु, अभिरामा = सुन्दरी, श्रीद्रोहिणां = समृद्धिद्वेषिणां आशु विनाशे कर्कशा, या च निश्शेषदेशे = सर्वत्र, आशु = शीघ्रमुपद्रवसमकालमेव, अशुभनाशिनी = अकल्याणहर्त्री, अथ च दैत्यकसङ्घं निहन्ति। यया च शुचिना = शृङ्गारेण "शृङ्गारः शुचिरुज्ज्वलः" रविः = सूर्योऽपि हृतः = अपतेजाः कृतः। तां नुमः।

श्रीभास्करो दीप्ततनुः समस्तुशा निश्शङ्कमव्याततकान्तिरस्त्री ।
वारेण रश्मेस्तमसा व्यपोहकः समः समेषां तरुणारुणो रविः ॥४६॥

श्रीतुल्यां भास करोति अतएव दीप्ततनुः तता = विस्तृता कान्तिर्यस्य तादृशः, अस्त्री, रश्मेः = किरणस्य, वारेण = समूहेन, तमसां व्यपोहकः = नाशकः तरुणारुणः समेषां = सर्वेषां समः = तुल्यः, रविर्मां निश्शङ्कम् = असंशयम्, अव्यात् = रक्ष्यात्।

श्रीर्यस्य हस्तीशमुखस्य दुःखशा नित्यं गतास्ते शरणं शुभा स्त्री ।
वामः खलाना शरणं नु मेचकसर्गो नुतोऽत्याशयविघ्नजागृविः ॥४७॥

यस्य हस्तीशमुखस्य = गजाननस्य, दुःखं श्यति, तादृशी जगद्दुःखहन्त्री, शुभा – पतिव्रता स्त्री, श्रीः = ऋद्धिसिद्धिरूपिणी, नित्यम् = सततं शरण = सेवित्वेन गता = प्राप्ता आस्ते। स खलानां = दुष्टानां वामः, मेचकसर्गः = चित्रविचित्रावयवः अधस्तान्नरत्वाद्, उपरिष्टाद् गजत्वात्। अत्याशयाः ये विघ्नास्तत्र जागृविः = जागरूकः। मे शरणमस्तु।

सैनिकः—आश्चर्यम्! शास्त्रिन्! यद्ददसि तस्य चित्रमेव पुरः स्थापयसि। विलक्षणो भवतोऽभ्यासः। देव! किमाख्य वृत्तमिदम्!

के० के०—इयमुपजातिः। यद्यपीन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्राप्रभृत्योः समानाक्षरयोरुपजाति प्रयुक्ता प्रसिद्धा च, परं समलयेनैवोच्चार्यमाणाना वरास्यादीनामपि नवीनोपजाति। "एवं किलान्यास्वपि मिश्रितासु०—इत्यादिना तस्या विधानात्।

सैनिकः—आ एवम्। गुरो! हारबन्धे नाम समागच्छेन्नाम, तदा सुशोभनं स्यात्, यथा कस्याश्चन नायिकाया गलेऽर्पितमिव। यदि सम्भाव्यते तर्हि भवत्यैव गीतगुणाया सुन्दर्या कमलाया एव गलेऽर्प्यताम्।

के० के०—उक्ते हारबन्धे तु नाम न समेष्यति, परं परस्मिन् पद्गुच्छके हारबन्धे समेष्यति। शृणु, साधयामस्तावत्—

मिथ्यारम्येऽतिकान्तिप्रतिमसमसमष्टौ मुखे मुद्रमुदा,
लेद्राविद्रावदृष्टे! द्रुतहृदयदरे! दत्सु कर्त्ता कलौ कः।
मन्येऽमन्दं मलेनं विनशनकृतिकृत्ये कृतेशं प्रशान्धा!
शम्भावे! भारभासे! मणिमयमधुरे! धुर्यधुर्ये! रवीमि ॥४८॥

कविः कमला विशिनष्टि हारबन्धेन। अयि! शम्भावे! विलासादिना आनन्ददायिनि! कमले! मिथ्यैव रम्यवद्भासमानेऽस्मिन् जगति, अतिकान्त्या=विपुलप्रभया, प्रतिमा=तुल्या, समा=सर्वा, समष्टिर्यस्य तत् तस्मिन् मुखे। एकत्र सौन्दर्यं सर्वं जगत्, एकतस्त्वन्मुखमेकम्, उभयं समानमिति भावः। तादृशे ते मुखे दृष्टे मुद=हर्षं गच्छति तादृशी मुदा भवति। अद्य त्वन्मुख वीक्ष्यैव हृष्यामीतिभावः। अयि! लेद्राविद्रावदृष्टे! लिनाति=श्लेषयति संसारे स ले-मोहः, "लिनातेर्विच्" स द्राति=कुत्सिता गतिं गमयति या लेद्रा=मुक्तिस्तन्दर्शयित्री। तस्या विद्रावक दृये! मनोले! द्रुतो=गमितः हृदयस्य दरो दुःखं यया तथाभूते! दत्सु नियते कलौ युगे को नाम कर्ता सम्भवति, भवत्या दन्ता अपनुत्सुन्दराः इति भावः। अयि! भारेण भासे! उज्ज्वले! "भारः स्याद्विंशतिस्तुला" "तुला स्त्रियां पलशतम्" इत्यमरः। प्रकृतप्रसङ्गे भारं सुवर्णस्यैव ग्राह्यं, तेनैव स्त्रियानलङ्कार-

निर्माणादिति भावः। तथा मणिमयैः=मणिखचितैराभूषणैर्मधुरे! वे मुख ममन्द=विपुल मलेन–तमोराज प्रति, विनशनकृतिः=विनाशनम्, तत्र कृत्ये कर्मणि कृतेशम्=विहितेश मन्ये–जाने। चन्द्रास्य तमोऽपि त्वन्मुखं नाशयति। त्व प्रकृष्ट श=कल्याण दधाति तादृशी। अयि! धुर्याणां=सौन्दर्ये अग्रगण्याना धुर्ये! प्रथमगणनीये! अह त्वामेव स्तौमि।

सैनिक.—अहह? पण्डितसार्वभौम! कविचक्रवर्त्तिन्! (स्वकीया मुक्तामाला शास्त्रिणो गले पातयन्) धन्योऽसि! शोभन विरचितवानसि। नामातिरिक्त तद्गुणानपि वर्णयन् वैचित्र्यमाश्चर्यञ्च कृतवानसि। (परितो वीक्ष्य) अनुमीयतेऽर्द्धो याम इव गतो यामिन्या।

के०के०। आम्, इयानेव प्रतीयते। चन्दचन्द्रिकया पुनर्दिवाभूता रात्रिः।

सैनिकः—आम्। अन्यत्किमपि श्रावयिष्यते?

के०के०—(वक्षसि दृष्टि क्षिपन्) अये! इय कुतो ग्रथितहरखचन्द्रा देदीप्यमानामलवर्त्तुलमुक्ताऽमूल्या महार्हा माला।

सैनिक—(गदितुमनीहमानोऽपि) गुरुवर! एषा तुच्छोपहृतिः श्रीचरणाना मारादादराद्दाहिता श्रीमत्पादपद्मपरागप्लावितमनोवपुषा दासेन, कवितासक्तचेतोभिर्भवद्भिर्न ध्यानविषयीकृता।

के० के०—अस्तु, शुश्रूषा चेदन्यच्छ्रावयामः। त्वमस्माकमद्य वचोऽर्चनीयोऽतिथि।

सैनिकः—आ दत्तावधानोऽस्मि देव! महतीच्छा।

के०के०—शृणु,

नुमः प्रदात्रीं गुणभूषणा मा नुमः प्रदात्रीं गुणभूषणा माम्।
नुमः प्रदात्रीं गुणभूषणा मां नुमः प्रदात्रीं गुणभूषणा माम् ॥४६॥

सर्वयमकम्। प्रदात्रीं=प्रकर्षेण दानशीलां, गुणा एव भूषणानि यस्याः सा ता मा=लक्ष्मीं नुमः। आसमन्तात् नायते यः स आनः=विष्णु, तस्य स्त्री=आनी तां विष्णुप्रियमित्यर्थः। या प्रदा=प्रकर्षेण द्यति=खण्डयति दारिद्य सा तथाभूता विष्णुपत्नी लक्ष्मी.। गुणानाम्=औदार्यादीनां भूरुत्पत्तिर्यस्याः सा चासौ, उषणा, ओषति=दहति पापकर्त्तन् या सा गुणभूषणा तां मां नुमः। "उष दाहे।" गुणानां भुवो गुणभुवः–

कलाप्रमिणस्थानाः, तेभ्यः सन्वन्ति = ज्ञानं ददति ते गुणभूषणो विद्वांसः "सनोतेविच्" तेषां गुणभूषणां = विदुषां कृते प्रदात्रीं मां = मातर नुमः। गुणसुवमूष्णन्ति ते गुणभूषणः 'ऊष रुजायाम्' कनिन् तेषां गुणभूषणां = गुणम्याननाशकानां प्रदात्रीं = प्रकर्षतयाऽवखण्डनशीलां मां देवीं नुमः।

चिन्तामणिव्रातचितप्रसादसमुज्ज्वलाङ्गा स्तुम ईशवामाम्।
चिन्तामणिव्रातचितप्रसादसमुज्ज्वलाङ्गा स्तुम ईशवामाम् ॥५०॥

समुद्गयमकम्। चिन्तामणिः = अभिलषितवस्तुदं रत्नम्। तस्य व्रातेन = समूहेन चितः = निर्मितो यः प्रसादः = प्रसन्नता तेन समुज्ज्वलान्यङ्गानि यस्याः सा ताम्, ईशवामाम् = शिवस्त्रियं स्तुमः। अन्यत्र—इत्वणः शब्दः, बाहुलकात्सचायच्, स येषामस्ति तेऽणिनः = शाब्दिकाः, तेषां व्रातेन, व्रत प्रतिज्ञा-शास्त्राध्ययनरूपा तदेव व्रात, तेन चितः = उत्पन्नो यः प्रसादो नैर्मल्य तेन समुज्ज्वलां, चिन्तां = स्मृतिरूपाम्, गां = वाणाम्, ईम् = लक्ष्मीं श्यन्ति ते ईशाः प्रधानत्वाद्दैत्यास्तेषां वामा = प्रतिकूलाम् स्तुमः।

सासिः सिसा सासिसासा सासुमूः सेःससाससोः।
सासासो सासुसा साऽऽम ससेंऽसासिः ससाससा ॥५१॥ (कुलकम्)

एकाक्षरः। ससन्ति = चिरनिद्रायां स्वपन्ति मानवा यस्मिन् तत् ससम् = युद्ध तस्मिन्, असिना सह वर्त्तते या सा सासिः = विधृतखड्गा। सिनोति = बध्नाति—पाशादिना स सिः = बन्धकः। 'षिञ् बन्धने' क्विप् "इञ्जापूर्वको विधिरनित्यः" इति गुणाभावः। सि = बन्धक स्यति = नाशयति सा सिसा। "घोऽन्तकर्मणि कान्ताट्टाप्"। सासिसा असिना सह वर्त्तमानान् स्यति सा पूर्ववत्कान्ताट्टाप्। सासुमू = असुभिः सह वर्तन्ते ते सासवः = प्राणिनः ओजस्विनः सैनिका वा, तान् सुवति = कर्मणि प्रेरयति या सा सासुमूः "सू प्रेरणे" क्विप्। सेः—अस्य स्त्री ई = लक्ष्मीः, तया सह वर्त्तते यासा सेः। लक्ष्म्या अभिन्नेति भावः। ससा = स्यन्ति ते साः = राक्षसाः "आतोऽनुपसर्गे कः" तान् स्यति सा, स्यतेर्विच्। असससोः = अस्यन्ति ते असाः = असुरा, अस्यतेः 'पचाद्यच्', तान् सुनोति पीडयति सा असससोः 'षच् अभिषवे' पचाद्यच्। सासासो—ससनं सास—स्वापः 'षस स्वप्ने, घञ्। तम्, असते = गमयति, "अस गतिदीप्त्यादानेषु" कर्मण्यण्, अण्णन्तात् डीप्। जगज्जागरणकर्त्री।

सासुसा—असुभिः सह वर्त्तन्ते ते सासवः = विपुलौजसो दैत्याः, तान् स्यति सा। अंसे = स्कन्धे असिर्यस्याः सा। ससाससा—समानान्स्यन्ति ते ससाः = दैत्याः, एकपितृत्वाद्देवानां दैत्याः समानाः। "समानस्येति"सभावः। तान् अस्यति स्यति च सा, पचाद्यच्—उत्तरत्र कान्ताट्टाप्। सा = गौरी "सा च लक्ष्मीः बुधैः प्रोक्ता गौरी सा स च ईश्वरः"—इत्येकाक्षरकोशः। आस = असुराधिक्षेप। तामुमां नमाम इति परेणान्वयः। कुलकम्।

रजोजर्जजजज्जूराऽजी जजञ्ज्रे रजाऽजरा।
रराजौजोऽजिरे राजेर्जर्जराजे रुजोरुजा ॥५२॥

द्व्यक्षरः। रजसा = रजोगुणेन, जर्जन्ति = भर्त्सयन्ति "जर्ज भर्त्सनादौ, तुदादिः"। तथाभूता ये जजन्तो दैत्ययोद्धारः "जज हिंसादौ" भ्वादिः। तान् जूर्वति सा 'जूरी हिंसायाम्' थजन्ताट्टाप्। अजी, अजस्य = अजन्मनो भगवतः स्त्री। जजञ्ज्रेः—जजतो = युध्यमानान् "जज युद्धे" ज्रिणाति = वयो हापयति सा "ज्रि वयोहानौ विन्"। उरुजा, उरुतो = महत्तो जातापि अजा। अजरा = नियतावस्था। राजेः = समूहस्य, दैत्यानामितिभावः रुजा = पीडा जर्जरस्य = क्षीणतां गतस्य, आजेर्युद्धस्य। ओजोऽजिरे = ओजस्विनि रणाङ्गने रराज = शुशुभे।

योयायियाययीयायाऽरीरं रो रेररेररम्।
ददादद्दा ददादुद्द लाळेला लोललीलला ॥५३॥

एकाक्षरपादः। यौति = मिश्रयति स्वजीवनेऽधर्मं स योः = नीचवृत्तो राक्षसादिः। "यु मिश्रणादौ, विच्" त यातीति यायी = तादृग्विधो रक्ष समूहः यातेर्णिनिः, युक् च, त याति एवम्भूतो यो ययी = मार्गस्तस्मिन् यान यस्याः सा, तेषां विनाशायेतिभावः। या प्रापणे, घन्। अरीरं रोः। अरिं = शत्रुमीरित्वा इति अरीरम्, ईर क्षेपे। शत्रु प्रक्षिप्येत्यर्थः। रोः = शब्दायमाना। अट्टहासादिनेतिभावः। अरेः = शत्रोः समीपे अरं = शीघ्रं रेः = गमनशीला। "रि गतौ" विच्। ददादद्दा—ददते इति ददः, तमाददते या ददादद्दा = दातृणा दात्री। ददादुद्दा—ददान् = दातन् आदुनोति इति ददादुद्, त यति = खण्डयति सा ददादुद्दा। इलायाः = पृथिव्याः, ळेला = दीप्तिः। लोलां लीलां लाति = आदत्ते सा तथाभूता।

लातातललला तालोन्नता नीतोन्नतिं नुताम् ।
हंहो ! हंसासिसंहासां नमामो मामुमाममा ॥५४॥

द्व्यक्षरपादः । लातः = आदत्तो गृहीतो यः अस्य = विष्णोः तलः पादतलमिति भावः । तस्मिन् लला = ईप्सा यस्याः सा ताम् । तालवदुन्नताम् । नुताम् = नमस्कारिणा, नीता उन्नतिर्यया सा ताम् । हंसः असिश्च ताभ्यां समः सहासो यस्याः सा ताम् । अमा = निकट वर्तमानाम्, इमां मा = भगवतीं नमामः ।

नमामहे हेममानभासिता जजता सिभा ।
शिवावाररवावाशि राजिताजिर्जिताजिरा ॥५५॥

प्रतिलोमानुलोमपादः । हेम्ना = सुवर्णेन यो मानः = चित्तसमुन्नतिः, मत्समो नास्तीति विचारः, तेन भासिताम् = उज्ज्वलां नमामहे । किम्भूता सा—शिवानाम् = शृगालीनां वारस्य रवेण वाशते तस्मिन् = युद्धे, जजताम् = युध्यमानानां सिभा = मारयित्री । षिभु हिंसार्थः, पचाद्यचि टाप् । जितमजिरं = रणक्षेत्रं यया सा । राजिता आजिर्यया सा ।

याचते मनसा वाण्या भक्तायादभ्रदापिनी ।
नीपिदाऽभ्रदयाऽऽक्ताभण्यावासा नमतेऽचया ॥५६॥

गतप्रत्यागतम् । मनसा वाण्या वा याचते भक्ताय, अदभ्रं = प्रचुरं दापयति इच्छला । नीपम् = कदम्बं तदस्यास्तीति नीपी = कदम्बप्रेमी भगवान् कृष्णः, तं ददाति प्रेष्ठत्वेन सा । अभ्रदयाक्ता = अभ्रवन्मेघवद्दययाऽऽक्ता = आर्द्रा कोमलमानसा । भण्यो = विद्वांसस्तेषु आवासो यस्याः सा । अचया = नास्ति चयः = वृद्धिर्यस्याः सा । वृद्धिविकारमात्रस्योपलक्षणम् । तामसौ नमते ।

जलजातलसद्धस्तह्यायाः शरणं गतः ।
साशङ्कानां शरण्यायास्तस्याश्चरणनीरजे ॥५७॥

निरोष्ठ्यः । जलजातेन = कमलेन लसन् शोभमानो हस्तो यस्याः सा ह्या च तस्याः । साशङ्कानां शरण्यायाः चरणनीरजे = पादपद्मे शरणं गतोऽस्मि ।

ततश्चाग्रे निस्सरति श्री के० के० शास्त्रिणि अश्रावि "शास्त्रिन् ! शास्त्रिन् ! एहि"—इति ध्वनिः ।

के० के०—आय मि भगवन्! (सैनिकाभिमुखम्) आ शृणु—

तुमो मा सद्बुधान् दृष्ट्वा मूढमानससूत्पलान्।
ददद्वागनुकम्पातो मोदमाना त्वर सुतान् ॥५८॥

अतालव्य। सद्बुधान्—श्रेष्ठकवीन्। मूढम् विचारशून्य मानससूत्पल येषा तान् यथाभूतान् सुतान्—पुनर्निर्विशेषान् कवीन्। दृष्ट्वा ददद्वागनुकम्पात —दीयमान विवेकपूर्णवाणीरूपया दयया, त्वरम्=शीघ्र मोदमानाम्=हृष्यन्तीं मा तुम।

पुनरश्रावि, 'शास्त्रिन् शास्त्रिन्" इति ध्वनि।

के० के०—एमि प्रियवर! लक्ष्मीचन्द्र! एमीत्युत्तीर्य यावद् विवक्षवि तावदेव प्रत्युत्पन्नमदोत्कण्ठोऽपच्छद् विचारचतुर सैनिक —देव! कियद्वयसा महीम महिता देवेन!

के० के०—वीता शरदा विंशतिरागत! मोदेन वयसि सातोपम्।
अधुना धारासारैरविमलकेशा,भजामो माम् ॥५९॥

असयोग। हे आगत! वयसि—अवस्थाया, सातोप—सानन्द, शरदा विंशति वीता—गता। अधुना मोदेन—परमप्रेम्णा धारासारैं, अविमलकेशा—कृष्णकचा मा=भगवतीं भजाम।

पुन श्रुत 'शास्त्रिन् एहि सत्वरम्, व्यत्यति भोजनवेला, शीघ्रतायै प्रेरयन्ति विपश्चित —इति ध्वनि।

के० के०—महोदय, अनुल्लङ्घनीया गुरुजनाज्ञा, भवादृशा समागमोऽप्यान दद। पर समाह्वाननिबन्धो मा विवशयति। समयो लभ्येत चेत्पुनरपि साक्षात्कारेण सम्भाव्या। मन्य भवद्विवेकोऽप्यकारणविलम्बेन सोत्कण्ठा भविष्यन्ति भवदनुचरा। आम्, भवता किं नाम?

सैनिक—(प्रणमन्) देव, चन्द इति।

के० के०—कुशलम्, अस्तु याम

पयाते कवौ तत्यागविधुर प्रदेश मूर्ध्ना सम्भाव्य चन्द्रोऽपि निजमर्व तमारुरोह।

* * *

आसप्ताहं निरन्तरं धारासम्पातः। गहने तमसि दृशौ सूर्याचन्द्रमसौ दृष्टिपथमेव नागच्छताम्। वर्षाः, अन्धतमसम्, दन्ताघट्टनं शीतम्, तीक्ष्णतरो वायुः, गृहेषु नाग्नि-प्रज्वलनम्, कष्टं क्लिन्नम्, आरण्यवच्च अर्द्राः, दीपशलाका शीतला, पथ्यवीथिकासु पङ्क-मवरुद्धम्, भूतानां निस्तनध्वनियुक्तः कटुकर्कशमिश्रितो गगनव्यापी कोलाहलः।

सर्वत्र हाहाकारः प्रवृत्तः। समाचारपत्राणि शीर्षस्थाने [1]जलप्लावस्य दुर्भिक्षस्य च दुःश्राव्यं वृत्तं प्रतिदिनं प्रकाशयामासुः। जनपदेभ्यो नगरेभ्यो नगरप्रतिनिधिभ्यः पौर-प्रतिष्ठानेभ्य[2]स्तारवृत्तान्युपलभ्यानि। [3]विद्युद्वार्तातः सर्वतः पीडितप्रदेशाद् वृत्तं शृण्वन् पण्डितश्चन्द्रो व्यग्रो बभूव।

स प्रभुदेव्या आप्तैर्जनसेवकैश्च सह सरोजिनीं दुर्भिक्षपीडिते प्रान्ते प्रेषयन् निरदिशद् यत् सा तत्र परिस्थितिं परिज्ञाय स्थानीयाधिकारिभिरावश्यकीं सहायतामादाय परिस्थितिं नियमयन्ती मां सूचयेत्। उपादिशच्च "सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः" तत्रास्मिन् क्षेत्रे नवीना, यज्ज्ञानमद्यावधि नाध्ययनेन प्राप्तं तदनुभवेन ज्ञातुं पुनरस्मिन् प्रकारे प्रेषयामि, एष उत्कृष्टोऽवसरः, परमिदं सर्वदा ध्येयं यदस्य सदाचारस्य कर्त्तव्येषु युवयोः प्रवहणं न भवेत्, सफलीभूय समागतयोः स्वागते समुत्सुकोऽहम्। दाम्पत्यं साहचर्यं न प्राकृतिको बाधा निश्चितमपाव निवारयितुं शक्यः" इति।

राजनगरस्य विशालो दुर्गः प्रासादश्च पीडितानामावासाय दत्तः। चन्द्रोपीदयोऽपि यत् प्रजाधनेन निर्मितः प्रासादः प्रजाया एव सम्पत्तिः, प्रजाया दुरवस्थायां प्रासादोपभोगो राजानं निरयगामिनं करोति। चन्द्रः शिविरेष्ववात्सीत्।

कमला समानीतानां दुरवस्थापीडितानां सेवायै [4]आरोग्यशालाप्रबन्धे नियुक्ता, चम्पा च गृहविहीनानामावासाय भोजनप्रबन्धे च। विषमपरिस्थितौ चौर्यलुण्ठनादि-निरोधाय रक्षणे व्यवस्थापने च शक्तिधरो नियोजितः। प्रबलो वायुयानेन जलप्लावनिमग्नं जनपदं द्रष्टुं प्रेषितः। एवं स सर्वानिष्टसुहृदः कर्मणि नियोज्यापि न प्रसीदत्। स स्वयं राष्ट्रं निरीक्षितुकामः [5]पक्षविमानमारुह्य प्रचलितः।

---

१ बाढ़, २ तार से समाचार, ३ ट्रङ्क काल, ४ अस्पताल (Ho pital)। ५ ग्लाइडर (Glider) पुरचाल चलनेवाला हवाई जहाज।

सर्वत्र पृथ्वी जलाप्लुताऽऽसीत्। उन्नतभूभागेष्वभितोजलाः पल्यो ग्रामाः प्रेक्ष्यन्ते स्म, येषामुटजेषु कूजतां मानवानामार्त्तनादः सहृदयानां हृदयं व्यथयति। नराः नार्यः शिशवः जलजीर्णशरीरा नाना बुभुक्षिता अर्द्धमृता मृताश्च वृक्षेष्वारूढाः सन्ति। जलप्लावे महता वेगेन शुष्कतृणौघा खट्वा गावो महिष्योऽश्वा रज्ज्वाश्चोद्यमाना अलुप्तचेतनाः करुणस्वरेण रक्षितुमाह्वयन्तः पतयः स्त्रियः, स्त्रियः पतीन्, मातरः शिशून् परित्यज्य काष्ठेपूपविष्टाः सहैव हिंस्त्रैः सर्पादिभिश्चोपेता अह्वयमाणाः परिस्थित्या मित्रतामापन्नाः क्रन्दन्तः प्रवहन्ति। उल्लोलाः पार्श्वभूमिं भञ्जन्तो वृक्षांश्चात्मसात्कुर्वन्तः शब्दायमाना बधिरयन्तो भीषयमाणाः व्रजन्ति। पुलिनेषु प्रजा एकत्रीभूयापि जलक्षतवपुषः साधनहीना दीना मृत्युमेवापेक्षन्ते। काश्चन पथिषु मुखं व्यादाय अक्षिणी विस्फार्य र विस्मृत्य च शून्यदृष्ट्योऽविश्रान्तभावेनानुद्दे श्य व्रजन्त्योऽवलोक्यन्ते।

चन्द्रस्य मानसमदो विलोक्य नितरां दुःखितम्। स शीघ्रं प्रत्यावर्त्य वायुयानैः सिद्धं भोजनं • वासासि काष्ठं दीपशलाका• शुष्कमन्नं पात्राणि निपातयितुं प्रावध्नात्। जले सहस्रशो नाव उडुपाश्च मुक्ताः।[१] अक्षस्थपरिवहनानां सर्वत्र प्रबन्धो विहितः। सर्वतो[२] भारवाहिमस्तरैः[३] बाष्पशकटीभिर्वायुयानैश्चार्त्ताः समाश्वासु प्रारब्धाः। आरोग्यशालायाः[४] कृतयोग्याश्चिकित्सका मनोयोगेन तेषां सेवायै लग्नाः। आरोग्यशालाया केवलं शय्यासहस्रमासीत्। रुग्णानां सङ्ख्या चासङ्ख्येया। चन्द्रेण अन्तःपुरं रोगिणीनां कृते दत्तम्। कमला च रोगिसपर्यायै नियोजिताऽऽसीदेव। आरोग्यशालाया अन्तःपुरस्य च कोणं कोणं रुग्णैर्व्याप्तम्। [५]विरामदेषु शय्यानियोजिताः।

कमला आमध्याह्नमारोग्यशालायाम्, अपराह्णत आपूर्वरात्रञ्च महिलारोग्यशालायां व्यतियापयति स्म। निशीथे च [६]विमर्द्दप्रकाशिकामादाय पूर्णामारोग्यशालां पश्यन्ती अवर्त्तत। चिकित्सका धात्र्यः परिचारकाः सर्व एव स्वं स्वं कार्यं कौशल्येनाकुर्वन्। प्रतिदिनं सा व्रणिनां व्रणबन्धनं स्वयं चिकित्सकेन वोन्मुच्य व्रणं परिशोध्य निबध्य च तेषां स्वास्थ्याय भोजनाय विश्रमाय निद्रायै च पृच्छन्ती धैर्यमुपदिशन्ती रोरुद्यमानान्

१ अम्बुलेन्स, २ ट्रक, ३ रेलगाड़ी, ४ योग्या = शल्यकर्माभ्यास, ५ वरामदा = विरामो विश्रमोऽवसानं वा। एद्भ्यो विश्रमं गृहाय अवसानं वा ददाति सः। ६ टार्च लाइट।

मृतलुप्तबान्धवान् नष्टधनान् गतगृहान् सान्त्वयन्ती मुग्धस्मितेन स्नेहं प्रसारयन्ती रोगिण आह्लादयत्।

स्त्रीविभागे कारुण्यपूर्णं दृश्यमासीत्। मृतमातृकाणां शिशूनामपरिसङ्ख्येयाः राश्य आसन्। प्रत्येकस्य कृते एका धात्री क्रीडासाधनानि चासन्। अन्तःपुरस्य सर्वा दास्यः शिशुसेवायां गृहीताः। कमला स्वयं मातृहृदयेन तान् लालयति स्म। यदा सा विभागे प्रविशन्त्यासीत्, सर्वे शिशवः "अम्बा आगता" इत्युच्चैर्वदन्तस्तां पर्यगृह्णन्ति स्म।

लुप्तमातापितृपतिपुत्राः स्त्रियोऽनारतमार्त्तं रुदत्यो जीवनं हातुं कृतसङ्कल्पा औषधं पथ्यं भोजनमनश्नत्य उच्छूननयनाः कमलां व्यथयन्त्य आसन्। सा तासां परिचयमधिगत्य जनसेवाविभागतः[1] प्रतिक्षणं दूरालापतो लुप्तसम्बन्धिनां कृते जिज्ञासमाना सान्त्वयन्ती स्वहस्तेनौषधं पथ्यं भोजनं ददती धैर्यमुपदिशन्ती अवर्त्तत। स्त्रीरोगिभिस्तां देवीत्याहुः। परं कमलया भगिनीनिर्विशेषं प्रेक्षणाय प्रेरिताः सौहार्देन भगिनीशब्देनोल्लासयामासुः। सर्वे एव रोगिणो व्यथासमये तां समीपमेव ददृशुः।

उल्लाघानां पुरुषाणां महिलानां च कृते विविधाः कुटीरोद्योगाः स्थापिताः। शिक्षार्थं रुचिमन्वीक्ष्य शिक्षका नियुक्ताः। शिशवः शिशुशालायां प्रेषिताः। सर्वेषां नामानि चित्राणि परिचयेन सह वृत्तपत्रेषु प्रकाशितानि।

चन्द्रः प्रतिदिनं जलाप्लुतक्षेत्रं [2]प्लवविमानेन स्वयमपश्यत्। एकदा स जलप्लुतं प्रदेशमवेक्ष्य प्रत्यावर्त्तमान एकस्मिन् पुलिने शिबिरसन्निवेशमपश्यत्। स्थानमिदं राजनगरतो नातिविदूरमासीत्। सन्निवेशश्च सुभगः सुदक्षैः सैनिकैः सुरक्षितो व्यवस्थितो जलप्लावेनाप्रभावितः शान्तश्चासीत्।

एका हीरकमालेव भास्वरा स्वर्णरागा रमणी नद्यास्तटे सान्ध्यविषये अभिषुर्वसुर-विशाऽऽसीत्। शोणितशोणितौ तस्याः करौ पद्माञ्जली आस्ताम्। सान्ध्यवेलोऽरुणिमा तस्या वर्तुलोपात्तकपोलदेशनिपत्य तां सेवयति तस्याश्छविं द्विगुणयति। मुग्धा यदा कदा कपोलयोरापततः केशान् मृदुलमृदुलाभिस्तनुतनुभिः कराङ्गुलीभिरपसारयति, स्वमुखं चन्द्रमिव विशदयति।

मन्ये विनीता वनिता स्थिताऽऽसीत्तस्मादनतिदूरे एवापरं पुलिनमशोभत।

---

[1] पुच्छ्य। [2] प्लवप्लव—पुनयाप चलनेवाला हवाई जहाज।

पुलिनं जलक्षालनप्रसन्नपत्रपुष्पैः क्षुपैः पूर्णमासीत्। उल्लासः, शान्तिः, सौन्दर्यम्, प्रकृतेः सुन्दरतमं रूपं तत्रासीत्। जगतश्चिन्ता, तृष्णा, मात्सर्यमभिशापः, आक्रोशः जनरवस्तत्र सर्वथा नासीत्। विविधरागाः पतङ्गिका अलिसपक्षरवावलिं घोषयन्त्यः क्रीडन्त्य आसन्।

अभितः क्षुद्रा नद्यो मध्यकृशा मुग्धा इव प्रवहन्त्य आसन्। प्रचण्डधारासम्पाताद्विरता प्रकृतिः सम्प्रति शान्ता भवन्ती नीरवता शनैश्शनैः प्रसारयन्ती मलयानिलेन निर्जनशान्तिं लालयन्त्यासीत्। सर्वतो जलक्षालनविगतमला नयनहारिणी विपिनविभूतिर्मानसं हरति स्म।

सन्ध्यासमय आसीत्। प्रदेशशान्ततां विचार्य तत्रैव सन्ध्योपासना विधित्सुश्चन्द्रः सन्निवेशपुलिने स्थानाल्पतया अवतरणासौकर्येण पार्श्वपुलिने फक्कविमानमवतरणायादिशत्, नदीशिलातले उपविश्य मुखं प्रक्षाल्याचम्य प्राणानायम्य सान्ध्यविधिप्रवणोऽभूत्।

आकाशबिम्बं स्वच्छनदीजले दृश्यते स्म। चन्द्रो विचारयामास, महद्विशालं वर्तते एतदाकाशम्। अहह! हिमगिरिसदृशा दृशामनवधयोऽयुतशो वारिधराः सूर्यसदृशा ग्रहाश्चास्मिन् सावकाशं चकासति। विज्ञायते सूर्यः [1]सपादनवकोटिक्रोशमितं दूरमस्ति। अस्माकं पादाङ्गुल्यां कण्टकेन विद्धायां यावता शैघ्र्येण मस्तिष्के ज्ञानं भवति; तथैव कल्प्यतां यद्यस्माकमङ्गुली सूर्यसामीप्यमेत्य तत्तापाद्दहेत्, तदा तद्दहनं पञ्चदशवर्षैरस्माभिर्ज्ञातं भवेत्, इयान् सूर्योऽस्मत्तो विदूरोऽस्ति। अहह! एतादृशा अनन्तसङ्ख्याः ग्रहा आकाशाजिरे चरन्ति, ये विदूरत्वादस्माभिर्लघुलघवः प्रतीयन्ते।

अकल्पमानकल्पना नीहारिकाश्चास्मिन्ननन्तब्रह्माण्डेऽनन्ता असङ्ख्येयाश्च सन्ति, विदूराश्चैतयो यत्—यः प्रकाशः प्रतिक्षण[2] षडशीतिसहस्राधिकैकलक्षक्रोशमितमध्वानमतिक्रामति स प्रकाशस्तत्र निशल्लक्षवर्षैर्व्रजेत्। विज्ञायते एषा भूमिरपि यस्यां सचराचरं जगदिदं वसति कदापि सूर्यस्य भागो ज्वलदङ्गारप्रतिम आसीत्। परं प्रकृत्या बहिः शीतलीभूय कस्मिन्‌ काले सूर्यगोलकान्निःसृता, अद्यापि तमभितो भ्रमति। एष चन्द्रोऽपि [3]एकाब्जवर्षपूर्वं पृथिव्याः सूच्याकृतिर्भाग आसीत्। सोऽयमेकदा पृथ्वीतो भिन्नः। तेन भूमौ [4]सप्तविंशतिक्रोशनिम्नः खातः समजनि। स एव समुद्र उच्यते।

१ सवा नौ करोड़ मील। २ प्रकाश का वेग १ मिनट में १८६००० मील है। क्षण = मिनट। ३ एक अरब। ४, २७ मील गहरा। सभी जगह क्रोशसे मीलही मान्य है।

एषा भूमिः—अष्टसहस्रक्रोशमिता महती स्थली—आकाशे प्रचण्डगत्या सततमटन्ती वर्तते। पूर्वं यदा चन्द्रो पृथिव्या सहैवासीदितस्या गतिस्तीव्राऽऽसीत्, तदाऽहोरात्रं क्षणेव भवदासीत्, परन्तु अधुनाऽस्या गतिर्मन्दा जाता, प्रतिहोरं[1] केवलं षट्शतोत्तर-षट्षष्टिसहस्रक्रोशमानम्। अहह! यामिमां पृथ्वीं महतीं कल्पयामः, सैषा आकाशीयताराणु कणवत् प्रतीयते। ज्येष्ठा नाम नक्षत्रमहो! इयद्विशाल वर्तते, यत्तस्मिन् सप्त-[2]शङ्कुमिताः पृथ्व्यो मातुं शक्नुवन्ति। हन्त! एवं विधान्याश्चर्यवन्ति अनन्तानि नक्षत्राणि आकाशेऽत्र भ्राजन्ते। भुवनक्षत्रमस्मतः पञ्चाशन्महापद्माधिकद्विशङ्कुक्रोशमितं[3] विदूरमस्ति। हन्त! कीदृशी विलक्षणाऽनन्तता महाकाशस्य!

चन्द्रे कलङ्का भवन्तीति शास्त्रं परिचाययति, परन्तु विज्ञायते तेऽमी नद्यो भूधराश्च सन्ति—इति सर्वो विजानाति, परन्तु हन्त! सूर्येऽपि—अनिर्वचनीयद्रव्यरूपे भगवति भास्वत्यपि इयन्तो महान्तोऽस्थिराः कलङ्काः भवन्ति, येषु पृथ्वी सावकाशा समागच्छेत्। यदि सूर्यो जगद्विधाता सूर्यः सत्ताक्षेमधावकः सूर्यः, निरपेक्षतपस्वी, अवाञ्छितार्थदः सूर्यो न भवेत्, नोदियात्, यद्यपि नेदं सम्भाव्यते, तदा दिनद्वयेन वायुमण्डलस्य जलवाष्पं हिमीभूय समस्तं स्थावरजङ्गमात्मकं जगदेव नाशयेदिति।

सूर्यः पश्चिमाशाङ्के स्वमार्पयत्। शब्दान्तरेण पृथ्वी पश्चिमाशामुररीकृत्य प्रासरत्। क्षणं तमस्तनम्, परं सद्य एव पूर्वाशाङ्कं शशाङ्कोऽङ्कयामास। शशिसम्भवा विभा बभौ। भगवतः सुधाकरस्य ज्योत्स्ना [4]विद्युज्जनकस्याऽऽलोकेन सम्मिल्य रासक्रीडया क्रीडन्ति स्म।

प्रदोषोपस्थानविरता रतिप्रतीका रमणी पूर्णेन्दुं प्रणम्य नद्यै च पुष्पाञ्जलिं समर्प्य भूचन्द्रमिव चन्द्रं स्वाञ्जलिस्थं विधाय सन्देहविधौ सत्यसाक्षिणा निर्मलेन चेतसा क्षणं विचिन्त्य एकाकिन्येव नावमारुह्याऽभिचन्द्रं प्रतस्थे।

पुलिनान्तराल स्वल्पमेवासीत्, तरणितोषा रमणी पुलिनप्रदेशं प्राविशत्। विविधरागाः कुसुमानन्दस्वस्या अतान्यादिकम्प धन्या अभवन्, यासां सत्कारे विलक्षणं [5]संगीत-

१ हर घन्टेमें ६६६०० मील। २ सात नील ७००,००,००, ००,००,००० पृथ्वी समा सकती है। ३ दो नील पचास खरब मील, २,५०,००,००, ००,००,०००।
४ Electric generater. ५ आरकेष्ट्रा।

मासीत्। नीरसं शुष्कं वायुमण्डलं वासन्तिकेनोन्मादकेन सौरभेणेव पुष्पपरागपरिमलेन प्रकम्पितम्। ब्राह्ममौहूर्तिकं तमोऽपहन्तुमुषःप्रभवा विभेव सा शनैश्शनैः पुलिनमारोहत्। तस्याः मुखं पौर्णिमचन्द्रवदाह्लादकं साभव्रासीत्। यं ग्रसितुकामा सर्पिणीव वेणी—यस्यां कुन्दसुमनसश्चन्द्रं रक्षितुं वेणीसर्पिणीमाक्रमणेच्छयाऽऽश्लिष्टास्तारा इवैक्ष्यन्त—आपार्ष्णि लम्बमानाऽऽसीत्। साक्षाल्लक्ष्मीरिव भासमाना सा सम्मुखीभूय चन्द्रं प्राणमत्।

चन्द्रेणैतादृशी साधनसम्पन्ना सम्पन्नसौन्दर्या रमणी अद्यावधि नेक्षिताऽऽसीत्। तस्याः मुखमण्डलेन सा परिचितेव कदाचिद् दृष्टेव च प्रतीयते स्म। विस्मितः स स्मितावलोकनेन तामुदतरत्।

अथ सा "देव! प्रमदाजनस्य धाष्टर्यमक्षम्यम्, परं विपुलं क्लिष्टस्य धाष्टर्यं क्षम्यं भवति गुणज्ञानाम्। अतोऽहं काप्यपरिचिता काँश्चिदपृष्टपूर्वान् प्रश्नान् पिपृच्छिषामि, दयनीयाहं दीनवत्सलैर्दीना" इति सप्रश्रयमवादीत्।

तस्याः स्वरे सङ्गीतवत् सुकोमलता माधुर्य्यञ्चासीत् सौन्दर्य्ये च कवित्वम्। उत्तेजनावशात्तस्या नेत्राभ्यां विचित्रं ज्योतिर्योतमानम्, ओष्ठौ स्फुरन्तौ शरीरञ्च रोमाञ्चितमासीत्। तस्याः स्फुटं विकसितयोश्चक्षुषोर्मादकता, अरुणकपोलयोश्चोल्लास आसीत्। सौन्दर्यं तस्याः शरीरसौष्ठवेऽट्टहासं कुर्वदासीत्। साधनायास्तेजोमय्याऽऽभया सा तपस्विनीव प्रतीयते स्म।

अथ चन्द्रस्तस्याः निःसीमं साहसम्, उत्कृष्टां वीरतां साधनाञ्च, अनितरसाधारणीं प्रतिभाम्, अलौकिकं सौन्दर्यम्, पार्ष्णिस्पर्शिनः सुचिक्कणान् कलावलयितान् कृष्णोज्ज्वलान् केशान्, सुभगान्यङ्गानि विलोकयंश्चकितस्वर्कतर्काकुलो नेयं लज्जावनता भयविह्वला सुरसुन्दरीव भव्यदर्शना दुश्चरित्रा भवितुं शक्नोतीति विचारयन्नवोचत्—

चन्द्रः—आम्, स्वैरं स्वैरमभिधीयताम्। अभिधास्ये अभिधेयम्।

रमणी॰—कदापि देवः स्वपवित्रपादविक्षेपणेन किमपि पाषाणीभूतं पुरमलञ्चकार?

चन्द्रः—आम्, एकदा

रमणी॰—कतीनां वर्षाणां वार्त्ता

चन्द्र॰—युगादधिकम्भवेत्

रमणी॰—सत्यम्, तत्र भवान् कति दिनान्यवात्सीत् ?

"मासद्वयम्भवेत् ।"

"राज्ञोऽन्तःपुरमप्यवालोकि ?"

"आं पाषाणपुरस्य पाषाणीभूतमन्तःपुरमवालोकि ।"

"किं किमवालोकि तत्र ?"

"विपुलमवालोकि, भवत्यप्यवालोकि ।"

"अन्यदपि किमपि ?"—हृष्टा रमणी प्राह ।"

"सिंहाखेटप्रवृत्ताया भवत्याः साहाय्यमकारि ।"

"नातः परं श्रोतव्यमस्ति देव ! '—प्रफुल्लनयननीरजनीरेण पादाभ्यर्चनां रचयन्ती सगद्गदमाह अन्तर्निहितहर्षभरभाराक्रमणरकलुषी रमणी "देव, साहं मन्दभाग्या राजकुमार्यस्मि, या परातिहारिणा द्वारिणा हरिणाक्षेण देवेन पाषाणपुरे प्रेक्षिता रक्षितानुकम्पिता च । दुर्विदग्धदुर्दैवः किमिव विधित्सतीति न कश्चन प्रभुर्ज्ञातुम् । क्षत्रियबालिकासुलभा ममेयं प्रतिज्ञाऽऽसीद् यदहं गुणाभिलषितं पुमांसं वरिष्ये ।" अहञ्च रमणी रणप्रिया । न कोऽपि मामतोषयत् । आखेटसमये देवस्य विलक्षणप्रतिभया मया चाकृष्य कृतसङ्कल्पा परं प्रक्षीणसौभाग्या जगदितमहित देवं वीक्ष्यापि स्वाभिप्रायं प्रवक्तुमसमर्थाऽस्य पर्यन्तं हतावैवासम् । यतः प्रचुरपर्यालोचनेनापि श्रीमन्तो न लब्धाः । अहं देव, देवाराधनरतया विविधव्रतकृशाङ्गी यमनियमनिरता चिन्तावदद्यापि भवतोऽन्वेषणाय निष्क्रान्ता परिमितवेनासहाया । अतैलं ज्वलतोऽवर्त्तिकस्य दीपस्येव मम दशासीत् । मम समीपे श्रीमतामभिज्ञानम्, नाम, कुलम्, निवासः, पदमित्यादि किमपि नासीदन्वेषणायापारभूतम् । ईश्वरो जानाति कानि कानि नगराण्यद्राक्षम्, वनान्यविशम्, विचित्रावासेषु न्यवसम्, सत्यि दस्तरं भयावहस्थानेषु चौरलुण्ठकवृन्देऽगमं परन्तु हन्त ! भवन्तं मया भास्वन्तं नालम्भि । साधनानिरहितः कथं प्राप्नुयान्न नवोऽभीप्सितम् ।

ततो विमलपुरवासिना जनेन केनापि किमपि बोधिता कथमपीदन्तं महान्तमध्वानमतिक्रम्य गतासे राजनगरभूमिं समायाता । अन्तःप्रवेशसङ्कुचिता वने वासमुचितं मन्वाना भवन्नेत्ररोचनोपायमपेक्षमाणाऽऽसम् । पत्लवं भगवानिन्द्रः संवर्त्तकैरिव मेघैः प्रचण्डकोपो मामत्रैव न्यरुणत् । भगवत्कृपया मम पार्श्वे सर्वा सामग्री आसीत्तः

किमपि कष्टं नाभूत्। अथ भगवानयममृतमरीचिर्मज्जीवनेऽपि सुधाविप्रुषो न्यसेचयत्, यदद पवित्रचरित्रेण मनसा प्रेर्यमाणाऽऽगच्छदेवमप्यगमम्। भवत्यधिगते मम सर्वाश्चिन्ता व्यपगताः। यात्रायामसङ्ख्येयैः कष्टैराशङ्काभिश्च व्याकुलमानसाऽऽसम्, परमधुना आशङ्का, चिन्ता, व्याकुलता च युगपदेव व्यपगता। अधुनाऽऽदिश्यतां कुटिलकालक्लिश्यमानायै दास्यै कथनादेशः, क्षम्यताञ्च प्रकृष्टं क्लिष्टस्य प्रमदाजनस्य प्राज्ञोद्वेगकरी प्रथमा धृष्टता" इति।

सर्वतः प्रसरति प्राज्यपेय्ये सौरभे, ईषत्कम्पने मलयविकम्पने, उज्ज्वलायां चन्द्रिकायाम्, स्मयमानायां तारावल्याम्, विजने प्रदेशे, नैश्यां स्वप्नतायाम्, निर्मायगिरा विवक्षनवचनेन प्रकृतिं प्रसादयता प्रसन्नेन मुखेन, मनः प्रसादयन्त्यामनुपमेयसुन्दर्यां सोपक्रमं त्रिवक्रुरपि विजयाजित इव स्खलन् जरन्नैयायिक इव समदमवादीत्—

विकसितयौवनारामे! रामे! भवादृशीभिर्दर्शीतादितमानसोन्माथिमन्मथाभिः, रणप्रियाभिः प्रतिज्ञातानि वैफल्यमाप्नुवन्ति कार्याणि नाम? परमहं विवाहितः परिस्थितिविवशान्मम तिस्रः स्त्रियः। अहं राष्ट्रे बहुपत्नीकत्वं व्यपाकर्तुं सज्जः, कथमेतदपकृत्य स्वयमेव कर्तुं शक्नोमि। परतश्च मम स्त्रियो लोककल्याणे लग्नाः। सांसारिकभोगान् विहाय मदाज्ञया कर्माणि कुर्वतीनां तासां कामिनीसुलभा भोगाः सर्वथाऽपगताः। मम प्रासादः साधनास्थलम्, न भोगभूमिः। त्वञ्च त्रैलोक्यसुन्दरी कथमपि न तत्र मनोऽभिलषितान् भोगानवाप्स्यसीत्येष विचार्यो विषयः, अहं विचार्य कथयिष्यामि।

रमणी०। सत्यम्, विचार्य जलं पाययितुर्जलस्य दानेऽदाने वा नान्तरम्। परं पिपासाक्षामगलस्य जीवनमरणयोः प्रश्नः। अथ च दोषा देव! भावनाश्रयाः। बहुपत्नीकत्वं दोषोऽपि सद्भावनावशाद् गुणः। साधनास्थले बहवः शिष्याः समाने गुरौ युगपदेव साधनां कर्तुं शक्ताः। मात्सर्यं भोगभूमावेव भवति, न साधनास्थले।

चन्द्रः०। अनुरागाभिलाषिणो विरक्तेन सहाजीवनं सङ्गो न सुखावहः। भोगाभिलाषिणः सहयोगिनो भोगिन एव युक्ताः।

रमणी०। नैवम्, स्त्रियो हि द्रवधातुसमाः, परिस्थित्यनुसारं भवितुं शक्ताः। अहं तिसृणामेव भगिनीनां दास्यमाचरन्ती श्रीमन्तमाराधयिष्यामि, नो चेदत्रैवामरणं स्थित्वा दूरतः श्रीमन्तमर्चयिष्यामि, 'कन्या सकृत् प्रदीयते' देव!।

चन्द्रस्तस्या रणनैपुण्य साहस सौन्दर्य स्वस्मिन् भावमार्यनारीसस्कृतिञ्च विचार्य मदद्यासीत्तदैव यानचालकोऽसूचयद् यद्राजनगरस्य समीपे सेतुभङ्गाद् वाष्पशकटी दुर्घटनाग्रस्तेति वितारवृत्तोद्घोषेणासूचि—इति।

"हन्त ! दौर्भाग्य राष्ट्रस्य, अस्तु, यान सज्जय। (अभिरमणि) अस्तु, जात तज्जातम्। आप्रियमेलन प्रेयसीना दुःखम्। पुलिन न सुखावहम्। भवती प्रासादे विश्राम्यतु, आज्ञापयतु चानुचरान् दुर्गमागन्तुम्। आरोह यानम्, व्यत्येति वेला। किं नाम देव्या ?"

'दास्या नाम सूर्यप्रभा"।

चन्द्रो वितारवृत्तोद्घोपकेण सैनिकानौपचारिकयूथञ्च[1] घटनास्थल गन्तुमादिश्य स्वयमपि सूर्यप्रभया सह जगाम। सेतुर्नवीन आसीत्, कथ स भग्न इत्यत्र तस्य विचार आसीत्।

वाष्पशकट्यां प्रतिहोर चत्वारिंशत्क्रोशवेगेन धावन्त्यां सेतोर्लौहवलभी[2] अकस्माद् भिन्ना। वाष्पशक्तियन्त्र[3] सह चतुर्भि[4] पथिकावासैर्नद्यामपतत्। असङ्ख्या नरा नार्य शिशव सह विपुलेन धनेन नद्या निमग्ना येषा चिह्नमेव नावलोक्यते स्म। शेषा दशावाधा उद्वृत्ता[5] अन्योऽन्य प्रविष्टा। मानवा पिच्चिता, अर्द्ध मृता, तृतीयांशा आहता चतुर्थांशा साधारणमाहता। नदीनिमग्नानां कृते उत्थापका[6] नियुक्ता, मृतानामाहतानाञ्च प्राथमिकमुपचार कृत्वा अस्वस्थपरिवहनेन आरोग्यशालाया प्रबन्धो विहित। यथाज्ञान परिचया पत्रेषु प्रकाशिता। घटनास्थले सैनिका आयोजिता। चन्द्रस्य चतो दुर्घटनापीडितान् विलोक्यावसन्नम्।

* * *

"वृष्टिर्विरता, पर प्रवाहेषु जल प्रतिदिनमेधमान वर्त्तते" इति चरेण चन्द्रो न्यवदि।

चन्द्रेण जलप्लावस्य वाष्पशकटीदुर्घटनायाश्च कारण ज्ञातुमनुसन्धानमण्डल[7] नियोजितम्, आज्ञप्तञ्च पक्षाभ्यन्तरे विवरणदानाय।

* * *

प्राभातिको खगो वातमारुह्य कर्णशष्कुलीं प्रविश्य मन आह्लादयति स्म। चेतो-

---

१ प्राथमिक चिकित्सा करनेवाले। २ लोहे का गाटर। ३ भाप से शक्ति उत्पन्न-करनेवाला रेल्व इञ्जिन। ४ डिब्बे। ५ उलट गये। ६ क्रेन। ७ Investigation Commisson

विकर्पिता नारवता प्रस्तुताऽऽस्थाद्, यस्या व नारणरणका उल्लास स्फूर्ति चेतना जनयन्त्य आसन्। क्वचन क्वचन ग्राम्ये मुहूर्ते विदुषा विरला वाचो भगवद्भजन सारल्येन वर्णयन्त्य श्रूयन्त स्म। अकस्मात् विमानवृत्तनर्षपत्रे यद् राजनगरस्य पश्चिमोत्तरस्या दिशि गव्यूतिदशकान्तराले वातहस[1] क्षतिमस्त। चन्द्र उत्थितनान एवैतच्छ्रुत्वान्। प्रवलोऽमुना वायुयानेन जलाप्लुत क्षेत्र प्रेक्षितु प्रेषित आसीत्। चन्द्रश्चिन्तयामास, कथमद कुमुदिन्या अग्रे स्थास्यामि। हन्त! हवा कुमुदिनी! दुर्भिक्षग्रस्ते प्रदेशे सोत्साह जनान् सेवमाना सा यदद श्रोष्यति हन्त! धात! किं चिकीर्षसि? प्रबल! सत्य सफल त जीवनम्।

घटनास्थल प्रविशुकामो मरुत्तरेण सत्वर गतवान् स। औपचारिका आसन्नेव। योजनविशाले क्षेत्रे वायुयानस्य तस्मिन् स्थितानाञ्च अवयवा अपरिचीयमाना प्रक्षिप्ता आसन्। एकत्र पिण्डित ज्वालाभर्जित वायुयानम्। अग्रिमभागो वायुयाने नासीत्। अग्रातसन्तोषो वायुयानावतरणभूमिं[2] गतोऽजिज्ञासत उत्तरितश्च "वातहसे चालकद्वयम्, द्वौ च सनिकाववास्ताम्, प्रबन्धो व्यवस्थायै तत्र स्थित"।

सन्तोषस्य निश्वासो निरगात्। मनुष्य प्रकृतिं जतु कृतप्रयत्न। जले स्थले नभसि निर्बाधगमन स कृतकृत्यमात्मान मनुते। पर प्रकृतिस्तस्याल्पज्ञता विचिन्त्याट्टहास कुरुते। किमेष एव प्रकृतिजय? मानव कथ भ्रान्त? अल्पेऽपि ज्ञाने कीदृशी तस्य महान्धता? इति स विचारयामास।

* * *

माननीया महाराज्ञी सरोजिनी पत्र लिखितुमादिशति

—कुमुदिनी

विजयता भारतीया संस्कृति।

अह जविना[3] जापेन व्यवस्था सम्पादयन्ती प्रान्तममु पर्यटामि। प्रान्ते प्रतिशत । सर्वत्र दुर्भिक्षम्। ग्रामेषु बहवो मृता, केचन शमीपत्राणि शमीत्वक्च न्ति। अवरहिता अपि नाम याचितु पारयन्ति मनस्विनो ग्राम्याः।

[1] वायुयान का नाम। [2] एरोड्रम। [3] जावयति-युद्धादिषु शीघ्र सुदूर प्रापणेव स जीप पृषोदरादित्वात्साधु (जीप गाडी)।

रञ्जनाय हास्यनिर्भरैः सुराचषकैर्मृदङ्गतालैस्तन्त्रीरणरणकैर्नूपुरशिञ्जितैः सह पतिव्रतानां पातिव्रत्यं कुमारीणां कौमारं निर्दयं निर्घृणं निर्लज्जं राजतताम्रमुद्राभिः साट्टहासं लुण्ठन्तो विहसन्ति। येषां विशालाट्टालिकासु भोगा विलासैः सह रत्नजटितस्वर्णचषकैः सुरां निपीय नृत्यन्ति। यत्र कुलाङ्गनानां पतनं वीक्ष्य गर्वितमुख्यश्चकितहरिणीप्रेक्षणेन विमोहितसधनाः सुलोचना मन्दोदर्यौ वारवध्वः स्मयमाना मोदमग्ना नग्ना इवान्वर्थैर्विविधरागैरम्बरैर्भूषिताः पतङ्गिका इव मनो रञ्जयन्ति। यत्र भृत्याः श्वानश्चाप्यजीर्णग्रस्ता वम्यतिसारान् भजन्तश्चिकित्सालयेषु प्रलम्बां पङ्क्तिं [1]विरचयन्ति।

प्रजाः स्वभाग्यं धिक्कुर्वत्यः स्वाधिकारं स्वभाग स्वार्जितं द्रव्यं परैरुपभुज्यमानं विनाश्यमानञ्च वीक्ष्यापि न किमपि कुर्वत्यो वराक्योऽकर्मण्याः कायराः[2] कष्टानि जोषं सहन्ते।

धनिनो भृत्यानुपदिशन्ति—भगवता परब्रह्मावतारेण कृष्णेनोद्घोषि यत् 'कर्त्तुःकर्मण्येवाधिकारो न फले' अतोऽहर्निशं श्राम्यद्भिः फलभूतस्य वेतनस्याकाङ्क्षैव महत् पातकम्। अस्माभिरास्तिकैर्नैवंविधं किमपि कर्त्तव्यं येन भगवद्वाक्यैर्विरोधः समापतेद् इति। हन्त ? कीदृशः स्वार्थान्धः संसारः ?

शासनेन [3]आशनस्य प्रबन्धो विहितः। अन्नरोद्धा सापराधो घोषितः। कोऽपि पक्षव्यवहार्याद्अधिकमन्नं गृहे विपणौ वा रक्षितुं नाधिकृतः। जनद्वेषिणो व्यापारिणोऽपारमन्नं निरुन्धानाः सन्ति व्यसनोपजीविनः क्रव्यादाः। ते परिवारसदसः सर्वेषां सदस्यानां नाम्ना पार्थक्येन परिवारान् प्रकल्प्यान्नं न्यरुधन् कूटनिपुणाः। [4]पृष्ठविपणिः सर्वविधान्नेन परिपूर्णाऽस्ति, अग्रविपणौ चोद्वृत्ततूलासनः[5] मक्षिका मारयन्नेकलः पणो। ग्राहकान् स कथयति, "भवतां दुखं पश्यन्नह नितरां दुःखी, परं विवशोऽस्मि, विक्रेतुं मम समीपे किमपि नास्ति, शिशुभ्यो द्विमणमितमन्नं मुद्राशतेनानीतवानस्मि तदर्द्धमगृहीतलाभो दातुं शक्नोमि।"

आचारे व्यवहारे च सर्वत्र विशेषतो नगरेषु च्छलं दोषः समीक्ष्यते। पीडितमानवानां कृते पौरैः समितयो योजिताः। शतशो युवान आर्त्तत्राणाय सज्जा अभूवन्। ते रथ्यासु दुर्भिक्षपीडितानां सेवायै रक्षायै अन्नं वासांसि धनञ्चायाचन्। जनता मुक्तहस्तेन ददौ।

---

१ क्यू। २ काये रमन्ते ते, औणादिको डः। ३ आ = ईषद् अशनम् = आशनम्। स्वल्पं परिमितमाशनम् — राशन। ४ चोरबाजार। ५ गद्दी उलटाकर।

व्यधारीत्—राज्यस्य दशकोटिमुद्राणां वर्षचतुष्टयस्य च व्ययेन निर्मितं [1]आनन्दबन्धो भग्न। तद्बन्धविघातेनैव सर्वो जनपदो जलप्लावे निमग्न। बन्धनिर्माणे नियुक्तो [2]मृत्स्नास्थाने सिकतामुपयोज्य मृत्स्नाश्च विक्रीय पुनाय [3]पत्रनिर्माणशाला श्यालाय [4]वस्त्रनिर्माणशालाश्चाकारयत्। स एव जनपदस्य योगक्षेमाय रचित आनन्दबन्धो जलबलेन भग्नो जनपद जलेनाप्लावयत्। वाष्पशकट्या सेतौ च राज्यतो दत्तानां लौहवलभीनां स्थाने जीर्णा लौहवलभ्यो रागेण रक्ता प्रयुक्ता नवीनाश्चान्यत्र विक्रीता। जीर्णाश्च निरन्तरप्रवर्षणेन[5] काटयुजो भग्ना, इति।

"आश्चर्यम्॥" चन्द्रश्चिन्तयामास "जन स्वस्य लाभलोभेन विश्वं विहन्तुमुद्युक्त। लौहवलभीविक्रयेण सहस्रं द्विसहस्रं तस्य लाभो भूतो भवेत्, विनाशश्च कोटिमुद्राणां सहस्राणां मानवानाम्। अयमर्थविकार, संग्रहविकार, स्वार्थविकारो जीर्णा लौहवलभीमुपयुनक्ति मृत्स्नास्थाने सिकताश्च। हन्त॥ विलक्षणोऽयं विकार। विलक्षणयैव चास्य चिकित्सया भवितव्यम्।" चन्द्रो[6]ऽधिकोषमाज्ञापयामास यदमूषां धनमनुसन्धातव्यम्, अनुसन्धानं यावत् बन्धसेतुनियुक्ता ससम्बन्धिनो [7]राज्याभिरक्षाया गृहीता स्यु"इति।

* * *

आग्नेयकिरणैरुरु तापितनिरपराधससार परितापपापेनेव पाथोधौ पतित दिनद्युमणि वीक्ष्य नैशो द्युमणिः समस्तदिनाकुलप्राणिन सान्त्वयन्निव, नक्षत्रमुक्तानां विशदविमलविशालमुज्ज्वलं हार परिधाय द्युमद्व्याजेन विहसन् चर्विततताम्बूलमिवाताम्र गण्डूषेनेव रश्मिजालेन विशोध्य मुख प्रकटितोज्ज्वलदन्तपङ्क्तिर्गगनाङ्गने साङ्गनो धावति।

उन्मुक्तवसना निरशना तपोधवला सुबला तपस्विनीवोद्देशे कलस्याऽलक्ष्यसेवाव्रता निःस्पन्दनीरतटा प्रगाढां शान्ति दधाना प्रवहणस्य प्रशान्तमादककलकलेन वासन्तिकमधुमत्तमोदिमधुकरेणेव मन्द्र विनादिता नदी मन्द मन्द प्रवहति।

अशान्तानपि प्रसह्य शमयत् शातं वातावरणम्, सुभगवरित सौरस्यम्, ज्योत्स्ना धौताना सम्फुल्लानां द्रुमदलसुमनसां सौरभम्, मधुरमरीचिमालिनश्चन्द्रमसो जगज्जयिनी चन्द्रिका, तारकाणां स्पन्दनवृत्यम्, प्रकृतिं सौन्दर्यानन्दरसौ निर्मातुं संयत्ता आसन्।

[1]बान्ध Dam। [2]सीमेंट। [3]पेपरमिल। [4]क्लोथ मिल। [5]जंग खाई हुई। कट वपावरणयो। [6]बैंक। [7]कस्टडी Custody By Government

प्रस्रवणपूर्णायामुपत्यकायां विजनमनोरमे सरित्तटे विविधवल्लीवलयित कोरकमुकुल-सुरभित चलदल[1]दधिफल[2]मन्दारकोविदारो[3]दुम्बरनिम्बजम्बीरपरिवृत माधवीमल्लिकाशेफालिकामाधवकरवीरकरीरचाम्पेयचम्पककदम्बककनककुरबककमलकवकुलाकुल निकुञ्ज-कुटीरम्। तमेव लक्ष्यीकृत्य शनैःशनैः सरति प्रशान्तवत्सस्थल विभाजयन्ती द्विपथिसरिता दरि कुटीरान्तिकमुपेयाय। तरिं शङ्कुनाऽऽबध्य भूमिमवतीर्णौ युवा वनिकुटि व्रजन् अखण्डशान्तिसरूपनिमग्नमध्यात्मचिन्तननिरत विरतवासनमात्मकल्पनालीन मात्मकल्पनातीत कैलाशविलासकेश तजस्विन मनोज्ञहास्य निरालस्यमुखास्ये निरतमान मनवलोक्यैव उपाविशत्। आनन्दाश्रुप्लुताननो वर्षीयान् गदन्नाह—

अपरिमेयानि पापानि मम विश्वसर्वस्व! अन्तर्विरहिता देवा। संसारे भ्रमतो भ्रमभवने पर्यटतो जगज्जालजलधौ प्रवहत उन्मत्तीभूय कर्त्तव्य विस्मृत्य जगतो मृगतृष्णा मनुधावमानस्य स्वैन स्व निवृत्तो मे आयुर्व्यतीतम्। अद्यावधि विकारपेषणातिरिक्त नान्यत्कृतवानस्मि। अभ्यस्तविषयास्वादो गुरुवरप्रेरितोऽपि विजने विजनो वसन्नपि क्वमदमनुताऽऽत्मान विचारयितु पारयामि।

"अप्यब्धिपानान्महत सुमेरून्मूलनादपि।
अपि वह्न्यशनाद् राम! विषमश्चित्तनिग्रह ॥"

इति वसिष्ठोक्तं सुष्ठु। क्षणभङ्गुर विनशनशील जीवन विदतापि नास्मिन् जन्मनि न चान्यस्मिन् मया विचारायान्वस्तम्। तथापि नाह निराश इत्येव तव कृपा। त्व मामुद्धरिष्यसि आमसान् करिष्यसीति मे सुदृढो विश्वास। मनाधानमानन्दस्य, पर त्व दयापनन्ता। सा मां दर्पेणैवोद्दर्त्तुं शक्ता। तव चारुचरणौ समाश्लिष्टस्य सप्रेम मनतो वच्छुल्लिनमतिदूर भवतु, परं वस्तवे भव सत्यम्। निश्चितं त्वमेकदा मां करुणाऽऽश्लिक्षिष्यसि। अधीरता प्रताक्षास्मिन्ननन्दश। कल्पयन्नेवाह परमां चरमां रसानुभूति श्रयामि यदा तदा प्रभौ किमनुभवितव्यमिति त्वन्निवचनीयमेव। कदाह श्यामोज्ज्वलां कौशेयकुसुमकिसलयकोमलां पारिजातदामविभूषितां शश्वद्ध्यानधियमानस्य मुन्मानुजाऽन्वेषयतो दर्शनानन्दमनुभविष्यामि।

---

१ पीपल। २ कैथ। ३ कचनार।

दीर्घाण्यघान्यधिशुचीव भवन्त्यहानि
हानिर्बलस्य शरदीव नदीजलस्य ।
दु:खान्यसत्परिभवा इव दु:सहानि
हा ! निःसहोऽस्मि कुरु निश्शरणेऽनुकम्पाम् ॥ (जगद्धरभट्टस्य)

त विरतवाच शनैरुपसृत्यानम्य युवोचे—

अर्थवादस्य दुर्दम्यपिशाचेन कारावास वसितु बाधितां दुराचारकर्कशलौहशृङ्खला-निबद्धां भारतीया भुव प्रजाश्च प्राचीनार्यभारतीयसस्कृत्या भूषयितुमुन्मुक्तवातावरणे नि:श्वसितुं नरेन्द्रमण्डल समाह्वयति युवराजश्चन्द्रः। तस्मिन्नवसरे तातस्य वाग्भागीरथ्यां स्नातुं सर्वे परमोत्सुक.। इति।

"शक्ते ! चिरायुषश्चन्द्रस्य साधनायां व्यवस्थाया मम महान् विश्वास । मूकसाधकस्त्व राममनुलक्ष्मण इवाशेष निर्वहसि। मया बहव उत्सवा दृष्टा उपदिष्टाः कृताः सञ्चालिताश्च। अधुनाहमुपरतः कालात्ययितो न क्वापि जिगमिषामि गुरुणाऽऽज्ञप्तः। चन्द्र प्रजाभिः सहयुयुत्सुभिरन्यै राजभिस्त्वया च परामृश्य यच्चिकीर्षति, तदेव वरम्। "गुणार्जनोच्छ्राय-विरुद्धबुद्धयः प्रकृत्यमित्राणि सतामसाधव." अत. सर्वे परामर्शो वरीयान्, देवो दिशतु युष्मभ्यं साफल्यम्। अथ च किमुत्सवैः? अल प्रजाधनदुरुपयोगेन। विश्वसाम्राज्यमि-प्सव. सहस्रश. सुन्दरीणां प्रियतमा, लक्षशः कलावता कोटिशः कर्मकराणामाश्रयाः भगवदनुजन्मान इव मनुजन्मानो दुर्गान् प्रासादानारामान् निर्माप्य ससारसाधकारम्भे-ऽदभ्रारम्भा रमणीयतमानुत्सवानकार्षु., पर क्वाथ ते? एते भग्नावशेषा मूकमाक्रन्दयन्तो जगन्मानमर्दिभिर्वीरैरप्सर स्पर्द्धिसौन्दर्याभि: सुन्दरीभिरध्युषितचरा अपि निर्भर-मुद्घोषयन्ति यद् वयमद्यमर्दिता मर्दिता निष्ठुरनियत्याः क्रूरकरैः। विश्वस्मिन् स्वविचारान् स्वरुचि प्रसारयितु सयत्ना हन्त! अद्य क्व? तेषा नामकालानुसन्धानमपि पुरातत्त्वविभागस्थानां शिरोऽर्त्तिकरम्। एष वायु., एषा भूमि., एतदाकाशम्, एतानि वनानि तान् तदनुजिगमिषूँश्च नि शब्द विहसन्तीव। वनवृक्षेषु निपतति सान्ध्यसूर्या-लोके क्षणं विविधरागाणां प्रतीतिरिवास्मिन् ससारे सुखानां प्रतीतिः। प्रज्ञावतां प्रज्ञाया-स्तदेव सुकर्म येनानाडम्बरमप्रदर्शनं जगतो विराजो भगवतोऽफलाभिलाषमर्चन भवेदिति"।

"तदेव देव! वयं कर्तुं कृतसङ्कल्पाः।"

* * *

पौलोमीपतिपत्तनोपवनपरिमलेनेव परिपूर्णस्य प्रासादस्य विद्युदावलिविलसिते सारस्वत-सातोदरैः सुधीवरैरुद्देशरत्नैराकुले रत्नाकर इव प्रेक्ष्यमाणे विशाले हाले[1] सुखमासीनानां सामयिकीमावश्यकतामनुभूय विचाराय समवेतानां विभिन्नमण्डलभूपालानामेका विचार-परिषत् प्रारब्धा। राष्ट्रस्य ज्यायान् विद्वान् ज्ञानस्य प्रतिनिधिर्निधिस्तपसः परिषत्पतिपद-मलञ्चकार। स्वस्तिवाचनानन्तरं समुत्सुकेषु तूष्णीम्भूय प्रतीक्षमाणेषु सर्वेषु चन्द्र आमन्त्रणस्य प्रयोजनं विशदयन्नुदतिष्ठत्। चन्द्रस्य विशालं शालोन्नतं सुघटितं विमलं वपुः, परिणतप्रावृषेण्यजलधरधामानः स्निग्धोज्ज्वला आकृतिं रम्यां काम्यां शोभां कुर्वन्तः स्कन्धविसर्पिणः प्रलम्बिताः कृष्णाः केशाः, मानस्य मर्यादेव तपस्विनः साधनेव मांसलोन्नता प्रलम्बा ग्रीवा, निर्मेघनीलाम्बरे सहसोदितस्य सूर्यस्य मण्डलमिव तेजस्वि मोहकमाधुर्यकमिन्दिरानन्दितं मुखमण्डलं सर्वेषु सम्भ्रमं सञ्चारयामास। स्मयमानः स प्रावोचत्—

आर्यता व्याप्तिरासीत्। अस्माकं वचस्ताम्रपत्रलेखायते स्म, पणश्च सूर्योदयवदप्रतिरुद्ध आसीत्। राष्ट्रान्तराणि यदा तमसावृतान्यनावृतानि विलेष शयानानि चासन्, अस्माकं राष्ट्रं जगद्गुरुर्धनबलकलाविवेकविज्ञानेष्वपास्ततुलमासीत्। अत्रैव विश्वस्य प्राचीनतमो ग्रन्थ ऋग्वेदः, अस्मादेव विश्वस्मिन् शान्तिलताप्रसारक दर्शनात्मक ज्ञानज्योतिरुदगात्। अस्मादेव आग्नेयपाशुपतवारुणवायव्यब्रह्मास्त्रप्रभृतीनां विश्वभयङ्कराणामस्त्राणामुद्गमः प्रशमश्च। ज्ञानज्योतिरीप्सया लोकान्तरीया अत्रैवाजिगमिषन्ति स्म। अत्रैव लोककल्याणैकमनसो मनस्विनस्तपस्विनो विविधा रीतिनीतीः प्रख्यापयामासुः। सर्वत्र प्रेम, वात्सल्यम्, सौहार्दम्, सहयोगिता, अभेदभावः, सद्भावः, सद्भावश्चासीत्। परमद्य ! भूमिः सूर्यश्चन्द्रो वायुराकाश तु त एव सन्ति परं मानवभावनाः परिवर्त्तिताः। अत एवैषा धरित्री ध्वस्तेव दृश्यते। हा! विलक्षणो दैवदुर्विपाकः। केन भावेनास्माकं पूर्वजा न्यवसन्, वयञ्च केन निवसामः।

पुरा सरसि मानसे विकचसारसालिस्खलत्-
परागसुरभीकृते पयसि यस्य यातं वयः।
स पल्वलजलेऽधुना मिलदनेकभेकाकुले
मरालकुलनायकः कथय रे ! कथं वर्त्तताम्॥ पण्डितराजः।

प्रतिवेशिनि बुभुक्षिते दीने रुग्णे च भोजनं गर्हितमासीत्। कस्मिंश्चिद्नवीने ग्राममायाते सर्वं ग्रामीणास्तस्मै साहाय्यं प्रदाय स्वतुल्यमकुर्वन्। तस्मिन् दुःखितेऽवसन्ने न्यूनेऽवरे च ग्रामीणानामवरत्वं प्रतिष्ठितमासीत्। लाभार्थं सग्रहो हेय आसीत्।

यदधोऽधःक्षितौ वित्तं निचखान मितम्पचः।
तदधो निलयं गन्तुं चक्रे पन्थानमग्रतः॥

क्रय्यपूर्णासु विपणिषु यथावश्यकं वस्तूपयोगाय विक्रीयते स्म। देशान्तरात् क्रेयमानीय विक्रयो जनस्यावश्यकतापूरणञ्च व्यापारिणः कर्त्तव्यम्, तदेव लाभो गण्यते स्म। अर्थार्जनयोर्द्देश्यं नासीत्। सर्वे ज्ञानधनार्जने परस्परं यथोचितेन सहयोगेन सौहार्दैकपरिवारव्यवस्थया निवसन्ति स्म। विदूरस्थमपरिचितं गृहमागतमीश्वरभावेनामन्यत गृही। ईदृशे वातावरणे क्व स्थानमधुना प्रतिपदं प्रतिदिनं स्थापितानां स्थाप्यमानानाञ्च भोजनालयानां

अगुणकणो गुणराशिर्द्वयमिह दैवात् खलानने पतितम् ।
प्रसरति तैलमिवैकः सलिले घृतमिव जडत्वमेत्यन्यः ॥

अवधार्यताम्, अस्माकं विशाले वाङ्मये कपाटावरोधिका केवलं शृङ्खलैवास्ति न तालकम्। तालकमविश्वासभीत्योः पुत्रवान्पुनयोरपत्यम्। सकलसौख्यसाधनस्याभेदभावस्याद्यात्पता भूता, तस्य स्वसिंहासने प्रतिष्ठापनमस्माकमुद्देश्यम्।

समाजे सर्वे समाना आसन्नर्थदृष्ट्या, परं केचन धूर्ताः स्वपक्षपोषणाय स्वार्थसंरक्षणाय शासकैरुत्साहिता आत्मोद्धरणभावमाश्रित्य प्रतियोगिताव्याघ्रीं निर्माय स्वस्थितिं दृढयित्वाऽग्रे गच्छन्तोऽनुगामिन आह्न्तुमारेभिरे कृतघ्नाः।

अज्ञातदेशकालाश्चपलमुखाः पङ्गवोऽपि सप्लुतयः।
नवविहगा इव मुग्धा भक्ष्यन्ते धूर्तमार्जारैः ॥ क्षेमेन्द्रः।

अनुगामिनश्च सकृदाहताः पतिताः परिस्थितिपीडिता जानन्तोऽपि तेषां दानवीभूतानां धौर्त्यं धाष्टर्यं च नोत्थातुमवशाः प्राभवन्।

उपेक्षते यः खलमाक्षिपन्तं साधुर्मनोऽवुध्यत कारणं तत्।
द्विजिह्वमेनं स यदेकजिह्वः प्रयुक्तिभिर्न क्रमते नियन्तुम् ॥ सोमेश्वर।

अपि तु परिस्थितिपतितास्तानेवाग्रगामिनो धूर्त्तान् पोषयामासुः। एते मत्कुणा मशका यूका इव मानवरक्तमाचूषयन्तः परजीविनो मानवशरीरं दुःखयन्तोऽपि मानवशरीरे स्थिताः।

एते हि कालपुरुषाः पृथुदण्डनिपातहतलोकाः।
गणनागणनपिशाचाश्चरन्ति भूर्जध्वजा लोके ॥
कस्तेषां विश्वासं यममहिषविषाणकोटिकुटिलानाम्।
व्रजति, न यस्य विपक्त' कण्ठे पाशः कृतान्तस्य ॥ क्षेमेन्द्र।

एतेषां शीर्षघातिनां प्रसह्यापसारणं जीवनाय किं न परमावश्यकम्? सद्योगो नियमनश्च समाजस्य जीवनभूतौ, तावच्च हन्त! मृतौ। वस्तुतो धनं लोकस्य न्यासः। परम्परया परिस्थित्या वा प्राप्तं धनं लोकस्य न्यासः। यथासम्भवं शीघ्रं यथारीति तस्य तदधिकारिषु प्रत्यावर्त्तनं प्रतिदानं न्यासधरस्य योग्यताया' सूचकम्। अतोऽद्य या सम्पत्ति

खलश्च खड्गश्च नहि स्वभावं जहाति कोशार्पणलालितोऽपि ।
यस्यातिमात्रं मलिनात्मकस्य परं द्विधा कुर्वत एव रागः ॥ सोमेश्वर ।

अस्यामेक एव सर्वग्राही बुभूक्षयातापितिव, परस्परं धनमपजिहीर्षति च । अस्याम वस्थायामाशङ्कापूर्णे वातावरणे क्व आनन्दः ? क्व सुखम् ? मन्यतां भवान् मूल्यमभिलषति, तस्मै किमपि भोजनवस्त्रादिकं प्रदाय तस्य श्रमेण स्वकार्यं चिकीर्षति, तदाऽवश्यमेव भवत्प्रतिवेशिना निर्धनेन भवितव्यम् । भवदैश्वर्यं भवत प्रतिवेशिनो दारिद्र्येऽवलम्बितम् । परम्, राष्ट्रे कश्चन भोजनवस्त्रादेरिच्छुको न भवेत्, सर्वैर्वा जीवनव्यापारः स्वेन चलेत्तदा मूल्यप्राप्तिरशक्यया । वपनम्, पशुचारणम्, भोजनम्, जलानयनम्, लेखन व्यवहारादिकं तैनैव कार्यम् । राष्ट्रं तद् यदि सम्पन्नं भवेत्, सर्वेऽयाचका अनभिलाषुकाश्च स्युस्तदा स्वर्णपते स्वर्णस्योपयोगिता पोतपाषाणखण्डतो नाधिका । तेन सञ्चितमन्नवस्त्रादि घुणादिजर्जरितमेव भविष्यति, यतो न कश्चना-काङ्क्षक । स स्वयञ्च नान्नम्, न वासांसि, न गृहाणि वा शतसहस्रगुणमुपयोक्तुमुपभोक्तुं वा समर्थः । अतस्तत् सर्वं विनङ्क्ष्यति । बुध्यतां तस्य सञ्ग्रहस्य कोऽर्थः । स्वल्पा यानन्दायापि तेन श्रमितव्यं कठिनं श्रमितव्यमेव । विशाले क्षेत्रे स स्वयमेकाकी न वप्तुं न लवितुम् न चोपयोक्तुं समर्थः, न च विशालस्य हर्म्यस्य जीर्णोद्धारे उपलेपे किमु वासेऽपि समर्थः । स जीर्णशीर्णानि गृहाणि स्वकीयानि कथयन्नेव हृष्यति । भविष्यति चान्यगृहनिर्माणेऽनुत्सुकः । अतः स लघीयसि गृहे उद्याने वा वसन् स्वहस्त कृतसर्वकार्य एवातिसन्तुष्टो भविष्यति ।

धनार्जने चतुरो धनमर्जयेत्, परं तस्योपयोगः सार्वदेशिको भवेत् यथा वायुराकाशं जलं विश्वजनीयानीश्वरप्रदत्तानि च तथैव धनम् । धनं लोकस्य न्यासः । विचार्यताम्, यदि माता शक्तिशालिनी चतुरा च, तदा किं सा दुर्बलस्य शिशोर्भोज्यं खादेत् ? यदि खादेत्तदा कस्तां मातरं कथयितुमीहेत । सर्वे तां डाकिनीं वदिष्यन्ति । परमत्र विश्व सर्वसाधनसम्पन्नः पितृस्थानीयो धनी गृहम्, मातापितरौ, दाम्पत्यञ्च विहायागताना पुत्रायमाणाना भृत्याना भृत्यकृपोपार्जितसम्पत्प्रतिष्ठो निर्दयं सर्वस्वं हर्तुं सक्षमः ।

अमृतं किरति हिमांशुः विषमेव फणी समुद्गिरति।
गुणमेव वक्ति साधुर्दोषमसाधुः प्रकाशयति ॥

विचार्यतां श्रीमतां सम्मतौ स कथं सम्बोध्यः ?

आधुनिकं ज्ञान विज्ञानं केवल परिग्रहिणां धनार्जनस्य साधनमात्रम्, परेषामाकर्षणे शोषणे सहायकञ्च। अद्य विज्ञानाविष्कृतानि यन्त्राणि मानवमूल्यहराणि। प्रतीयते पुञ्जवादोऽद्य यन्त्रारूढो मानवजयी। यन्त्रं समाजेऽङ्गानां शक्तिवर्द्धनाय परिश्रमपरिहाराय कौशलेन समानवस्तूत्पादनाय अवकाशसंरक्षणाय च प्रतिष्ठितम्। चक्षुषोः शक्तिवर्द्धनायोपनेत्र दूरवीक्षण सूक्ष्मेक्षणञ्च, वाचः शक्त्यै ध्वनिविस्तारकम्, पादयोः शक्तिवर्द्धनाय द्विचक्रिका, मरुत्तरम्, वाष्पयानम्, वायुयानञ्च। हस्तयोः शक्तिवर्द्धनायासङ्ख्येयानि यन्त्राणि, लिपिश्रमपरिहाराय मुद्रणालयः। सोऽयं मानवविकासाय मानवाङ्गानां शक्त्युत्कर्षाय गुणोदयाय चोपयोगः सम्मतः। पर योऽवकाशः सर्वविधशक्तीनामुदयाय यन्त्रेण दत्तस्तस्मिन्नेकाधिकारः पुञ्जवादेन कृतः प्रतिद्वन्द्वितामुत्पाद्य। एवमल्पा अवकाशभोजिनोऽनल्पाश्चानवकाशयोजिनः संवृत्ताः।

सन्तापमोहकम्पान् सम्पादयितुं निहन्तुमपि जन्तून्।
सखि ! दुर्जनस्य हि मतिः प्रसरति दूरं ज्वरस्येव ॥ गोवर्द्धनाचार्यः।

अद्यतनं यन्त्रवैपुल्य मानवीयकलानां समाप्तिम्, प्रचुरमेकत्र सुलभं सौख्येण चोत्पाद्य धन केन्द्रितं करोति, कलाभिवृद्धिं बाधते, उत्पादने मानवस्पर्शं रुणद्धि च। मनुष्यस्य विश्वासस्त्वनेन पुञ्जवादप्रवर्तितेन पराहत एव सम्प्रति तद् विकासाधारं मनुष्यमेव जिघन्सति। जिघत्सां निराकृत्य तस्योपयोगिता केवलमस्माभिर्व्यवस्थाप्या।

न परं फलति हि किञ्चित् खल एवानर्थमावहति यावत्।
मारयति सपदि विषतरुराश्रयमाणं श्रमापनुदे ॥

यन्त्रोदयात् पूर्वमस्माभिर्वाहवः पशवः समाजे सम्मेलिता उपयोगितां नीताश्च, परमधुना पालितपरं गवाश्वमपि क्षुवति। अनुपयुज्यमानस्य रक्षाऽसम्भवाऽऽवश्येव। सर्वाभ्युदये सर्वेषामुदयः, पशूनामभ्युदयः=संस्कारोऽभिप्रेतः, किन्तु द्वितीयभागे। पर सर्वाभ्युदयीयाधिक्ययोजनेऽस्माकं चिरपरिचितानां पालितानां पशूनां संयोजनं तु नितरामावश्यकम्।

स्मर्यताम्, राष्ट्रे सर्वे समानाः शरीरेऽङ्गानीव। समये उप्त्वा पर्यवेक्षमाणो लविता कृषक, सन्धियोगनिपुणो नौनिर्माता, लोहकारः कुम्भकारश्चर्मकारो व्यवस्थापकश्चिकित्सकोऽध्यापक, गृहकारः, गृहकार्यदक्षा गृहिणी, स्वरान् संयोज्य गायन्ती गायिका, सैनिक, शोधको देशस्य सम्पादका मङ्गलकर्त्तारश्च। नैते कस्माच्चिदपि प्रजाव्यवस्थापकाद् राज्ञः, सदसद्विवेचयतो न्यायाधीशाद् वा न्यूनाः।

मम सम्मतौ राज्ञां धनिनाशायं विकासक्रमः।

पुरा ग्राम्या ग्राम्यं बलवन्तमूचुः—"वय तव जीविकां साधयिष्यामस्त्व ग्रामं रक्ष"। स स्वीकृत्य दण्डधरो नैपुण्येन ग्रामं ररक्ष। तस्य कार्यप्रणालीप्रसन्नाः पार्श्ववर्त्तिनोऽपि त ग्रामाणां रक्षार्थमनोदयन्। स स्वीकृत्य स्वाप्तपुरुषान्नियोज्य रक्षितुमारेभे। एवं शनैश्शनैः स बहूनां नगराणां रक्षको बभूव। "प्रजाहितव्रतिनो वयम्" इत्येव तस्यादर्श आसीत्। ग्रामरक्षकाणामावासाय परेषां प्रहाररोधाय प्रजानां सुरक्षायै तेनाधुना विशाल दुर्गं निरमायि। व्याघातकानां कृते तेनायुधनिर्मितिरारब्धा। रक्षकाणां शिक्षणाय स्वपुत्राणामध्यापनाय च वनादाहूय विद्वांसो नियोजिताः।

अध्यापयन्ति शास्त्राणि तृणीकुर्वन्ति पण्डितान्।
विस्मारयन्ति जातिं स्वां वराटाः पञ्चषाः करे॥

यातायातसुखाय ग्रामान्तरेषु लोकपथा निर्मिताः। वाहनानि सङ्गृहीतानि, अर्जितधनेन सेना च सङ्गृहीता। अधुना सोऽधिगतबलः पटुर्जनताया दौर्बल्यमनुभवन् काश्चित् स्वपक्षे कृत्वा स्वैरं करं ग्रहीतुमारब्धवान्। रक्षकोऽपि सोऽधुना भक्षको भवितुमारेभे। लोलुपः स इतररक्षकाणां रक्षाव्यवस्थां विशृङ्खलामकलाबोधोप्य इतरप्रदेशान् स्वायत्तीकुर्वन् प्रजाहितव्रतितां प्रासारयत्। स एव लगुडधरो राजपदेन स्वीकृतः, सर्वेषु विशेषणो राजतान्। सम्भाव्यते स एवाधुनिकलगुडिनां पूर्वजः।

लोकेन च मौर्दयात् सर्वा सत्ता ग्रामपालायितार राज्ञेऽर्पिता। त्वमस्माकं कल्याणमाचर, यदि वयं नेच्छामस्तर्हि दण्डयत्वस्माकं कल्याणमारभ, एवाऽनियन्त्रिता सत्ता राजोपाधिधारिणे ग्रामपालाय प्रदत्ता। राजा स्वयं साधारणो मानवः, न तस्मिन् काचिद् दिव्या सत्ता शक्तिश्च, या सत्ता शक्तिर्वा सा प्रजानामेव। एवं स लोकस्य सत्तया शक्त्या

च स्वार्थसंरक्षणाय लोकान् यथेच्छं दण्डयितुमारभत। अयनतो राजा निर्वाच्य आसीत्, यतो हि रक्षकस्य निर्वचन रक्षणयोग्यतानुसारि। परं शनैश्शनैः सम्प्राप्तसाधनोऽनुरक्तविविधविद्वज्जनः सोऽस्मत्पूर्वजो राज्यं कुलक्रमागतश्चकार। वस्तुतोऽस्य स्थितिर्द्वारपालतो नाधिका। ब्राह्मणैः क्षत्रबन्धुर्हि द्वारपालो निरूपितः। भागवते।

यथा चादिराजः पृथुः—

अहं दण्डधरो राजा प्रजानामिह योजितः।

रक्षिता वृत्तिदः स्वेषु सेतुषु स्थापिता पृथक्[1] ॥ भागवते ४।२१।२२

राज्ञां सृष्टिर्विप्लवपरिहाराय जाता।

रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत् प्रभुः ॥ मनुः ३।६

प्रभवतीति प्रभुः = प्रकृष्टसत्ता (सार्वभौमसत्ता) सम्पन्नाः प्रजाः। 'विप्रलम्भो दुःखायाम्' ३।२।१८०

नित्यमुद्यतदण्डः स्यान्नित्यं विवृतपौरुषः। मनुः ७।१०२

दण्डो दमनादित्याहुस्तेनादान्तान् दमयेत्। गौतमस्मृतिः ११।

एतेन शासनान्यायव्यवस्थायाः पार्थक्येऽप्येतदेव कारणम्, यच्छासन द्वारपालायिताधीनम्, न्यायश्च विद्वदधीनः। त्यक्तासारा वने वसन्तो विपर्यस्तिनो विद्वांसोऽप्यधुनाऽरण्यकञ्च रुद्री गगनस्पर्शिसौधे च मोहिता दुर्ग्राकर वनवासमुत्सृज्य, अनात्पुरे हितादिपदलोलुपास्तत्स्वाभिषेकनाटकं चक्रिरे अनुमुमुदिरे च कुलक्रमागतकर्मापि दास्यम्, ऊचुश्च 'अष्टानां लोकपालानां वपुर्धारयते नृपः' इति। सत्यम्,

अपथं पदमर्पयन्ति हि श्रुतवन्तोऽपि रजोनिमीलिताः।

यात्रवल्क्यस्मृतौ (अ. १।३०९,१०) राज्ञां लक्षणं त्वेवमादि—

महोत्साहः स्थूललक्ष्यः कृतज्ञो वृद्धसेवकः।

विनीतः सत्त्वसम्पन्नः कुलीनः सत्यवाक् शुचिः ॥

---

१ अहं पृथुः प्रजानां वृत्तिदः = वृत्तिं ददाति रक्षकत्वस्थानेन सः, तथाभूते राष्ट्रे प्रवृत्ततरो भवितुं यतन्ते। स्वेषु सेतुषु = मर्यादासु स्थापयिता दण्डधरो रक्षिता च प्रजाभिर्योजितः।

अदीर्घसूत्र स्मृतिमानक्षुद्रोऽपरुषस्तथा।

तस्य कर्म च—

स्वराष्ट्रे न्यायवृत्त स्याद् भृशदण्डश्च शत्रुषु।
सुहृत्स्वजिह्म स्निग्धेषु ब्राह्मणेषु क्षमान्वित ॥ मनु ७।३२

एव वृत्तस्य नृपते शिलोञ्छेनापि जीवत ।
विस्तीर्यते यशो लोके तैलबिन्दुरिवाम्भसि ॥ मनु ७।३३

परमद्य स्वेष्वेव दोषेषु सर्वं आकृष्ट मग्नः। अस्तु, कुलक्रमागते स्वार्थरहिते पुत्रवादप्रभाविते कर्मण्यनुभवस्तु गरीयान्, परं पुत्रवादप्रभाविते तु दौर्गुण्यमेव। अतः शासकेनावश्यं परिवर्तनवता भवितव्यमेव। अन्यथाऽऽधुनिको राजेवाधिगत-राज्यास्त्रः सङ्गृहीतसैन्यो वर्द्धनबलः हृतदुर्गं आतङ्कितजगत् सेवकोऽपि स सेव्यो भविष्यति, नरपालश्चापि नरपतिः। परिस्थितिविशेषितः साधारणोऽप्यसाधारणः। परि-वर्त्तने दुर्बलमना उपभुक्तभोगः परिवर्त्तनेऽनीहः शासनादिलष्ट एव भविष्यति।

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ[1] न विधीयते॥ गीता।

एवमेवोद्योगपतिरपि परिस्थितिपोषितः।

यथा च—अमुकग्रामादन्नमाहर वयं तुभ्यं भोजनं दास्यामः, इति ग्रामीणैर्नोदितः पटुसेवकः सार्थवाहः स बहूनामन्नाहरणेन बहुभोज्यमाप। उपभोगावशिष्टं तदेव विक्रीणानो विनिमयमानः शनैर्जातसङ्ग्रहो वैवधिकचरो यानं स्थानञ्च निनाय जनस्यावश्यकतानुसारि वस्तुजातं पार्श्ववर्तिभ्य एव क्रीत्वा यथेच्छमूल्येन पार्श्ववर्तिभ्य एव विक्रीतवान् यथेच्छमूल्येन।

सह वसतामप्यसतां जलरुहजलवद् भवत्यसंश्लेषः।
दूरेऽपि सतां वसतां प्रीतिः कुमुदेन्दुवद् भवति॥

शनैः सङ्गृहीतधनो बलीवर्दं क्रीत्वा शकटमायोज्य ग्रामान्तरेऽपि व्याप्रियमाणो मूलधन-मैधयत्। "लाभाल्लोभः प्रवर्द्धते"। एवं वणिज्वर[2] स धनित्वमभ्यगमत्। ततोऽल्पव्ययेन विलासभावना तस्योत्पन्ना। स ग्रीष्मातपे बलीवर्दं वाहयित्वा पथ्यान्नमप-मितमारोप्य स्वयं भुक्त्वा अर्जयित्वापि स्वसम्वर्द्धने प्रधानसहायकाय परिस्थितिविपन्नाय मूकाय बलीवर्दाय यथाकथञ्चिज्जीवनधारणयोग्यं कदन्नं भोज्यं प्रायच्छन्नेदमवाहरत्। सत्यम्।

ऊर्ध्वोदयोऽपि हि खलः प्रथमं स्वजनं नु नयति परितापम्।
उद्गच्छन् दवदहनो जन्मभुवं दारु निर्दहति।

१ समाधि = अन्तःकरणम्। २ वाणिज्याय ऋच्छति = गच्छति सः। "ऋ गतिप्रापणयोः।" 'बनजारा' इति लोके।

अदीर्घसूत्रः स्मृतिमानक्षुद्रोऽपरुषस्तथा ।

तस्य कर्म च—

स्वराष्ट्रे न्यायवृत्तः स्याद् भृशदण्डश्च शत्रुषु ।
सुहृत्स्वजिह्मः स्निग्धेषु ब्राह्मणेषु क्षमान्वितः ॥ मनु० ७।३२

एवं वृत्तस्य नृपतेः शिलोञ्छेनापि जीवतः ।
विस्तीर्यते यशो लोके तैलबिन्दुरिवाम्भसि ॥ मनु ७।३३

परमद्यास्मासु कति तथाभूताः सन्तीत्यात्मा निरीक्ष्य ।

कुलानि जातीः श्रेणीश्च गणाञ्जानपदांस्तथा ।
स्वधर्मचलितान् राजा विनीय स्थापयेत् पथि ॥ याज्ञवल्क्यः १।३६१

शनैश्शनैर्दुःशीलशासकसन्नस्तासु प्रजासु ज्ञानप्रसाराभावादातङ्केनैव राजानो भुव शासयामासु —

सर्वो दण्डजितो लोको दुर्लभो हि शुचिर्नरः ॥ मनुः ७।२२
दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वाः दण्ड एवाभिरक्षति ।
समीक्ष्य स धृतः सम्यक् सर्वा रञ्जयते प्रजाः ।
असमीक्ष्य प्रणीतस्तु विनाशयति सर्वतः ॥ मनुः ७।१८-१६

इत्यादिगुणैर्लक्षणैः कर्तव्यैः परिहर्त्तव्यैर्व्यसनैश्च स सेवको भृत्य एव च प्रतीयते, नैव सेव्यमनुसरन्ति । राज्ञामेतानि व्यसनानि सर्वथा परिहार्याण्यासन्—

दश कामसमुत्थानि तथाष्टौ क्रोधजानि च ।
व्यसनानि दुरन्तानि प्रयत्नेन विवर्जयेत् ॥ मनुः ७।४५
मृगयाक्षो दिवास्वप्नः परिवादः स्त्रियो मदः ।
तौर्यत्रिकं वृथाट्या च कामजो दशको गणः ॥ ७।४६
पैशुन्यं साहसं द्रोह ईर्ष्याऽसूयार्थदूषणम् ।
वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः ॥ ७।४७

परमद्य सर्वेष्वेव देशेषु सर्वे भद्रम् मन्नः। अस्तु, कुल्क्रमागते स्वार्थरहिते पुत्रवादप्रभाविते कर्मण्यनुभवस्तु गरीयान्, परं पुत्रवादप्रभाविते तु दौर्बल्यमेव। अतः शासकेनात्र परिवर्तनवता भवितव्यमेव। अन्यथाऽऽनुलिको यदेवाभिगतशास्त्रः सङ्गृहीतवेनो वर्द्धनबलः इत्युक्तं आतङ्कितजगत् सेवकोऽपि स सेव्यो भविष्यति, नरपालश्चापि नरपतिः। परिस्थितिरीदृशी सामान्योऽन्यथानारम्भः। परिवर्तने दुर्बलता तदनुकरणेन परिवर्तनेऽप्रौढः शासनादिष्ट एव भविष्यति।

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।

व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ[1] न विधीयते॥ गीता।

एवमेवोद्योगपतिरपि परिस्थितिविशेषितः।

यथा च—अनुक्रमादक्षिन हर वन तुन्य नौनन दासान्, इति प्रार्थनीयोदितः पत्तनेषकः सार्थवाहः स बहुकालमाहरणेन बहुमोल्यमाप। तन्नोपलब्धिं तदेव विक्रीणानो विनिमयमानः शनैश्चरसङ्कुले वैदेशिकवर्गे यात्र स्थानेष्व निलाय जनस्य वसत्यनुसारि वस्तुजात पार्श्ववर्तिन्य एव कृत्वा यथेच्छमूल्येन पार्श्ववर्तिन्य एव विक्रीतवान् यथेच्छमूल्येन।

सह वसतामप्यसतां जलरुहजलवद् भवत्यसंश्लेषः।

दूरेऽपि सतां वसतां प्रीतिः कुमुदेन्दुवद् भवति॥

सर्वैः सहृदयजनो वर्षवर्द्धनम् प्रदत्तवानोज प्रमाणान्तरेऽपि व्यापिरमाणो नूतनमैनयत्। "लाभाल्लोभः प्रवर्द्धते"। एवं वणिग्वरः[2] स धनिनामग्रणीरभूत्। ततोऽन्यव्ययेन निम्नभावना तस्याऽऽसीत्। स प्रीणाति यद् वर्द्धं यद्दत्त्वा पश्चात्तन्निदानरोप्य तदनुप्रार्थनान्यानि तदनन्तरं प्रयात्कदापि परिस्थितिविरोधाय मूल्य वर्द्धितवान् यथाकथञ्चिदेव स्वार्थेन कर्तव्यम् नौर्ज्य यावच्छब्देनाहरत्। सत्यम्।

कोपोदयोऽपि हि खलः प्रथमं स्वजनं नु नयति परितापम्।

उच्चरन् दवदहनो जन्मभुवं दारु निर्दहति।

---

१ समाधिः = अन्तःकरणम्। २ वणिग्वरः कथ्यते = गण्यते स्म। "ऋ गतिप्रापणयोः।" 'वणिजाम्' इति पाठः।

एषा पुञ्जवादस्याद्या भावना। अधुना सोऽनायासेनाल्पव्ययेन च नित्यमुपयुज्यमानाना वस्तूना निर्माणेच्छयाऽऽवश्यकताग्रस्तान्निर्धनांस्तन्तुवायांस्तक्षकाँल्लोहकारान् कुशलान् कारुश्चामन्दोदया दया कुर्वन्निव नियोज्य वस्तूनि निर्माप्य जीवनधारणयोग्य प्रयच्छन् प्रचुर धनमैधयत। वराकास्ते च परिस्थितिपीडिता कि कुर्युं, यतो हि "सर्वारम्भास्तण्डुलप्रस्थमूला।" सत्यमेव केनापि कविनोक्तम्।

इयमुदरदरी दुरन्तपूरा यदि न भवेदभिमानभङ्गभूमि।
कथमपि न सहे भवादृशाना कुटिलकटाक्षनिरीक्षण जनानाम्॥
कपति वपति लुनीते दोग्धि सोव्यति पुनाति वयते च।
विदधाति किं न कृत्यं जठरानलशान्तये तनुमान्॥

अथ च गो स्तनन्धयो वत्स प्रतिदिनमेकप्रस्थमित पय पिबन् प्रतिप्रस्थमाणकद्वय मूल्येन सवत्सरे पञ्चचत्वारिंशन्मुद्राणा केवल पय पास्यति, शष्पादिक पृथक सेवास्थानादिव्ययश्च पृथक। एकहायनस्य वत्सस्य मूल्यञ्च मुद्रापञ्चकम्। चत्वारिंशन्मुद्राणा हानिरिति विचार्य गौर्वत्स विना कथ दुग्ध दद्यादित्युपायमन्विष्य जातमात्रमेव वत्समेकया मुद्रया गोघातिभ्यो विनिमयते केवल स्वार्थपण्डित।

अतिमलिने कर्त्तव्ये भवति खलानामतीव निपुणा धी।
तिमिरे हि कौशिकाना रूपं प्रतिपद्यते दृष्टि॥ सुबन्धु।

पुञ्जवादे एतादृश्य कल्पना कस्य गम्यते विज्ञान वा। हन्त! "कृद्धिश्चित्तविकारिणी।" स्वमातुर्दुग्धपाने वत्सस्यैवैकाधिकारो रक्षिणस्तु पीतशेषे, नैव तस्य विचार। भगवती वसुधा पशूश्च, वत्सस्य पिता बलीवर्देन कृष्ट्वाऽधिगतमन्नम्, तृष्या जात शष्प मनसा स्वायत्तीकृत्य यथेच्छाचरणाय स्वतन्त्र ईश्वरमुपेक्ष्य, राष्ट्रहितम्, अप्रति कुर्वता परिस्थित्या मूकानां च हितमपश्यन् पराजितस्याहरणाय स्वार्थपोषणाय चेष्टते परिग्रही। एव परिस्थित्यर्जितधन स भौतिकीमुन्नतिमकरोत। परिस्थितिरेवास्य ऊर्ध्वं नयने परमा साधिका। यथा च कश्चन विप्र शिष्यगृह गत शिष्येण प्रोक्त "भवान्नास्मत्पक्वमत्ति नचास्मदानीत पय पिबति, अतो भवानेव पचतु जलमाहरतु च" इति स स्वस्मै कृतवान्।

। शिष्यस्य स्त्रियां रुग्णायां रजस्वलायां वा भूतायामितरजाति शिष्योऽवदन्

"गुरो! भवान् पश्यत्येव, आवाभ्यामपि पक्तुं दयताम्, तदर्थं मुद्रामेकां दास्यामि, यतो न विना मूल्यमावां गुरुपाचितं खादिष्यावः" इति शनैश्शनैश्चलित एष व्यवहारोऽद्य हन्त! ब्राह्मणान् पाचकान् प्रयास्यायिनश्च चकार। हन्त! दारुणा परिस्थितिः। परिस्थित्या चान्त्यजाश्शनैश्शनैः कृतवाणिज्यादय उच्च वर्गमुपेताः। अस्तु,

अथाधुयोगपतिरनवरतमधिकाधिक श्राम्यते परिस्थित्या प्रतिकर्तुमसमर्थाय श्रमिणे यथाकथञ्चिज्जीवनं धर्तुं किञ्चित् प्रक्षिप्य, कारयितासु कुटीषु परपयासु वाऽऽवासस्य सर्वस्वमपहरत्यज्ञातभावेन। एतच्छोषणं प्रकटितमथवा यस्याऽऽनन्दोपवनदावाग्नेर्वराकघस्मरस्य पुत्रशतस्य ज्येष्ठः पुनः। एतेषां लक्षाणां सहस्राणां वान्यतमः कश्चन कदाचन कश्चन यशोर्थी स्वार्थी किमपि ददाति चेत्तद्दानं नीवीं[1] प्रमोष्य शतमुद्रां निष्कास्य ताम्बूलवीटिकाप्रत्यर्पणवत्, [2]घन प्रचोर्य सूचिकादानवद्वाऽकिञ्चित्करम्।

अथ राजानः सामन्ता भूमिदारा धनिन उद्योगपतयो व्यापारिण इतरे च कृषकेषु जीवन्ति। सोऽयं सर्वोपजीव्य ईश्वरस्य लघुभ्रातेव लोकजीवनाय सर्वथा सक्षमोऽपि निर्धन एवास्ति। तस्य पशुपालनालपरिपद्धिभूषणाः शिखिशिखण्डकृतावतंसाः बालमुकुन्दसमाः शिशवः साधनविहीनाः खाद्याभावदुःखदारिद्र्यविकला उच्छ्वसन्तो मृत्युमुखं विशन्ति, विवेकसंस्काररहिता अशिक्षिता वा जीवनं यापयन्ति पशव इव। ते पयसः प्रधानस्रोतसोऽपि पयः पातुं न शक्नुवन्ति, नवनीतस्य निर्मातारोऽपि तन्नादन्ति, वस्त्रस्य धातारोऽपि नग्ना, अन्नस्यैकमात्र धातारोऽपि निरन्नाः। अन्य एव कश्चन हस्तस्तेषामज्ञानदरिद्राणां मुग्धानां हस्तादाच्छिद्यादाय तदुपभुङ्क्ते। हन्त! कृतघ्नानामस्माकं कथं निष्कृतिर्भविष्यति। "कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः।" तेषां परिस्थितौ ज्ञानविज्ञानयोरुपयोग उपभोगो वा विधास्यते इति वक्तुमशक्यम्। जठरज्वालालीवलयितानां तेषां द्राघीयो दरिद्रं जीवनं पादकन्दुकवत् केवलं जनानां प्रबलान् पादाघातान् सोढुमितस्ततो धावितुम्, रेणुषु स्नानाय तिरस्काराय च केवलम्, हन्त! "दारिद्र्यदोषो गुणराशिनाशी"।

कुलं शीलञ्च सत्यञ्च प्रज्ञा तेजो धृतिर्बलम्।
गौरवं प्रत्ययः स्नेहो दारिद्र्येण विनश्यति॥ चाणक्यः।

---

१ नीवी – अण्टी। २ घन – घन लोहकूटनेका।

मानो वा दर्पो वा विज्ञानं विभ्रमः सुबुद्धिर्वा ।
सर्वं प्रणश्यति समं वित्तहीनो यदा पुरुषः ॥ पद्मतन्त्रम् ।

पर ते तु धन्या एव येषां मृतानां लोकोपकारभावौतप्रोतान्यस्थीन्यपि गुर्वीमुर्वीमुद्धरयन्ति ।

पाटीर ! तव पटीयान् कः परिपाटीमिमामुरीकर्त्तुम् ।
यत् पिषतामपि नृणां तनोपि परिमलैः पुष्टिम् ॥ (पण्डितराजजगन्नाथ.)

ग्रामोन्नत्यै सर्वो व्याचष्टे, परमुन्नतिर्नगराणां भवति, वराका वचनैर्वञ्च्यन्ते । आजीविकासाधनान्यपि नगरेष्वेव सन्ति । स्वार्थ, पक्षपोषणम्, लोलुपत्वम्, क्रूरत्वम्, परिग्रहिणां नागरिकाणां प्रधान धर्मः । वराका ग्राम्या दुर्भिक्षविक्षिप्ताः गतधना जनाः सुवर्णसुभग मञ्जुलकुसुमसरससुगन्धगन्धवहोद्वासितामयकुल सुरविटपिवाटीपरिवृतचरम्, पुञ्जवादपुञ्जनपरिप्लुष्टं शरज्ज्योत्स्नाशुद्ध सौभाग्यजीवनजनन स्वास्थ्यहित महित वीतराग तपोवनमिव ग्राममुत्सृज्य स्वर्गान्नरकमिव मशकमत्कुणमक्षिकासंरक्षितासु दुर्गन्धनिधानासु रथ्यासु निवासाय बाध्यन्ते चरकमाहूयमाना यक्ष्मभक्षिता जीवन्तः परमश्रमेण सञ्चिन्वन्तस्तनीयांसं पांशुमपि न सञ्चिन्वन्ति, न च सञ्चेतुं शक्नुवन्ति । राज्याधिकारिणोऽपि नित्यनवप्रियाः चाकचक्यैकप्रवणचेतसः सासूयाः ग्रामेषु न यान्ति । यतो हि न तत्र विविधव्यञ्जनोपबृंहितानि द्विजटद्विजटस्फुरदिन्दीवरनिन्दिसुन्दरवदनामृतहास्यगीतोपेतानि शङ्कितलज्जितरसभरचञ्चलतापविमोचनमधुरहगन्तशोभितानि उदग्रसूच्यग्रकञ्चुकाञ्चितवक्षोविभूषितानि सघनोपनीतानि गोष्ठीभोज्यानि, न सौवर्णराजनभाजनेपूपहृतान्याहृताश्चाध्यमिनन्दनपत्राणि, न प्रच्छन्नच्छलैरुपहृतानि पुष्पफलाच्छादितानि दीनारपिटराणि, न सुवासितसुमनसां वासितवाससो दाराः, न निवासाय स्वर्गसुखदा आवासाः, न भ्रमणाय चक्षूंषि चमत्कुर्वन्तो मरुत्तराः, न च सभोपेतानां सहस्रशो मनुष्याणां चित्ताह्लादकः करतलध्वनिः । को नाम एव विषमाकर्षणमुत्सृज्य रूक्षशुष्केष्वसभ्याज्ञानदारिद्र्यपूर्णेषु साधनाधमेषु ग्रामेषु गन्तुमुत्सहेत ?

पुञ्जवादे मनुष्यो धनसङ्ग्रहस्य यन्त्रम् । केन व्यापारेण कया प्रणाल्याऽधिकाधिक धन मे प्रभवेदित्येव तस्योद्देश्यम् । नात्र मनुष्यस्य मूल्यम् । प्रतिदिनं यन्त्रेषु जीवनरत्नं जहतां जनानां क्वापि मूल्यं निरीक्षितम् ? लौकिकः सूर्या भमायां शोचति किमु ?

कार्त्तनस्य निशम्यन्ते। एवमेव नवीन दर्शने भवेत् स्वाभिप्रेतवस्तु तस्य विनिमयः। अतएव निर्वाहितुरेव च द्रौपद्यन्दादन्यो जनः। तस्य दृष्टौ धनस्य केवल धनस्य मूल्यम्। धनार्जनाय च स्तेयम्, पुण्यम्, प्रतिष्ठा, पुत्रम्, विधानम्, धर्मम्, न्याय वाणिज्यारे[1] विक्रेतुं तुल्यम्। "मा गृधः कस्यस्विद्धनम्" इति विधानस्येव च वेदस्य लिप्यन्ते यद् ग्रहस्य निष्कासितं उत्तमेव चेतने। अद्यत्वम्! कथमेव नैर्लोऽन्य-कस्य सदनश्च न तस्य दारः, जीवनतत्त्वेन तत्रापि नरः। परमान्तरं दृष्ट्वा अनितत्त्वानां न्यायमन्याय पुण्य पापमविचार्य यदि तस्मै सदनस्तदा किन्तु वक्तव्यम्? इत्यनन्तरः समयो विहितो ननु नरस्य। एव नरतत्त्वाभाविता भविष्यन्ति हन्त रस-मुदा मन्दमुस्करितवल्लतिमुखारविन्दा बालाश्च बालकेषु परिवेष्टितम्, रम्भातु कर्पूर-गन्धाढ्यम् प्रवेतुम्, सन्तुष्टे नीवीमाहर्तुम्, अङ्कुरितयौवनाः परिवृतशालोदरतामरसदला दन्तनिदर्शितौष्ठिकसदना निसर्गकामोदर्यैः सुन्दर्यः कालिदासस्य कल्प इव मूर्तिमन्तः यत्र कमलकोमलकाननाः कन्याश्च विमलकाञ्चननिश्चलतन्तवान्विताः स्तनमर्दनागरेषु वेशालयेष्वनुचितां वृत्तिं वा कर्तुं बाध्यन्ते।

हन्त! धनेन कीदृशी स्थितिः परिवर्तिता। सर्वेषां स्थानं केवलमनेन गृहीतम्। न केनापि कदापि विचारितमासीद् यद् द्रव्यस्य विनिमयसाधनस्य मानवसमाजे एतादृशी प्रतिष्ठा भविष्यति। विश्वस्मिन्नास्ति कोऽप्यनर्थो यो धनेन न साधयितुं शक्येत। अन्यायस्य, शोषणस्य, व्यभिचारस्य, भ्रष्टाचारस्य, चौर्यस्य, प्रसह्याहरणस्य, हिंसाया-श्चाधारशिला धनमेव केवलम्। सत्यम्, वित्तच्छायाया नरो विवेकविच्युतो भवति। यत्र धर्मो नीतिश्च न स्यात्, स्वार्थः सर्वातिशायी तत्र यदि त्यागस्याभावस्तदा किमाश्चर्यम्? "नीचैरनीचैरतिनीचनीचैः सर्वैरुपायैर्धनमेव साध्यम्"। धन परमेश्वरः। वास्तविकः परमेश्वरस्तु शुष्कोपानद्भिराहतः क्षताङ्गश्चिकित्सालये परिवर्तयेऽस्मद्देशे। सत्यम्,

मा राज्यश्रीरभूत् पुंसः श्रेयस्कामस्य मानद।
स्वजनानुत बन्धून् वा न पश्यति ययान्धदृक्॥ भागवते १०।८४।६४

हन्त! दुराग्रहोऽयमत्याभिनिवेशः। त्रिभुवनराज्यत्यागमहितमहिमनिर्गतितमस्तमे-रागमतर्पणैः कथमिदमीप्सितमित्येवाश्चर्यम्।

---

१ बाजार इति लोके।

येनामन्दमरन्दे दलदरविन्दे दिनान्यनायिषत ।
कुटजे खलु तेने हा ! तेनेहा मधुकरेण कथम् ॥ जगन्नाथः ।

अथ प्रतिशतमेकस्यानर्जितसम्पत्तावधिकारः। व्यापारिपरिग्रहिणौ सगुणौ सधर्मौ परस्पर पोषकौ। एषां मुष्टिमेयमानवानां रक्षायै व्यवस्थायै ये स्वायत्तीकृतपरसम्पदो रक्षणमभिलषन्ति सर्वे क्लिश्यते। एतादृशे वातावरणे कार्यमकुर्वन् धनार्जकश्चौरायित प्रसह्याहरको लुण्ठको वा चतुरो गण्यते, हन्त! दृश्यतां पुञ्जवादे मापदण्डश्चातुर्यस्य। इतश्च रात्रिन्दिवं कार्यं कुर्वन् 'कृत्ता'[1] इत्युच्यमानोऽपि न फलभाक्। अत्र प्रतिशत नवनवतेश्चार्जितसम्पत्ता वेव नाधिकार, कथनाज्ञातहस्त एव तामपहरति। परस्य चानर्जितसम्पत्तौ पराश्रमाधि गतसम्पत्तौ पूर्णाधिकार।

एकत समानेऽपरिश्राम्यतामिन्द्रियाणि व्यर्थतामुपयन्त्यनुपयुज्यमानानि, इतश्चेत रेषामत्युपयोगेन। एतादृशे समाने प्रतिशत नवनवतिर्मनुष्याणां, कठोरश्रमाय बाध्यते, एकश्चानुत्पादकोऽश्राम्यन्ननारत विश्रमाय विषयोपभोगाय सरक्ष्यते। सोऽनीक्षितक्लेशोऽसोढश्रम सर्वेषां श्रमसश्रम बुद्धिमतां बुद्धिश्च क्रीत्वा परैधितो[2] धनेनात्मानप्यतिवर्तते, परं तस्य वास्तविकी स्थिति 'भ्रेय्यतोऽधिका नासीत्। परमद्य स पराश्कन्दी[4]।

विपयरतोऽप्यतिविषम खल इति न मृषा वदन्ति विद्वांस ।
यदय नकुलद्वेषी सकुलद्वेषी सदा कृपण ॥ सुबन्धु ।

स्वामिनोऽज्ञातभावेन हृत द्रव्य चौर्यम्। यथा च कृषकेण श्रमेण तूलमुत्पाद्य प्रतिमुद्र चतुष्प्रस्थ विक्रीतम्। तन्निर्मितानि द्वादश धौतवासासि तेन षट्त्रिंशन्मुद्राभि क्रीतानि। विहङ्गमावलोकनेनास्त्वेका मुद्रा तूलस्य, पञ्च कर्मकराणाम्, पञ्च शासनस्य पञ्च प्रबन्धस्य च, पर विंशतिर्मुद्रा एतादृशेनाज्ञातेन हस्तेनोद्भुक्ता येन न क्षेत्रमवलोकितम्, न निर्माणशालाश्रमोऽनुभूत, नचालेखन कृतम्। एतच्चौर्यम्। किन्त्वेतच्चौर्यं व्यापारिकम्, सुसङ्घटितम्, समाजानुमोदितञ्च। आधुनिकसमाजस्य परिभाषया न स चौर, अपि तु उद्योगपति, जीवजगतो जीवातु।

---

१ वर्कर worker २ पैरासाइट Parasite ३ बैरा Bearer ४ परान् स्कन्तु - शोषयितु शीलमस्य 'स्कन्दिर् गतिशोषणयो' ताच्छील्ये णिनि।

येषां प्राणिवधः क्रीडा नर्म मर्मच्छिदो गिरः ।
कार्यं परोपतापित्वं ते मृत्योरपि मृत्यवः ॥

परमवधार्यताम्, नैतत् प्रबुद्धे भारते चलिष्यति । वयमेतदन्याय्यमसहन्तुं समवेताः । कस्यापि दुरवस्थया कोऽपि व्यथान्वितो न भवेत् । व्यतिक्रमविनाशोऽस्माकमुद्देश्यम् ।

परितो भोगाढ्यां सौवर्णीं लङ्कां यत्र तत्र मुनीनां कङ्कालकूटं रामेण प्रेक्षितम् । तपोधनाः शान्तात्मानः पठनपाठने यजनयाजने ज्ञानविज्ञानविस्फुरणे प्रयतमाना लोकोन्नत्यै विश्वस्य भूत्यै श्राम्यन्तः परोपकारपरायणा मुनयो राक्षसैर्भक्षिताः, जनस्थानमपि तदरण्यतां यत्र, मुनिभूमिरपि सा मृत्युनिकेताभूदिति वाल्मीकिरेव ते । परम्, किं सम्भाव्यते यदेतदन्नं रक्षोभिर्ग्रासितमभूत् ? नहि नहि, अपि तु तेषां निशाचर्या[1] नीतिः । धनेशस्य लघुभ्राता धनलुब्धेन रावणेन शोषिताः शान्ताः शान्तिप्रियाः सविनया मुनयः सम्पीडिताः बहुदुःखा जाताः, शिरास्थिशेषा अवसन्ना दीना नृपेभ्यः करमपि पिण्डमपि दातुं न प्राभवन् । नैते साधनसम्पन्ना दिव्यसिद्धय ऋषयस्तेषां वाचामसामर्थ्यादक्षमत्वात् । अपि तपःस्वच्छनष्टदोषाः प्रजा एव मुनित्वेन वर्णिताः सुशीलत्वात् साधुवृत्तत्वात् । रक्षोराजो रावणो दशग्रीवो द्विदशकरश्च वर्णितः । परं किं सम्भाव्यते यत् कश्चन द्विपाद् दशग्रीवो द्विदशकरश्च भवितुं शक्नोति ? वस्तुतस्तस्य कर्मणः प्रतीकौ पादौ द्वावेवास्ताम्, परं चरमादातुं शासकस्य दुर्मददुर्वृत्तगुणैरुपेतः स विंशतिकरः, दशेन्द्रियविषयानुपभोक्तुं च दशानन आसीत् । अनया सर्वग्रहणलोलुपया शोषणप्रणाल्या तु तापयन्, मथ्नन्, पीडयन्, सुन्दरीराहरन् त्रैलोक्यं रावयामास, अतो रावणनाम्ना प्रसिद्धः । तस्य भ्राता मद्यमांसमहिलाभिरुन्मत्तो लोकव्यवहारविरक्तो न कस्मादपि किमपि शुश्रूषुर्महानिद्रः कुम्भकर्णः[2] इति, परश्च लोकभीषणो विभीषण इति विश्रुतः । जनस्थाने चास्य दुर्वृत्तौ मुख्यौ शासकावास्तां खरो दूषणश्च, इमौ गुणावपि सविग्रहाविव पुरुषवद् वर्णितौ प्राचुर्यात् प्राबल्याच्च । वस्तुतः खरः शासनकाठोर्यम्, दूषणश्च सकलदोषप्रभवत्वम्, जनस्थाने एकयोरेव साम्राज्यमासीदत एव जनस्थानमरण्यतां बभार ।

एवमुदितमनसे रुष्टे दशपाद्–दशेन्द्रियाणि रथा इव (नियतानि वशीकृतानि येन) दशरथ

---

१ निशायाम्–अन्धकारे अज्ञानान्धकारे च चरन्ति–प्रसरन्ति ते निशाचराः स्वेच्छमार्गस्थाः । २ कुम्भे कर्णनाय किमपि फलं लब्धुं यत्नम्, तदेव तत्र ।

कौशल्यायाम्—कुशलकर्मोपेतायां राम प्रसूत । स्वकर्मक्षमसर्वेन्द्रिय एव युक्ततम पुमांसमुत्पादयितु प्रभु । तेन सर्वलोकहितैषिणा त्रैलोक्यरमणाद् राम इत्युपाधिं दधता सर्वा मर्यादा प्रतिष्ठापिता । रमयति विश्व स राम, तस्य स्त्री सीता कृषिप्रतीका राष्ट्रस्याजीविका जनकस्य—उत्पादकस्य पुत्री । एव स त्रैलोक्यरमण सीतां परिणीय स-लक्षण लक्ष्मणम्, विश्वभरणप्रवण विषयानासक्त विरक्त ज्येष्ठानुशासनेऽनुरक्त भरतम्, मर्यादाशत्रूणां हनने शत्रुघ्नञ्च भ्रातृत्वे प्रकल्प्य "साधुतपस्विकण्टक विरावण रावणमुग्रपौरुषम्" निहत्य सर्वत्रानन्द प्रसारयामास । अत एव तस्य पुरी अयोध्या—न केनापि योद्धु योग्या शक्या वाऽऽसीत् । तस्य राज्यमद्युनापि स्मयते । यत्र प्रहृष्टमुदितो लोको हृष्ट पुष्ट सुधार्मिक । निरामयो ह्यरोगश्च दुर्भिक्षभयवर्जित ।। विविधरूपेण भावुकास्त गायन्त्युपश्लोकयन्ति च । यतस्तस्य जीवनं न स्वस्मै, अपि तु लोकरञ्जनाय । एषैव स्थितिर्हिरण्यकशिपो । हिरण्यस्य कशिपु —पर्यङ्को यस्य, यत्र जना जलाय त्रस्तास्तत्र स पर्यङ्कमपि हिरण्मय मकारयत्, एतादृशो दुर्वृत्तो भोगाभिलाषी च, य स्वपुत्रायितान् प्रह्लादमानान्[२] जनान् निष्पीड्य स्वैर विचचारोपेक्षितेश्वरान्तर ईश्वरमानी निरङ्कुश प्रचुरैश्वर्ये । तदा कश्चन नरसिंह एवाज्ञातागमनस्त क्षपयामास । प्रह्लाद इत्यव्यक्त शब्दायमानस्य दु खितसमाजस्योपलक्षणम् ।

एत एव राक्षसा पुरा रक्षका आसन्, आसीच्च तदा सम्मानबोधिका राक्षसपदवी, पर तेषा नृशसव्यवहारेण नैशाचर्या नीत्या च साम्प्रतमधोगति गता महत्तरहरिजनशब्दवत् । एते निशाचरा सामान्यसाधुजनानां शोषणादेव लङ्का सौवर्णी कशिपू श्च हिरण्मयान् कर्तु प्राभवन् । अस्माक सद्भावनारते विरतविद्वेषे सत्कृतिसम्पन्ने शान्तसन्तुष्टजने राष्ट्रेऽभितो दिक्षु दृश्यमानान् प्रासादान् परित कङ्कालकूट ततोऽप्यधिकमैक्षिष्यत यद्यस्मान्नान्यत्रोपयोगो नाभविष्यत् । एकस्यां सौवर्ण्यां लङ्कायां शोषक भोगाभिलाषिण शासक समुच्छेत्तु मर्यादां प्रतिष्ठापयिषू रामोऽवातरत्, परमधुना परित प्रेक्ष्यमाणासु सौवर्णीषु लङ्कायितासु सर्वत सरता रावणायमानानां हिरण्यकशिपूयमानानां स्वानाञ्च कृते मर्यादा प्रतिष्ठापयिषद्भिर्भवद्भिरेव रामरूपेण नरसिंहरूपेण च भवितव्यम् । यतो हि

१ रक्षतीति राक्षस, रक्ष पालने असुन्नन्तात्प्रज्ञाद्यण् । अधुना तु रक्षत्यस्मात् ।
२ अव्यक्त शब्दायमानान् । ह्लाद अव्यक्ते शब्दे । गुर्राते हुए ।

यस्मिन् यथा वर्त्तते यो मनुष्यस्तस्मिंस्तथा वर्त्तितव्यं स धर्मः ।
मायाचारो मायया वारणीयः साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयः ॥

नूनं नानामदोन्नद्धाः शान्ति नेच्छन्त्यसाधवः ।
तेषां हि प्रशमो दण्डः पशूनां लगुडो यथा ॥ भागवते १०।६८।३१

नैतत् सम्भाव्यते यदेते बोधनेन सत्पथे समागमिष्यन्ति ।

भूयोऽपि सिक्तः पयसा घृतेन न निम्बवृक्षो मधुरत्वमेति ।

परमेते भ्रान्ताः समाजेनोपेक्ष्यमाणाः सम्भ्रान्ताः । भ्रान्तानामभ्युदयो दयापात्राणां सत्पुरुषैरेष्टव्य एव । यतः—

रुद्रोऽद्रिं जलधिं हरिर्द्विविपदो दूरे विहायाश्रिताः
भोगीन्द्राः प्रबला अपि प्रथमतः पातालमूले स्थिताः ।
लीना पद्मवने सरोजनिलया मन्येऽर्थिसार्थाद्भिया,
दीनोद्धारपरायणाः कलियुगे सत्पूरुषाः केवलम् ॥

जिह्वायां दन्तैर्दष्टायां न कोऽपि कुप्यत्यभेदात् । एतेऽप्यस्मद्वर्णमदाविष्टाः । एष मद एषामपनेयो येनाप्रकृतिलीनवस्थां विहाय प्राकृतिकीं दशां भजेयुः । "असतः श्रीमदान्धस्य दारिद्र्यं परमाञ्जनम्" । भागवते १०।१०।१३ । एष उत्सुकोऽवसरः । समुद्रादुद्धृत्य देवेषु गतायां श्रियां या स्थितिर्दैत्यानामासीत् सैवाद्या-स्माकं धनिनाम् । "अन्तरापाति हि श्रेयः कार्यसम्पत्तिसूचकम् ।"

भेदभावनायां परकीयभावनायां तीव्रायां विपन्नता, तस्याल्पायामल्पतराया-मल्पतमायाञ्च क्रमशः सम्पन्नता । सर्वेभ्यः समाना प्राप्तिरभेदभावस्य पक्व-तायामद्वैतभावस्याभिवृद्धावेव भवति, स एवास्माकं साध्यः, विरोधपरिहारः, सर्वत्र समत्वापादनम्, कर्त्तव्यबुद्ध्या प्रदर्शनरहितं सहजं कर्म च । किन्तु सेवकानां माता किं तत्तन्मु विवरणं प्रकाशयति ? माता सेवाया आदर्शः । नमोभूय पुरा समुदीयमानः किमुदीयते ? अहं तानोऽपदर्शयिष्यामि, पश्चिमः प्रेरयिष्यामि, लोकान् कर्मणि योजयिष्यामि परमेतत्तस्य सत्तया स्वतो भवत्येव । परमिदं प्रसरत्, विविधरूपैः

किमेतदेव पुण्यम्? एष एव धर्मः? पुण्यानुष्ठायिनामेतदेव लक्ष्म? अर्जिततपसामधिगततपःफलानां तापसानामेष एव भावः?

भुज्यन्ते स्वगृहस्थितैरिव सुखं यस्यार्थिभिः सम्पदः
पट्वी यस्य मतिः तम.प्रहृतये द्वावेव तौ प्राणितः।
यस्त्वात्मम्भरिरुन्नतेऽपि विभवे हीनश्च विद्वत्तया
तस्यालेख्यमणेरिवाकृतिधृतः सत्ताप्यसत्ता ननु॥

स्वामिने सम्पत्कूट चिन्वतामनपराधिनां भृत्यानामपि धनजिघृक्षयाऽपराधमुद्घोष्य धनमादाय भविष्यद्बाधानिरोधाय तान् कारायां निरोधयत्सु क्वाथ दया, क्व क्षमा, क्व धर्मः, क्वौदार्यम्, क्व दाक्षिण्यम्, क्व च लज्जा?

परवादे दशवदनः पररन्ध्रनिरीक्षणे सहस्राक्षः।
सद्वृत्तवृत्तिहरणे बाहुसहस्रार्जुनो नीचः॥

धार्मिकम्मन्यानां ग्रन्थेषु, यांस्ते परमात्मकृतान् कथयन्ति, द्रव्यं सर्वसङ्कटानां पदम्, अपद पुण्यस्य, निषिद्धमग्राह्यमुक्तम्। द्रव्यवतामहमप्राप्य इति भगवानाह। "यस्याहमनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धन शनैः"। सङ्ग्रह ईश्वरोपासनायाः सर्वथा प्रतिकूलः।

ऐश्वर्यं विपदां बीजं प्रच्छन्नं ज्ञानवारणम्।
मुक्तिमार्गार्गलं दार्ढ्यं हरिभक्तिव्यपायकम्॥

ब्रह्मवैवर्तपुराण प्र० ख० ३६।४८

परं तदपि धार्मिकम्मन्याः समाजेनोच्यमाना ईश्वरप्रियाः देवानां प्रियाः परोन्नतिप्रद्वेन धर्मानुत्सृज्य अन्यायेन धनमर्जयन्ति। विशाला दुर्गाश्रिताः प्रासादाः, अधिलक्ष्यजनरोधीनि च यन्त्राणि सन्तोषस्य चरमनिवानसरतं विदधति सर्वतः घोद्घोषमवलोकयन्ते, मत्स्यानिवस्तम्भाय रक्षार्थां कुक्कुराणामिव सम्प्रदर्पस्त्वाम्रखण्डाय सकर्णस्फोटं धयवे। पारस्परिकव्यवहारे स्वल्पमात्रयापि यदि स्नेहसहानुभूत्यौ व्यवाहरिष्येताम्, तदा विकसिताभ्यन्तरच्छिन्नपेक्षितं हृदयं कार्यक्षमताय प्रदर्शयितुं धर्मकोऽवश्यत्, तत्सर्पर्धापि नामविम्पत्, परम्, क्व प्रबलया भोगलिप्सया कठोरात्माचारैर्वानुकम्पनामिव तल्लयीत-सपनोऽपनैरेवं व्यवहर्तं सज्जः? विघटनप्रिया निष्ठुरा भ्रान्ताः सङ्कीर्णविचाराः

स्वार्थान्धाः स्वामिनो दासतामापन्ना लोभनाः कृतान्तस्य दूता इव प्रतनुवंशोद्भवदर्पगर्वा बर्बरा विनाशोन्मुखाः श्रमिके सहानर्थं दुर्व्यवहरन्ति ।

परक्षतक्षोदविनोदलीलाः खलाश्च काकाश्च यदृच्छयैव ।
पात्रेऽप्यपात्रेऽपि विगर्हणीयां वाचं च विष्ठां च समुत्सृजन्ति ॥

सोमेश्वरदेवः ।

आः । कष्टम् । धुवे ॥

एकः स एव जीवति हृदयविहीनोऽपि सहृदयो राहुः ।
यो निखिललघिमकारणमुदरं न बिभर्ति दुष्पूरम् ॥

पदाहतं रजोऽपि मूर्धानमधिरोहति, तदा कथं न स्याच्चेतने दुर्निवारव्यथे समुत्पीडिते मानवे मन्युः ? अस्तु, चरित्रमेतेषां श्रवणमिलनविज्ञानां पोट्टल्या सह समवेतानां घटकानां[1] वर्णनेनानुमातुं शक्यते, यत्रार्थता पतितमुररीकृत्य पतनम्, वर्णाश्रमाचारोऽनाचरितमिश्रः क्षारधिम्, भारतीसता यवनाक् सत्येन सह रसातलं प्रविविक्षति । नय नश्यते, दया दूयते, मानो म्रियते, मौनं चोत्क्रुश्यते, आर्जवं मर्ज्यते, ब्रह्मचर्यं जिह्रेति, माया रोदिति, द्यौः प्रक्षिपति, पृथ्वी प्रेङ्खति, पापं प्राचर्टति, पावित्र्यमुपेधते, सूत्रं क्षोपति, कष्टं कष्टायते, मनीषा शेते, यशः स्वं जुगुरति । कन्यायै याचते म्रियमाणाय वा बुभुक्षिताय दिवसम्, सम्पत्तिप्रचाराय ज्ञानविज्ञानयोरौन्नत्यै च प्रार्थितः सर्वदा सम्प्राप्तार्थहानिः, परं स्वर्णकोटाय सर्वस्वं त्यक्तुं सर्वदा सज्जः । प्राग्भवलक्षितशतशो यस्य विविधं यान्त्रायुधानां धुरन्धराघ्नान्तश्चराः प्रादुर्भावं चरन्ति । यत्र तत्र वैज्ञानिकमहदस्त्रागारस्य कलानिकेतनस्य सत्कलापरिषदो मनोरञ्जनशालाया नैशभोजनशालायाश्च निर्माणाभिनवप्रकाराणि व्यभिचारगृहाणि सन्नेपथ्ये, यत्र स्वैरवाहवदनमदस्विन्नेन्दीवरमदाः कृष्णपक्षमलक्ष्मो नृत्यावलिलोलनधोज्ज्वलचतुरनितम्बा मृदुस्तनोरसकम्बाहुलीकस्तनीरलनमुखो नखोद्यूतोत्थविहसितशकोत्पलाः स्मिताचनवज्योत्स्ना गतवहत्हृदयाः कलपुष्टालकेशोत्कारस्फुरन्मनिर्ह्रियुगितानाः खञ्जरीटनयनाः सालस्वेदोद्गतमर्मा मल्लिकाद्युतमालन्दपो विद्युल्लताकन्दलीभास्वराः कलधौतकलेवरा अर्वाङ्निर्घृतयौवना भुवनाभाः पारस्परार्थभूतलस्थाः श्यामोदरः सुकुमार्यः

1 दलाल ।

कुमार्यो जोषमधुस्तु तिलपितकपोलवक्षसो जीवनं कदर्थयन्ति । यत्र काशशीतांशुसंकाश-केशाः कर्पूरस्फटिकेन्दुसुन्दरावदाताभ्रुव प्रवचनधना धनोद्दामधामानोऽहीनभोगा महीन-भोगाखर्वचेतसो वर्षीयांसो धनिनो मकरन्दस्यन्दिनीं मधुरस्वरलहरीमाकर्णयितुकामाः कुमारीकीर्त्तिकौमुदीकलङ्कनकल्मषकलुषितकलेवराः काककामुकाः प्रकाम प्रेक्ष्यन्ते ।

अनर्थार्गताम्, एतदपहृत्यमेकदा राष्ट्रस्य विनाशाय समर्थम् ।

प्रात समधिगतधन सायं निर्धनः स्वपिति मन्दभाग्य । स किं प्रात पुण्यकर्मा सायञ्च प्रनष्टपुण्य ? पुनरपरस्मिन्नहनि चाधिगतपुण्यफल ? वस्तुतो यावन्ति चञ्चलानि तावन्तो मुद्राः । शतचञ्चलश्शतपति, सहस्रचञ्चल सहस्रपति, लक्षचञ्चलो लक्षपति, कोटिचञ्चल कोटिपति, तदूर्ध्वं तु चञ्चलात्मक । पतित्व हि स्वाधीनवस्तुन एव सम्भवति, धनं हि स्वाधीन न द्रव्यम्, तस्य गमनशीलत्वात् । अत कोटिपतिशब्देन कोटिचञ्चलतिबौद्धव्य । 'शाकपार्थिवादित्वात्समास' ।

मानः कस्य न वल्लभः ? परमुखप्रेक्षित्वदुःस्था स्थितिः
कस्य प्रीतिकरी ? त्रपाभरनतं कस्मै शिरो रोचते ?
किन्तु स्वामिनि सावलेपहृदये दासीकृताः शत्रुभिः
क्षुद्रानद्यतनेश्वरान् धनमदक्षीबान् निषेवामहे ॥

वस्तुतो ये सु=सुखं शान्ति=ददति ते सुराज्ञ्यमित्रा असुराः।

अत्यन्तं धनं संयोगाद् केवलम्, कष्टाल्लब्धम्, पुण्याक्षरञ्च। तत्पुण्यस्य फलम्। अथ च पुण्यैरेव लभ्यते, कृच्छ्रं प्रयत्नेन तदेव फलं वेद, निधनधनदर्शनादिभिरप्येव प्राप्यते चेद् धनमसौ दद्यात्ततः पुण्यम्, यस्य चास्य रसातले तथा निखातं भवेद् यथा प्रत्यान्तेऽपि नोपयुज्येत। विद्याधनम्, पशुधनम्, कृषिधनम्, कलाधनं पुरा धनत्वेनाख्यमासीत्, साम्प्रतं। अद्य विनिमयसाधनानि मुद्रितानि कर्गदखण्डानि धनपदस्य वाच्यानि ? आश्चर्यम् !

अथ विलोक्यं गुणमनस्विनः पाण्डित्यगरिमसंभावितवितरत्तनवरनवीनकल्पनिनः सारस्वतसमाराधनैकलक्ष्या गुणोन्नमिता विद्वांसो धनमदोन्मत्तजनाहङ्कारदातधियो गौरवादिवेषु स्थलेषु निवसन्ति वार्धौ वृत्तिमाश्रिता दरिद्राः। एवं राष्ट्रस्य विभूतयो वार्धके विविधव्याधिकल्लोलैरुच्चावचविक्लान्ता औषधोपयोगाय स्वयमसमर्थाः श्लेष्मनिष्ठ्यूतपूरितकण्ठिका वयः क्षपयन्ति, परं न कञ्चन याचन्ते—

विषमदशां गता अपि बुधाः परिभवमिश्रां श्रियं न वाञ्छन्ति ।
न पिबन्ति भौममम्भः सरजस्कं चातका हन्त ॥

एवं तपस्विनो विद्वांस एव सीदन्ति, तद् राष्ट्रमनोऽपर्याप्तवित्तैव वसुधा दित्वा उपस्थापिता संरक्षितापि च। इत्थं सर्वथैव नवद्योऽप्यर्थापितमानना अपि मर्कोविदितागमा यथा सन्निधिन्ते यत्र तत्रैवाविभागः प्रत्ययप्रसक्तोऽनर्थो भवति। तदयाचारविहीने कश्चन धार्मिकोऽर्थवास्तवतदा विनिश्चतो स्थितिरवतिष्ठत ?

धिगस्त्वेषा विद्या धिगपि कविता धिक् सुजनता
वयो रूपं धिग् धिग् धिगपि च कुलं दुर्गतिमताम् ।
असौ जीयादेकः सकलगुणहीनोऽपि धनवान्
बहिर्यस्य द्वारि तृणलवसमाः सन्ति गुणिनः ॥

कुमार्यो ज्योमभ्रूस्तिस्नपितकपोलवक्षसो जीवनं कदर्थयन्ति । यत्र काशशीतांशुसंकाश-केशाः कर्पूरस्फटिकेन्दुसुन्दरावदातभ्रुवः प्रवचनधना धनोद्दामधामानोऽहीनभोगा महीन-भोगास्तर्पचेतसो वर्षीयांसो धनिनो मकरन्दस्यन्दिनीं मधुरस्वरलहरीमाकर्णयितुकामाः कुमारीकीर्त्तिकौमुदीकलङ्कनकल्मषकलुषितकलेवराः काककामुकाः प्रकामं प्रेक्ष्यन्ते ।

अवधार्यताम्, एतदपकृत्यमेकदा राष्ट्रस्य विनाशाय समर्थम् ।

प्रातः समधिगतधनः सायं निर्धनः स्वपिति मन्दभाग्यः । स किं प्रातः पुण्यकर्मा सायञ्च प्रनष्टपुण्यः ? पुनरपरस्मिन्नहे चाधिगतपुण्यफलः ? वस्तुतो यावन्ति च्छलानि तावत्यो मुद्राः । शतच्छलश्शतपतिः, सहस्रच्छलः सहस्रपतिः, लक्षच्छलो लक्षपतिः, कोटिच्छलः कोटिपतिः, तदूर्ध्वं तु च्छलात्मकः । पतित्वं हि स्वाधीनवस्तुन एव सम्भवति, छलं हि स्वाधीनं न द्रव्यम्, तस्य गमनशीलत्वात् । अतः कोटिपतिशब्देन कोटिच्छलपतिर्बोद्धव्यः । 'शाकपार्थिवादित्वात्समासः' ।

कूटकलाशतशिबिरैर्जनधनविवरैः क्षयक्षपातिमिरैः ।
दिविरैरेव समस्ता ग्रस्ता जनता न कालेन ॥ क्षेमेन्द्रः ।

नाद्यैवां सम्मानवाचकत्वं राक्षसशब्दवत् । राक्षसा एव स्तुतिप्रियाः[1] ।

यन्नोपकारकं यन्न भूषणं यत् प्रकोपमातनुते ।
गुरुणापि तेन कार्यं पदेन किं श्लीपदेनेव ॥ गोवर्धनाचार्यः ।

वस्तुत एतान् संस्कृतिविनाशकानां साधुसद्वृत्तपरिस्थितिपीडितमुनिजनायितानां रक्तपिपासूनां स्वार्थान्धानां देवद्विजदरिद्रापाङ्गविधवावराकलुण्टाकानां पर्यायान् उद्बुद्धा मन्वते, परिस्थितिपीडिता नापि वक्तुं शक्नुयुः । परिस्थितिपीडितेन केनापि सत्यमेवोक्तम्—

---

1 दोष्यतिर्देशार्थं, दशैव चामरे देवभेदाः । क्रमशश्चार्थोपलब्धिः । देवः = क्रीडा-प्रियः । विद्याधरः = विजिगीषुभावापन्नः । अप्सरा = व्यवहारवित्तः । यक्षः = द्युति-प्रियः । रक्षः = स्तुतिप्रियम् । गन्धर्वः = मोदी । किन्नरः = मदासक्तः । पिशाचः = स्वप्नाभिलापी, स्वप्न इत्यज्ञानोपलक्षणम् । गुह्यकः = कामी । सिद्धः = अव्याहतगतिः । वैकल्पिकः प्रायशः सर्वगुणोपेतः ।

मानः कस्य न वल्लभः ? परमुखप्रेक्षित्वदुःस्था स्थितिः
कस्य प्रीतिकरी ? त्रपाभरनतं कस्मै शिरो रोचते ?
किन्तु स्वामिनि सावलेपहृदये दासीकृताः शत्रुभिः
क्षुद्रानद्यधनेश्वरान् धनमदक्षीबान् निषेवामहे ॥

वस्तुतो ये सु=सुखं रान्ति=ददति ते सुरास्तद्भिन्ना असुराः।

अद्यतन धर्मसंयोगात् केवलम्, काष्ठवाल्कवत्, घुणाक्षरवच्च। नतत्पुण्यस्य फलम्। अथ च पुण्येनैतदेव लभ्यते, कृच्छ्रतपसश्चैतदेव फलं चेत्, नियमयमदमादिभिरेतदेव प्राप्यते चेद् दावाग्नौ दहत्वेतत्तपः पुण्यञ्च, भस्म चास्य रसातले तथा निखातं भवेद् यथा प्रलयान्तेऽपि नोपर्युपेयात्। विद्याधनम्, पशुधनम्, कृषिधनम्, कलाधनं पुरा धनपदवाच्यमासीत्, परमहो! अद्य विनिमयसाधनानि मुद्रितानि कर्गदखण्डानि धनपदव्यवहार्याणि ? आश्चर्यम्!

अद्य निर्मायं गुणग्रन्थिनः पादपांसुरसिर्घोषावितपतितरत्ननपरमपीवरपापिनः सारस्वतरसास्वादैकफला मुनीयमाना विद्वांसो धनवृद्धेभिवत् नहुङ्कारकातरधियो रौरवायितेषु स्थानेषु निवसन्ति वार्त्तावृत्तिमाश्रिता दरिद्राः। एता राष्ट्रस्य विभूतयो वार्द्धके विविधवातिकश्लेष्मिकव्याधिविपन्ना औषधोपयोगायाप्यपारयन्तः श्लेष्मकिट्टघाणपूर्णितमस्तिष्का वयः क्षपयन्ति, परं न कञ्चन याचन्ते—

विषमगता अपि बुधाः परिभवमिश्रां श्रियं न वाञ्छन्ति।
न पिबन्ति भौममम्भः सरजस्कं चातका ह्येते ॥

यत्र तपस्विनो विद्वांस एव सीदन्ति, तद् राष्ट्रमुन्नेष्यतीत्याशैव खपुष्पायिता शशशृङ्गायिता सैकततैलायिता च। इतश्च चलचित्तनदुपाऽप्रयाचितागमना अपि महोविदितागमा यथा सन्तिष्यन्ते यजनसेवाविभागः प्रबन्धव्यासकोऽशको नर्त्तते। तदनाचारविहाने कश्चन धानिकोऽस्थास्यत्तदा किमेतादृशी स्थितिरभविष्यत् ?

धिगस्त्वेषा विद्या, धिगपि कविता धिक् सुजनतां
वयो रूपं धिग् धिग् धिगपि च कुलं दुर्गतिमताम्।
असौ जीयादेकः सकलगुणहीनोऽपि धनवान्
बहिर्यस्य द्वारि तृणलवसमाः सन्ति गुणिनः ॥

एकस्मिन् भवगहने तृणपल्लवलयजालसंछन्नः।
कूपः पतन्ति यस्मिन् मुग्धकुरङ्गा निरालम्बे॥ क्षेमेन्द्रः।

एव दीनश्रमिकस्त्रोदुरवस्थां विज्ञाय स्वल्पेन मूल्याभेन क्रीत्वा तेभ्य एव महार्घं विक्रीणीते। एष एव मृत्स्नास्थाने सिकता नवनवलभीस्थाने क्षीर्णां लौहवलभी-मुपयुज्य, जीवनरक्षकेष्वौषधेषु यत्किञ्चित् सम्मिश्र्य, शर्करायां विचूर्णितं काचम्, गोधूम-चूर्णे तिन्तिडीकबीजचूर्णम्, पयसि पानीयमनेकविधं चूर्णान्तरञ्च, मरिचेष्विष्टकाचूर्णम्, हरिद्रायां पीतां मृदम्, घृते वसां तैलान्तराणि च सम्मिश्र्य राष्ट्रस्य जनान् कोटिशो वधव विनाशयितुं कृतापबुद्धिः। एवमनन्त स्निग्धः सिक्तश्च तरुणकच इव नीचो न कौटिल्यं विजहाति। सत्यम्, तस्करस्य कुतो धर्मः।

मातरं पितरं पुत्रं भ्रातरं वा सुहृत्तमम्।
लोभाविष्टो नरो हन्ति स्वामिनञ्च सहोदरम्॥

परम्, किमनेन राष्ट्रमुन्नेतुं शक्यते? गृह दग्ध्वा इङ्गालकानां मूल्य सलयितुं शक्यते किम्? परिवार परिसमाप्यान्नं सुलभ विधातुमभिलष्यते किम्? यथार्थतम्, सुनीतेरेव ध्रुवोत्पत्तिर्भवति। सम्पत्तेः परलोपयोगो यथासम्भवमधिकाधिक स्वल्पानां स्वप्रमाणां प्रसन्नचेतसां चिरस्थिरतरायुषां विदुषां संख्या भवति। परमद्य—

उष्णं निःश्वसिति क्षितिं विलिखति प्रस्तौति न प्रेयसः
प्रीतिं सूक्तिभिरीरितुः करतले धत्ते कपोलस्थलीम्।
वाग्देवी हृदयज्वरेण गुरुणाऽऽक्रान्ता इवाशैर्वृथा
नीताऽऽविष्कृतकोपनिष्कृपनृपस्तोत्रत्रपापात्रताम्॥

परिश्राम्यते पूर्णे पारिश्रमिके दत्ते सतोषं तस्मिन् पूर्णोदरे च दानाभ्यर्थस्य सदुपयोगं वीक्ष्य हर्षितव्यम्। द्रव्यस्यानावश्यकः सङ्ग्रहश्च न भवति, भवति चासुलभायाः समाजेऽस्वस्ता। परमद्य हन्त। अनुना सर्वमासिनार्थविकारेण जीवन्मृताः सनेत्रान्धाः सवाङ्मूका असनस्विनो मानवाः, कृशकाया गर्तगतलोचनाः स्वातकपोल विशिथिल-भुजस्कन्धा विशतवयसः कुब्जाः समाजस्य चलाः कलङ्का युवानश्च निर्मिताः। हन्त। कीदृशी विडम्बना। शास्त्रैः प्रतिबोध्यमानैरप्यस्माभिरशर्मनिरतेन गृहीतः।

निद्राति स्नाति भुङ्क्ते भ्रमति कचभरं शोषयत्यन्तरास्ते
दीव्यत्यक्षैर्न चायं गदितुमवसरो भूय आयाहि याहि।
इत्युद्दण्डै प्रभूणामसकृदधिगतान् वारितान् द्वारि पालैः
पश्यास्मानब्धिकन्ये। सरसिरुहरुचामन्तरङ्गैरपाङ्गैः ॥

परमद्य धूर्त्ता धर्मस्य ढक्कां केवलं नादयन्ति बकभक्ता न च धर्मं चरन्ति। समाज समत्वाय गुणकर्मविभागशश्चातुर्वर्ण्यं चतुरेण सृष्टम्। परम् शिरो बदरीफलायते, भुजाविपीकायेते, पादौ शलाकायेते, केवलमुदरं दानप्रापणकर्म रिक्ततार्धमं सुरसारोरमिव भूगोलार्द्धभागमिव वैधते।

विवेकहीना समभावोत्पादकं सर्वाभ्युदयमहितकरं मन्यन्ते। नैतत्साम्यम्, यत्सर्वे परिमार्जनं गृहनिर्माणं वा कुर्युः प्रस्थ वा भक्षयेयुरिति। किन्तु सर्वे स्वस्वयोग्यतानुसारि कर्म कुर्वाणा राष्ट्रतो जीवनोपयोगि योग्यतावर्द्धकञ्च साधनं समानं लभेरन्।

धनबलेन स्थापिता सत्ताऽपूर्णा सन्दिग्धा च, पारस्परिकनिष्ठया समत्वे स्थापिता च स्थायिनी प्रभावोत्पादिका च। सा यदि प्रतितिष्ठेत्तदा प्रतिदिनं प्रेक्ष्यमाणो घोरः पारस्परिक सङ्घर्षो विनश्येत्। अयायमर्थविकारः शारीरिको रक्तविकार इव समस्तं राष्ट्रं देहमिव दूषयति। अनेनार्थविकारेण प्रवृद्धेन रक्तस्य चापेनेव समाजस्य पक्षाघातः समजनि, हसितेन च रक्ताल्पता। एष समये समये श्रमिकान् प्रलोभ्य वञ्चयति कल्पवृक्षोद्यानानि प्रदर्श्य तान् विनाशयति वशीं नादयित्वा कस्तूरीमृगमिव मोहयित्वा हन्ति। परमिदं ध्येयं यद् यो दरिद्रान् दुर्गमयति तस्य दुर्गतिर्ध्रुवा।

विश्वास्य मधुरवचनैः साधून् ये वञ्चयन्ति नम्रतमाः।
तानपि दधासि मातः काश्यपि। यातस्तवापि हि विवेकः ॥ जगन्नाथः।

स्वकार्ये सिषाधयिषु पुच्छवादी नम्रः, सिद्धौ च राक्षसः। दम्भोऽभिमानश्च पुच्छवादस्वभावः।

मत्स्यस्येवाप्सु सदा दम्भस्य ज्ञायते गतिः केन।
नास्य करौ न च पादौ न शिरो दुर्लक्ष्य एवासौ ॥ क्षेमेन्द्रः।

एकस्मिन् भवगहने तृणपल्लवबलयजालसंछन्नः।
कूपः पतन्ति यस्मिन् मुग्धकुरङ्गा निरालम्बे॥ क्षेमेन्द्रः।

एष दीनधनिकरक्तोद्दुरवरयां विक्रीय स्वल्पेन मूल्येन क्रीत्वा तेनैव महार्घं विक्रीणीते। एष एव कुन्तलस्थाने सिकता नवनवनीतस्थाने चीनां लौहरक्तमौ-मुखमुक्ता, वर्तनादकेश्योषधेषु यत्किंचित् सन्निधाय, शर्करायां विचूर्णितं काचम्, गोधूम-चूर्णे तिन्तिडीकबीजचूर्णम्, पयसि पानीयमनेकविधं चूर्णान्तरञ्च, मरिचेषु पिष्टबदरचूर्णम्, हरिद्रायां पीतां मृदम्, घृते वसां तैलान्तराणि च सम्मिश्रय तण्डुल जनान् कोटिशो वञ्च विनाशयितुं कृताध्यवसायः। एवमनन्तं लिङ्गः स्थितश्च तदनन्तरं इव नीचो न कौटिल्यं विजहाति। सत्यम्, तस्करस्य कुतो धर्मः।

मातरं पितरं पुत्रं भ्रातरं वा सुहृत्तमम्।
लोभाविष्टो नरो हन्ति स्वामिनञ्च सहोदरम्॥

सत्यम्, किमनेन राज्ञमुन्नेतुं शक्यते? नहं दृष्ट्वा इहाल्पकानां मूल्य स्तम्भितुं शक्यते किम्? परिवार परिजनान्नं मुक्त्वा वितानुमनिलम्यते किम्? अत्रावसितम्, मुनीनेरेव प्रवृत्तिर्भवति। सम्प्रति परमोत्सवो मदसम्भवनविकारादिक सम्प्रतीं सम्भावां प्रवचेतसां चित्तस्थिरतायुतां विद्युतां रहस्या भवति। परमथ—

उष्णं निःश्वसिति क्षिपति विलिखति प्रस्तौति न प्रेयसः
प्रीतिं सूक्तिभिरीरितुः करतले धत्ते कपोलस्थलीम्।
वाग्देवी हृदयस्वरेण गुरुणाऽऽक्रान्ता वृथा
नीताऽऽविष्कृतकोपनिष्कृपनृपक्लोभरपापाग्रताम्॥

परिवास्यते पूर्वं सारिथलिके दत्ते स्तोत्रे तस्मिन् पूर्णोदरे च दानाम्बरस्य सदुपयोगं वीक्ष्य हर्षितव्यम्। दृश्यस्थानावलम्बः सञ्जहृदय न भवति, भवति चामुदन्ताः धनाशेऽस्या। परमय हन्त! अमुना सम्पर्कितार्थविचारेण घोवन्त्याः सनेवान्याः सरल्मुक्ता अननन्तिनो मानराः, कृशकाया गर्तगतलोचनाः उत्कम्पेन शिथिलित-मुखरूपा विगतप्रभाः कृशाः समावस्य सदा कलत्र पुत्रश्च निःशिताः। हन्त! घोरो विडम्बना। यास्तैः प्रतिबोध्यमनैश्चरत्ने मिथ्यमनिश्चलेन गृहीतः।

शरणे सभुजङ्गमे स्वपन् प्रतिबुद्धेन परेण बोधितः ।
तरुणः खलु जातविभ्रमः स्वयमुमं भुजगं जिघृक्षति ॥ अश्वघोष ।

विशालस्याकाशस्याधो द्योतमानाना चन्द्रतारकाणां प्रकाशम्, शीत मन्दं प्रवहतो वायो शान्तसृष्टेश्चानन्द विमुच्य क कारायिते गृहकोणे विद्युद्व्यजनवाते वासोऽस्माभिरङ्गीकृत । हन्त ! सत्य आनन्द एवाद्य पुञ्जवादपूरे प्रौढ । मञ्चनटीषु वेश्यासु वानरभल्लूकप्रदर्शनेषु निपतन्ति मानवा आनन्द लिप्सवो दुष्काले बुभुक्षिता अन्नकणेष्विव । अहो ! आनन्दाभावे प्रतिच्छायायामेवानन्दमनुबुभूषति मुग्ध । अस्माक जीवने क्वाद्योत्साह ? वय श्वसिमो यतो हि प्राणा न निर्यान्ति । पर जीवने जीवन नास्ति, उत्साहस्य मानसशक्तेश्चाभाव । कलाहीन नवीनताविहीन भावनारहित रोरुद्यमान जीवनम् । किमेतदपि जीवनम् ?

वयमार्या । आर्यसंस्कृतेः प्रसाराय वयमेवाधिकृता । अस्माभिर्बहवो भोगा भुक्ता पर तृष्णाद्युनापि युवतिरेव ।

या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्जीर्यतो या न जीर्यति ।
ता तृष्णा दुःखनिवहां शर्मकामो द्रुतं त्यजेत् ॥ भागवते ९।१९।१६

अवधार्यताम्, अस्माक माहात्म्य त्यागेनैव ननु भोगेन । जठरं को न बिभर्ति केवलम् । भोगैर्विषया न शमितु पार्य्यन्ते । अथ च यदि वयं भोगान्न त्यक्ष्यामस्तदा भोगा अस्मान् विहाय व्रजिष्यन्ति । यदि वय प्रजानां क्षेमं न साधयिष्यामस्तदा प्रजा स्वतस्तत् साधयिष्यन्ति । तदा क्वास्माक वैशिष्ट्यम्, क च सम्मान, किञ्च गरीयसोऽध्ययनस्य फलम् ?

यातो मय्यचिरान्निदाघमिहिरज्वालाशतैः शुष्कतां
गन्ता कं प्रति पान्थसन्ततिरियं सन्तापमालाकुला ।
एवं यस्य निरन्तराधिपटलैर्नित्यं वपुः क्षीयते
धन्यं जीवनमस्य मार्गसरसो धिग् वारिधीनां जनु ॥

एष धनप्रयासदपक्लता । भूमण्डले बहूनि राष्ट्राणि जागरितानि । दरीचर्यौ जातयोऽ-

प्युक्तज्ञाना जाताः। अस्माभिरपि जागरितव्यम्, योऽकव्यव विश्वस्य भूत्यै। सततो-पकारनिरतमनसो भवादृशा एवादो महत् कर्म कर्त्तुं क्षमाः।

उद्धृतौ भवति कस्य वा भुवः श्रीवराहमपहाय योग्यता। माघः।

एषा च सत्संस्कारस्य दिव्यधारा समस्तजीवने सततं प्रवहेत्। प्रवहणञ्चैकस्यां दिशि। पर्वते पतितं पानीयं शतमार्गेभ्यः प्रवहन्न सरितं निर्मातुं प्रभवेत्। तदेव चैकस्यां दिशि प्रवहत् स्रोतो भूत्वा धारारूपेण नदीरूपेण परिणम्य समुद्रमिव स्वोद्देश्यं प्राप्तुं समर्थम्। एषैव स्थितिः सत्काराणाम्। जलं हि निम्ने सर्वतः धृत्वा छिद्रं रचयति। प्रथमतो भूमेः पोषण निरुन्धदुर्वराशक्तिं ह्रासयति, द्वितीयतश्चैकत्रीभूत विषाक्तवायुं प्रसारयन् मशकान् प्रकाममुत्पाद्य विषमज्वरमापादयति। अतो लोकहिताय जलहिताय च तस्य सर्वस्मिन् भूभागे विभाजनमेव वरम्। एवमेव द्रव्यस्य। द्रव्यं हि 'द्रु गतौ' धातोर्व्युत्पन्नम्, गतिशीलता तस्य प्रधानं धर्मः। निरोधे व्यापत्।

विविधव्याजहृतलोकधनोऽनुत्पादकः स्वतो ह्रियमनुभूय, चोरयमाणः परैर्दृष्टो दानमिषेण ह्रिय दोषं परिहरन्निव स्वामित्वं निराकुर्वन् स्वत्वं त्यजेत्। वस्तुतोऽ-परिश्राम्यत उपभोगेऽधिकार एव कथम्? बुभुक्षिताः पक्षिणः स्वयमाहाराय यतन्ते। क्षुधार्त्तस्य क्षुच्छान्तिः स्वयं भोजनेनैव। कर्त्तैव सर्वत्र फलभाक्।

समाजो हि सहयोगिनां सहकर्मिणां पारस्परिकभावपूर्णः सामञ्जस्ये सामरस्ये च समाश्रितः समुदायः। परमद्य तस्मिन् केचनासहकर्माणोऽनुत्पाद्यापि सर्वाधिकं विघ्न-जीविनश्च भूता व्यपेतलज्जाः। एतानन्तरेण न कापि समाजे क्षतिः। यथा च—

(१) न्यासोपजीवी—कस्यापि शतमुद्रं भूषणं क्षेत्रं गृहं पत्रादि वा न्यस्य आवश्यकतापीडिताय पञ्चाशन्मुद्रा ददाति न्यासधरः। एतस्य कुसीदं दश मुद्राः प्रतिमासम्। न्यासावर्त्तनावधिमासत्रयम्। परिस्थितिपीडितो न्यासकरोऽवधिमध्ये कथमपि न्यासं प्रत्यावर्त्तयितुं न समर्थः। न्यासधरस्य कुसीदचक्रादृपा यथा प्रतिक्षणमेधते, स्वत्वस्य तथैव ह्रासः। अत एव स महाजनः। जनो दृश्यमानोऽप्यजनः[1]—जनेतरः—मानवोचितगुणरहितः, सोऽपि न सामान्योऽपि तु महान्। अथवा 'अज गतिक्षेपणयोः'—अजनः। न्यासेन सह न्यासधरस्यात्मसात्करणे सस्पृहः सफलश्च, सोऽपि महान्।

---

१ पर्युदासो नञ्।

दस्युराजस्तु सम्पन्नेभ्योऽपहरति, पामय तु वराकानकिञ्चनान्,अभद्रभागान्, भग्नमनसो विषण्णान्, खिन्नान् सन्तानवसादयति। अत एव प्राकृतै. स 'बाबू'[1], 'लाला'[2] आदिपदैः सम्बोध्यते।

(२) व्यसनोपजीवी—परेषां व्यसनेन कष्टेन विपत्त्या यो लाभान्वितो भवति स। यथा वाक्लो वैद्यश्च। ज्ञान हि परेषां शर्मणे। यो ज्ञान विक्रीणानो लोकस्य विपत्त्या लाभान्वितो बुभूषति स किं ज्ञानोपासक ? "ते हित्वा काञ्चन राशिं पांशुराशिमुपासते"। स तु व्यापारी भगवत आशिष आशासानो भक्त इव "न स भक्त स वै वणिक्"। य. शूल-मारोप्यमाणात् पञ्चसहस्र मुमूर्षोश्च शत जिघृक्षति विचार्यतां स कीदृश ? 'यो मर्त्तु-कामादपि हर्त्तुं काम'।

नार्थार्थं नापि कामार्थमथ भूतदया प्रति।
वर्त्तते यश्चिकित्सायां स सर्वमतिवर्त्तते॥ चरक।

एतादृशास्तु राष्ट्रस्य गौरवम्। परमद्य कियन्तस्तादृशा। अद्यत्वे चिकित्सका प्रथम द्रव्यं न हि, तस्य धन दिह अन्ते, स जीवतु म्रियतां वा।

(३) शुल्कोपजीवी—गृहशुल्केन शकटशुल्केन जनवाहनशुल्केन जीवति, शत सहस्र वा मानवाना नियतवेतनेन नियोज्य यन्त्रादीना परिचालनेन वार्थमुपार्जयति स।

(४) घटक—केवल वार्तावित्त उभयोपभोक्ता उभयार्थहरश्च।

(५) समानशीलस्य धनिन पोष्यपुत्रोऽपहृतहिरण्यस्य परिरक्षको लगुडी च।

अद्य वय सर्वाभ्युदयाय कृतसङ्कल्पा समवेता। सर्वेण[3] सर्वस्मै[4] सर्वस्मात्[5] सर्वस्य[6] सर्वस्मि[7]न्नभि उदय =सर्वाभ्युदय। सर्वेषामेकाङ्गिन्युदये न सन्तुलन सम्भाव्यते, अत समन्तादुदयोऽस्माकमभीष्ट। स चाधिदैविकीनामाधिभौतिकीनामाध्यात्मिकीनाञ्च शक्तीना-मभितो दिशमुत्कर्षं स्वभावबाधिकाया बाधाया अपनयनश्च। सोऽयं दरिद्राङ्गभञ्जिदोषानु-

---

१ बा=सहित, उर्दू का उपसर्ग। यथा बा कायदा बा इज्जत। बू=गन्ध। बदबू खुशबू यथा। दुर्गन्धार्थ सभ्यव्यवहारमे केवल बू कहनेकी प्रणाली है। २ ला—ला इत्यनुकरणम् सर्वदा 'ला' 'ला' इति करोति स। ला आदाने। अथवा परेषां धन दृष्ट्वा यस्य मुखाल्लालाश्च्योतन्ति स। ३ जनेन। ४ प्राणिने। ५ उपायात्। ६ विश्वस्य। ७ काले परिस्थाने च।

पतिपुञ्जवादोत्तुङ्गभुजङ्गभङ्गो, अभिमानभीष्मोष्मग्रीष्मक्रान्तानृतस्यन्दी अर्थार्थिवेदखेद-च्छेदी पद्मभूतभूतवर्गानुकम्पी पुञ्जवादहुङ्कारकृतप्रतुहर्षवर्षी भवभयाभिविविन्नाम्बुवर्षी धनदर्पज्वरकारी भ्रान्तगुहागह्वरोद्गूहितध्वान्तविध्वंसी कलहकुद्वारयद्धरो मायामत्त-निजगदगदङ्कारः प्रसन्नहृद्यं प्रियोऽभयङ्को नन्दीकृतभीतिवृन्दनिवहः जगच्चर्मचक्षुर्मा आनन्दधाम दिग्देशकालकलनविपिनेषु क्षपितातङ्क उद्दुह्येनरूपाम्, सकलकर्मफलोपलम्भः स्वकरसमवतोऽवतरत् दीनदुःखिनदिगन्तिलब्धिजोऽस्मञ्जनसोवसुभगसुरभिवर्माः पुञ्ज-वादपुष्पोद्गुप्तार्थशिशिरो वृष्टिबिन्दुलहरीनिर्मलः कोटिविभागमास्कीलकः विश्वबन्धुः सर्वलताप्रायपेयमन्वयाल्पवर्धितप्रदीपः प्रायशो विश्वजनवाक्नृतनमञ्जुमोदितो महीमहितो विश्वस्य विश्लेषकजनसमुच्चोऽशेषजनचिन्तानिविविज्ञानान्यो वदान्यनाम्यो वाद-मूर्धन्योऽस्माकं प्राक्तन आदर्शः परस्परं फलानपेक्षः समाजः। सर्वोऽस्य सर्वस्वं न पक्षाय न सम्प्रदायाय अपि तु लोकाय। 'वसुधैव कुटुम्बकम्', 'यो वै भूमा तत्सुखम्'। स चायं परस्परमभेदभावेऽद्वैते सहयोगे च प्रतिष्ठितः। सम्मतोऽप्ययमेवार्थः। सम्यक् पतनम्=प्राप्तिः (पत गतौ, या प्राप्तिः सर्वेभ्यः सम्यक् रूपेण जायते सैव) सम्मतिः, या च विशिष्टरूपेण (केवलं विशिष्टेभ्यः प्राप्तिः) सा विपत्तिः। यत्रैको मोदति नवनवतिश्च नराणां शते विषीदति सा विपत्तिः पुञ्जवादस्य फलम्।

असत्युत्थानस्य शुद्धेन युक्तेन मनसा कर्म। अर्थाभिलाषः शान्तेः परं संयोजनं सम्प्रेमणस्य, भूमिका धर्मस्य वर्णने व्यभिचारस्य दृश्यते, एवं कृते न सफलता। सद्भावेन प्रवर्तमाने सफलता सम्भवतिष्ठते पतन्ती इवाऽपि। अनुष्ठानस्य समन्वयेन। समन्वयो मानवस्वभावो न सम्पर्कः। वृक्षाणां दीर्घता दीर्घाणाञ्च ह्रस्वता समन्वयश्री, वर्णोऽपि सत्प्रवृत्तिश्च। एष मार्गाग्यो न वाचामात्रेण साध्यः, परं प्रयत्नसाध्योऽस्माभिरनुष्ठेय एव। अस्मिन् राष्ट्रे भूमण्डले जीवनस्तरे च जनता अनुशासनेन सह व्यवस्थितेव। महोत्सवस्य भावना, अवसरस्यानुसारं विचारमन्थनमङ्कुरे स्वम्। उत्पादनस्य प्रथमं फलमानसस्याप्तिः। द्वितीयस्य वास्तवाभिवर्धनम्। इदानीं बहूनि वस्तूनि केवलं संग्रहावस्थायां धनार्जनाय च निर्मीयन्ते यत्र राष्ट्रस्य धनो व्ययः।

वस्तुतो विभिन्नवर्ग्यं धनं परस्परानि दौर्बल्ये च प्रतिष्ठितम्। दुर्जनाः समाजस्य सारल्यं दौर्बल्यमालोकयन्ति अत्र लोभे नानाविधवस्तूनि निर्माय जनानां धनमपहरन्ति

सिद्धान्ततः सर्वाभ्युदयस्यान्तिमा स्थितिः शासनान्मोक्षः। नेयमराजकताऽन्या विशृङ्खलता, अपि तु सर्वेच्छया सानुसन्धानं परस्परोदये समाधिता व्यवस्थापना। स्वास्थ्यापादनं चिकित्साविषयः, एवमनुशासनव्यवस्थापनं शासनस्य विषयः। तस्मिन् व्यवस्थिते न शासनस्यावश्यकता स्वस्थाय चिकित्सकस्येव। वसन्ते पुराणपत्राणीव शासनं स्वयमपेयात्। चिकित्सकश्च स एवाभिमतो वरीयान् यस्माच्चिकित्सिते पुना रोगाविर्भाव एव न स्यात्। 'प्रयोगः शमयेद् व्याधिम्', 'शमयेद् यो न कोपयेत्'। एवमेव शासनमपि तदेव वरं यदनन्तर शासनपद्धतेरावश्यकत्वैव न स्यात्। नागरिक-जीवने स विशेषः समागच्छेद् यदन्तरेण शासनं शासनानुसारि कार्यं प्रवर्त्तेत्। पुष्पवासनासे-नावद्वितो लोकः परस्परस्माद् बिभेति न च परस्परस्मिन् विश्वसिति, तदा भयापनोदनाय शासनस्यावश्यकता, तद्वर्थं चेन्मानवमानवेभ्यः पलायेत, परस्परं विश्वासश्च जायेत तदा शासनस्य कावश्यकता ?

पुञ्जवादस्य नवीना रचनात्तत्स्थाने समागताः, शुल्कशाला, सज्जस्थाना भक्ष्यशाला, पशु-पालनम्, महाविद्यालयच्छात्रावासश्च केवलं धनेन विनिमेयानि जातानि, यत्राऽतिथीनां सेवा, समाजस्य व्यवस्था, गवां संरक्षणम्, लोकहितसाधकानां साधूनां सपर्या च विद्या वदा तत्पूर्वं आश्रमाः सत्राणि गोशालाश्च स्थापितानि । परं तान्यपि लुण्ठितुकामः परिग्रही किंचित्तुच्छं दातुं प्रतिज्ञाय प्रविश्य भ्रंशयति । दुष्टदाम्भिकः शिष्टवेशमायोज्यैव दुष्कर्मा कर्त्तुं शक्तः । अनायासं जिहीर्षुणा चन्दनबिन्दुमालाभासिना नित्यं गङ्गा-स्नायिना प्रदर्शनवता च भवितव्यमेव ।

आमध्याह्नं नदीवासः समाजे देवतार्चनम् ।
सततं शुचिवेशश्चेत्येतद्दम्भस्य जीवितम् ॥ नीलकण्ठः ।

अथ च प्राप्ताविचारो हि स्वार्थपरो ज्ञानविज्ञानयोर्धर्मस्य संस्कृतेश्चोपयोगं स्वस्य, केवलं स्वस्य लाभाय करोति । पापो हि स्वार्थेनापि पातयति । पुञ्जवादस्यातिशय-सम्पर्काभ्यासात्सागतानां दोषाणां फलस्याभिमुख्यत्वे, पूर्वजन्मनः कर्मणां फलमिव, मोक्षत्वे चानिवृत्तेः, परं भविष्यज्जीवनायावधानताऽऽधेया, यतस्तस्य सम्पर्कः क्वापि न तिष्ठेत् ।

इदं मधुमुखं विषं हरति जीवितं तत्क्षणाद्
अपथ्यमिदमाशितं व्यथयते विपाके वपुः ।
इदं तृणगणावृतं विलमधो विधत्ते क्षणाद्
यदत्र मलिनोल्बणैर्द्रविणमर्जितं कर्मभिः ॥ जगद्धरः ।

अधुना वयं सर्वस्व न केवलं बहुजनस्यार्थसिद्धयेऽस्माकमायां पद्धतिं प्रतिष्ठापयितुं समर्थिताः । उत्पादकस्य स्वत्वरक्षणम्, अपरिश्रान्ततः स्वत्वनिराकरणस्यास्माकमिष्टम् । वस्तून्युत्पादयितुः क्षेत्रे बन्धुः स्थापिता, तदनन्तरं समाजस्य । पुञ्जवादस्य क्रिया पुनः प्रतिद्वन्द्विता, प्रतिस्पर्धा, प्रतियोगिता क्वापि न भवेत्, परं परिस्परं भवेत् । येन मानवस्य पोषणं नैतिकबलस्य समेधेत तदेवोपयोगि मन्येत । मानवमूल्यं सर्वाधिकमपि स्यात् । धनं विनिमयस्य सामान्यं साधनम् । वस्तूनाम् सुलभता । सर्वत्र जीवनोपयोगिवस्तूनां सङ्ग्रहो हानिकराणां वस्तूनाम् निषेधः स्यात् । मानवस्य शारीरबौद्धिकशक्तीनां समुचितो पोषणम्, तस्य च विकासः स्यात् । यत्र न धनी न दरिद्रो न शोष्यो न शोषको न

स्वैरी न च स्वैरिणी। अत्र यथाशक्ति श्रमो यथाव्ययमादान न्यायोपेतश्च वितरणम्। पुञ्जवादेन शर्करादुरुपयोगो लघुडिना भय भ्रष्टाचार इति, सङ्ग्रहो भिक्षा चौर्यमिति च त्रिदोषा समाजशरीरे व्याप्ता, एतत्सन्निपातहरणाय सर्वाभ्युदयस्य ह्युदय ।

सवभूतहिते रता सर्वाभ्युदयिनश्चानुत्सिक्ता कम कुर्वीरन्। अनुत्सेक खलु विक्रमालङ्कार । अद्वेष्टा सर्वभूताना मैत्र करुण एव च ।

निर्ममो निरहङ्कार समदु खसुख क्षमी ॥ श्रीमद्भगवद्गीतायाम्

कर्तणा मन सरस्सु काप्यसद्विचारपङ्क न तिष्ठेत्, यद् बाह्यमानास्पर्शोदियात्। वय परस्पर साहाय्यमाचरिष्याम, पर न कमप्याश्रयिष्याम । प्रतिदिन मैत्रीदृश्या विश्वमेव मित्र करिष्याम । निष्कामे गुरुतमे कमणि कर्त्तु केवल कर्म, फलश्च न कस्याश्चिद् व्यक्तेरपि तु व्यापकस्याव्यक्तभगवत । 'कृपणा फलहतव । अत एव जनताजनार्दनाय स्वेच्छया कर्मफलापणमस्माक सर्वाभ्युदयाथनीते प्रमुख सिद्धान्त । यद्यपि पुञ्जवादेनैष दोष उदपादि यल्लाभ विना न कोऽपि कर्मणि प्रवर्त्तते 'स्वार्थं विना मन्दोऽपि न प्रवर्त्तते'। यत कर्मेण आध्यात्मिको भावना व्यपगता, कवलमर्थ स्यानर्थ कारिणी भावना च समागता । पर स्वार्थभाव पशूना भावो न बुद्धिजीविना मानवानाम्। अस्माक सिद्धान्त परजीवनाय जीवनम्, परान् भोजयितु भोजनम्, 'यज्ञशिष्टाशिन सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषै ।' यज्ञश्च 'यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु।' केवलाघो भवति केवलादी।

केनलेन ह्यधर्मेण कुटुम्बभरणोत्सुक ।

याति जीवोऽन्धतामिस्र चरम तमस पदम् ॥ भागवते ३।३०।३३।

न ह्यस्मात् पापात् पापीयोऽस्ति यत् प्रतिवेशिनि बुभुक्षिते भक्षणम्। प्रतिवेशिनो मनुष्यानेव नहि पशुपक्षिणो नित्यसहयोगिनोऽश्वत्थतुलसीप्रभृतीनपि जलमपाययित्वा जलपान दुष्करम्। 'पातु न प्रथम व्यवस्यति जल युष्मास्वपीतेषु या"। सैषा विश्वेनाभेदरूपता ।

मृगोष्ट्रखरमर्काखुसरीसृप्खगमक्षिका ।

आत्मन पुत्रवत् पश्येत्तरेषामन्तर कियत् ॥ भागवते ७।१४।९।

परानध्यापयितुमध्ययनम् दुर्बलाना रक्षायै बलम् धन ज्ञानश्च राष्ट्राय । बहवो वैज्ञानिका शोधका ऋषयो महर्षयो दार्शनिका सिद्धान्तद्रष्टारश्च परेषा हिताय लोकस्य हिताय कणान्

जग्ध्वा वृक्षकोटरे जीवनं यापयित्वापि लोकाय रत्नानि ददुः। विश्वविश्रुतो वैयाकरणो महामुनिः पाणिनिः, ककुप्कामिनीकर्णभूषणायमानकीर्त्तिर्विश्वस्यैकमात्र दार्शनिको व्यासः, अतर्कितजगन्मृदितमलमायोऽद्वैतविचारकः शङ्करश्च कमर्थं साधयितुं पर्यभ्राम्यन् ? राणाप्रतापः कस्मै सुखाय घासमघसत् ? महामनाः कस्मै लाभाय विश्वविद्यालयं निर्माति ? महात्मा कस्य प्रान्तस्य राजा भवितुं दण्डाघातान् सहते ? किं भोजनभोग भोक्तुं यवाहारं कुरुते यवाहरः ? सहस्रशो बलिवीरा हुतात्मानः कस्मै लाभाय हसन्तः शूलमारोहन्ति ? एतत् प्रोन्नतमानवस्य पुरुषोत्तमस्य वैशिष्ट्यम्। स स्वार्थं परित्यज्य व्यापकार्याय यतते, अनुक्त एवाखिलं लोकमानन्दयति च।

किं चन्द्रमाः प्रत्युपकारलिप्सया करोति गोभिः कुमुदावबोधनम्।
स्वभाव एवोत्तमचेतसा सतां परोपकारव्यसनं हि जीवितम्॥

एषाऽस्माकं परम्परा। खेलायामानन्दमनुभवन् बालो व्यायामगुणेषु जयत एव निरभिलाषोऽपि। परमद्य स स्वभावो मानवेभ्योऽपगतः। अत एवैवंविधमताऽऽविष्टा। यत् नदीप्रवाहवत्तिष्ठतु। नदी प्रतिक्षणं निम्नाभिमुखा। एवं धनमपि निम्नानामावश्यकतामनुभवतामभिमुखं भवेत्। "दरिद्रान् भर कौन्तेय ! मा प्रयच्छेश्वरे धनम्।" परमधुना मनुष्यस्वभावे विकृतिरापादिता पुञ्जवादेन।

मानवस्त्रिगुणः। (१) विवेकी, (२) भाषावान् (३) अङ्गुष्ठवांश्च। एतादृशी योग्यता ब्रह्मणः सृष्टौ नान्यस्मिन्नुत्पादनेऽस्ति। विवेकेन स सदसच्च विचारयति, मानवेतरान् वशयति हसति रोदिति च। भाषया स्वाभिप्रायं जनान् श्रावयित्वा स्वमतं प्रसारयति, भाषां लिपिबद्धां कृत्वा स्वविचारं विश्वस्मिन् कालद्वये च प्रचारयति। अङ्गुष्ठश्च तस्य कल्पना प्रत्यायकः। मानवाङ्गुष्ठः सर्वा अङ्गुलीः स्पृशति। येन स विज्ञानोन्नतिं कर्तुं समर्थः। शरीरेऽङ्गुष्ठो ब्रह्मणो ज्योतिर्दिशाखायाः प्रतिनिधिः। विश्वस्य मर्यादास्थापने ब्रह्मणः प्रतिनिधेर्मानवस्यैव सामर्थ्यम्। "दावानलप्लोषविपत्तिमन्योऽस्त्यस्य हर्तुं जलदात् प्रभुः कः" परमद्य मानवः पुञ्जवादेन प्रक्षीणसामर्थ्यः। परिस्थितेर्नियन्तापि पुरुषो दौर्बल्यात् परिस्थितिप्रतिरूपोऽभूत्। परमेषा विद्दतिरस्थिरा, अस्मन्नचिरादेव नेष्यति।

यथा कश्चन चौरः प्रतिदिनं प्रतिवेशिनो गृहादन्नं धनं वस्त्रश्चापहरन् शनैश्शनैः सुगुप्तव्यवहृतया प्रक्रियया शरदां शतं व्यतियापयति, सन्ततिपरम्परयैव व्यवहारोऽनुवर्त

स्तरी न च स्वैरिणी। अत्र यथाशक्ति धर्मो यथाव्ययमादानं न्यायोपेतश्च वितरणम्। पुञ्जवादेन शक्तेर्दुरुपयोगो लगुडिना भय भ्रष्टाचार इति, सङ्ग्रहो भिक्षा चौर्यमिति च त्रिदोषा समाजशरीरे व्याप्ता, एतत्सन्निपातहरणाय सर्वाभ्युदयश्चन्द्रोदय।

सर्वभूतहिते रता सर्वाभ्युदयिनश्चानुत्सिक्ता कर्म कुर्वीरन्। अनुत्सेक खलु विक्रमालङ्कार। अद्वेष्टा सर्वभूताना मैत्र करुण एव च।

निर्ममो निरहङ्कार समदुःखसुख क्षमी ॥ श्रीमद्भगवद्गीतायाम्

कत णा मन सरस्सु क्वाप्यसद्विचारपङ्क न तिष्ठेत्, यद् बाह्यमान्तरञ्चैकदियात्। वय परस्पर साहाय्यमाचरिष्याम, पर न कमप्याश्रयिष्याम। प्रतिदिन मैत्रीव्रतया विश्वमेव मित्र करिष्याम। निष्कामे गुरुतमे कर्मणि कर्त्तुं केवल कर्म, फलञ्च न कस्याश्चिद् व्यक्तेरपि तु व्यापकस्याव्यक्तभगवत। 'कृपणा फलहेतव।' अत एव जनताजनार्दनाय स्वेच्छया कर्मफलार्पणमस्माक सर्वाभ्युदयार्थनीते प्रमुख सिद्धान्त। यद्यपि पुञ्जवादेनैष दोष उदपादि यत्लाभ विना न कोऽपि कर्मणि प्रवर्त्तते "स्वार्थं विना मन्दोऽपि न प्रवर्त्तते"। यत कर्मण आध्यात्मिकी भावना व्यपगता, केवलमर्थ स्यानर्थ कारिणी भावना च समागता। पर स्वार्थभाव पशूना भावो न बुद्धिजीविना मानवानाम्। अस्माक सिद्धान्त परजीवनाय जीवनम्, परान् भोजयित्वा भोजनम्, 'यज्ञशिष्टाशिन सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषै।' यज्ञश्च 'यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु। केवलाघो भवति केवलादी।

केवलेन ह्यधर्मेण कुटुम्बभरणोत्सुक।

याति जीवोऽन्धतामिस्र चरम तमस पदम् ॥ भागवते ३।३०।३३।

न ह्यस्मात् पापात् पापीयोऽस्ति यत् प्रतिवेशिनि बुभुक्षिते भक्षणम्। प्रतिवेशिनो मनुष्यानेव नहि पशुपक्षिणो नित्यसहयोगिनोऽश्वत्थतुलसीप्रभृतीनपि जलमपाययित्वा जलपान दुष्करम्। पातु न प्रथम व्यवस्यति जल युष्मास्वपीतेषु या"। सैषा विश्वे नाभेदरूपता।

मृगोष्ट्रखरमर्काखुसरीसृप्खगमक्षिका।

आत्मन पुत्रवत् पश्येत्तैरेषामन्तर क्रियत् ॥ भागवते ७।१४।९।

परानध्यापयितुमध्ययनम्, दुर्बलाना रक्षायै बलम्, धन ज्ञानञ्च राष्ट्राय। बहवो वैज्ञानिका शोधका ऋषयो महर्षयो दार्शनिका सिद्धान्तद्रष्टारश्च परेषा हिताय लोकस्य हिताय कणान्

जन्त्वा दृढकोदरे जीवनं यापयित्वापि लोकाय रत्नानि ददु । विश्वविश्रुतो वैयाकरणो महामुनिः पाणिनिः, कलङ्कानिर्नाशकौ भूपवापमानद्युतिविधूतसैकत न दार्शनिको व्यासः, अवच्छिन्नजगन्मृदितमल्लानोऽद्वैतविचारकः शङ्करश्च कथं वर्णयितुं पर्याप्नुम्? राम प्रतापः कस्मै सुखाय धनमयच्छत्? महात्मनाः कस्मै जनाय विद्धनिवाल्य निमाति? महात्मा कस्य ग्रन्थस्य रामं भवितुं दण्डाघातान् सहते? किं मोहन भोगं भोक्तुं व्यवहारं कुरुते यवहर? सहस्रशो वल्लीकाः दुर्वनान कस्मै जनाय हसन्तः शूलमारोहन्ति? एतत् प्रेक्षणनन्दस्य पुरुषोत्तमस्य वैशिष्ट्यम्। स स्वार्थं परित्यज्य व्यापाराय यतते, अनुक एवान्ति लोकमानन्दयति च।

किं चन्द्रमाः प्रत्युपकारलिप्सया करोति गोभिः कुमुदावबोधनम्।
स्वभाव एवोत्तमचेतसा सता परोपकारव्यसनं हि जीवितम्॥

एषाऽस्माकं परम्परा। खेलादमानन्दमनुभवन् बालो व्याख्यानगुणैर्युक्त एव निर्दिष्टोऽपि। परमयं स स्वभावो मानवेभ्योऽपगतः। अत एवैतद्वचनतात्पर्यं विद्यते। धनं नदीप्रवाहवत्तिष्ठत्। नदी प्रतिक्षणं निम्नाभिमुखा। एवं धनमपि निम्नमानव-स्वस्थानानुभवतामभिमुखं भवेत्। "दरिद्रान् भर कौन्तेय! मा प्रयच्छेश्वरे धनम्।" परमधुना मनुष्यस्वभावे विकृतिरापादिता पुरुषवादेन।

मानवस्त्रिगुणः। (१) विवेकी, (२) भाववान् (३) अनुष्ठाता च। एतदृशो येन्यता नरस्य षष्ठी नन्वस्मिन्नुत्तरस्मिन्नस्ति। विवेकेन स सदसच्च विचारयति, भावनयान् वर्णयति हसति रोदिति च। भावना स्वान्विषय जगत् धावयित्वा स्वमत प्रसारयति, भावां लिपिबद्धां कृत्वा स्वविचारं विद्वत्सु कल्पद्रुमे च प्रचारयति। अनुष्ठानश्च तस्य कल्पना सत्यापकः। मानवानुष्ठानं सर्वा अनुभूतीः स्पृशति। येन स विज्ञानेऽपि कर्तुं समर्थः। शरीरेऽस्मिन् षष्ठो नाड्यो ज्योतिर्दिव्याग्नि प्रदीप्तिः। विवेकस्य भावनाध्याने महाः प्रतिनिधेयानन्तस्यैव सामर्थ्यम्। "स्वानलस्पोषोविवर्तितन्नोऽस्मदस्य दत्तं कलशात् मधु कं" परमयं मानव- पुरुषवादेन प्रक्षीणसामर्थ्यः। परिस्थितिरेव निन्दाभिः पुरुषा दैन्यात्, परिस्थितिविरोधोऽभूत्। परमेषा विरुद्धपरिस्थितिः, भारतमपि नान्यतु नेष्यति।

यथा कश्चन चौरः प्रतिदिनं प्रतिवासिनो गृहं गत्वा धन वस्त्रमाहरत्, सर्वेषामेव सुखं स्वच्छन्दतया संक्रमणा यस्तां यत्र स्थितिमाप्नोति, सर्वेषामस्मदेव भवद्दारोऽनुभव

प्रचलति च। एकदा प्रबुद्धेन प्रतिवेशिना ज्ञातम्, हन्त! अयमस्माकं श्रमार्जितां सम्पद चोरयन् स्वयमकृतश्रमोऽपि सानन्द सामन्तजीवनं यापयति। वयमनेन दण्डिता नरकजीवन जीवितुम्। अनेन लक्षशो मुद्रा अस्माकमपहृताः शतशो जनाश्च विना मूल्य भृत्यतामुपनीताः। दुष्टोऽय कथमपि हृतं धनं प्रत्यावर्त्तयितुमशक्तो हन्तव्य एव। एप आततायी। आततायिनमायान्त हन्यादेवाविचारयन्निति मनुः। एतदेव रक्तक्रान्तेर्मूलम्। अतः समशीलानां धनिनामस्माकञ्चैव परिणाम एकदाऽवश्यम्भावी। अतो जीवन सुरक्षितुमिच्छद्भि‍ः समयात्पूर्वमेव जागरितव्य परेषां जीवनाय यतितव्यञ्च।

यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति॥ भागवते।७।१४।८।

वस्तुत‍ परस्परविरोधस्य हेतुरेवायम्। यत्केचन भौतिकीमुन्नतिं स्वसुखसाधिकां मत्वा प्रतिवेशिनो हिताहितमविचारयन्तः स्व धर्मे आक्रोशे सवद्धाः सम्पत्सङ्ग्रहे मग्नाः। वस्तुतो य ईश्वरो विश्वमिद निर्माय्यैनदविशत् स समग्रसम्पदा सहैव। अतः सा सम्पदीश्वरस्यैव। यथा वायोः सूर्यस्याकाशस्य जलस्य भूमेश्चोपयोगोपभोगे वय साधिकारास्तथैव तज्ज्ञानामन्यासामपि सम्पदां समुपयोगे वय सर्वे समानत्वेनाधिकृताः। परं पुञ्जवादेनैतद्वैषम्यमुत्पादि। तन्निराकरणमस्माकमुद्देश्यम्। नात्र कश्चन परोपजीवी स्यादपि तु परस्परोपजीवी। सर्वोऽत्र परस्य सौकर्य्याय प्रथम चेष्टेत जीवेच्च। परिश्रमो यत्र व्रत भवेत्।

सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापति‍।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥

[1]सत् स्वास्थ्यम्, आवश्यकं धनम्, ऐकमत्य भ्रातृषु, स्वच्छ सुपयः सम्पन्न सुपु पुर गृहञ्च, सुशीलः शिशु, नीरोगिता, शीलरूपसम्पन्ना रमणी, अनपमान जीवनम्, सद्विचार, तदनुसारिकर्मप्रभावश्च क्षेत्रे सदसं सदाजीविका च सुकर्मणि व्ययः—इत्येव केवलं न सर्वाभ्युदयः। एषा भौतिकी समुन्नतिः। अस्माकं सर्वाभ्युदयस्य नैतादृशी क्षुद्राऽऽधारशिला। अस्माकं पृष्ठभूमिराध्यात्मिकी। विविधबाधा अङ्गीकृत्यापि मानवः शाश्वतसुखाभिलाषः।

---

१ ज्योतिश्शास्त्रोक्ता द्वादश भावाः स्वमातृसन्तुधनादयः।

वस्तुतस्तदात्मसम्बन्धि सुखम्। नार्थसम्बन्धि। हन्त! वयमद्य केवलं परिवारस्य भरण-पोषणे एव स्वं कृतकृत्यं मन्यामहे।

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय !।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥

योगः कर्मसु कौशलम्। जीवने सिद्धान्तानामनुष्ठानं कला सैव योगः। श्रमोऽधुना विक्रीयतेऽतोऽप्रतिष्ठितः। अकर्म च प्रतिष्ठितम्। अत एव श्रमजीवी साधु जीवन्नपि गर्हितो विश्रमजीवी च गर्हितं जीवन्नपि सत्कृतः। एषा पुञ्जवादस्य परम्परा। परमस्माभिः श्रमः प्रतिष्ठाप्यः। कर्म्येव विश्रमेऽधिकृतो भवेन्नाकर्मी। श्रमस्य विक्रयो यदा विनङ्क्ष्यति तदा श्रमो श्रमनिष्ठो भविष्यति। स्वेच्छया श्राम्यतो मनोविनोदः। परस्मै पराग्रहेण परचापेन च श्राम्यतोऽवरता दण्ड इव। श्रमी पूर्वस्मिन्नानन्दं परस्मिंश्च काठोर्यमनुभवति। वयं वाञ्छामो यच्छ्रमः सम्पत्तिर्भवेत्। सर्वे च तस्या अभिलाषुकाः।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥ गीता ।

सर्वाभ्युदयसमाजश्च सर्वनैकमत्येन व्यवतिष्ठेत। बहुमतस्य शासने निरुक्तः स्वकीय-पक्षस्य स्थायित्वसम्पादने व्यग्रो न लोककल्याणं साधयितुं समर्थः। स स्वपक्षस्य कल्याणे विरोधप्रतिरोधे समाप्तसमयो लोकसेवाभावनया एव स्थापयति। शासना-दनुशासनं प्रति, पराधीनतायाः स्वाधीनतां प्रति स्वाभाविकरूपेण गमनमस्माकं क्रमः। नास्मिन् समाजे दाता न च भिक्षुः। सर्वः सर्वमात्मवत्पश्येत्, स्वस्य कर्त्तव्यं परस्याधिकारञ्च। कर्म चोपकारनिरपेक्षं सर्वः कुर्वीत। निरभिलाषं निरपेक्षं निर्वासनं कर्मैव मुक्त्यै प्रभवति।

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥

वस्तुतः सद्भावेन क्रियमाणस्य कर्मणो न नाशः। लोकः प्रतिदिनं ग्रीष्मे वर्षे वर्षासु दिने रात्रौ च शिरसि गर्दभोचं भारमायोज्याशनवसननिरपेक्षं धावतः प्रहृष्टं कष्टं सहमानान् गर्दभायितान् दुर्गतान् सदाचारिणो न स्तौति। कियती दुरवस्था न! परं लोभाय धनाय स्वजनमपि घ्नतः स्तौति। यतस्ते निःस्वार्थं श्रमिणः पूर्वे च स्वार्थम्।

अतोऽस्मन्निमित्तकामभावेनास्मिन् योऽक्यम्। एव कुर्वतां विधमस्माक सहयोगि। ‘स्वयमेव हि व तोऽस्ने सारथ्यं प्रतिपद्यते’।

मम मानसे भावनैकास्ति यत् प्रत्येको ग्रामो नागरिकृत्रिमताविरहित एककुटुम्ब वद् व्यवस्थित सरस्वतीविहारभूमिनिर्मलेन ज्ञानालोकेन स्वाभाविकेन सौन्दर्येण विकसित पुष्पोपवनसमृद्धो धान्यपूर्णकुसूलो गोदुग्धधाराभिरभिषिक्तो नवनीतनवीनाभवरो वियत्प्रभविद्द्वाल स्वगतुल्यो दीप्येत। सुखसलिला नद्य सवत प्रसृता राज पथान्न देश पोषयेयु। उदम्भासि सरासि हसकलरवैमनो मोदयेयु। प्रत्येक गृह मुल्लासेन वीण विरावेण बालानां काकल्या च मुखरित भवेत्। नाकालमृत्यु स्यात्। वितरि स्थित नात्मजनिधन न च विधवाविक्रय क पि भवेत्। सर्वे स्वस्वधर्मे कर्मणि च स्थित परस्परेण सह युञ्जीत। वस्तुतो यतोऽभ्युदयो नि श्रेयससिद्धिश्च स धर्म। दुर्भिक्षस्य कथैव न श्रूयेत। न विग्रहो न चौय न व्यभिचारो न च लोकव्यवस्था पक्षाना सैनिकानामाव श्यकता भवेत्। जनानां सुपुष्ट मस्तिष्कं नवाविष्काराय सज्ज तिष्ठेत। समाजस्य सेवा धारणा, वृद्धि, समृद्धि सर्वाभ्युदये व्यवस्थिता स्यात। बुद्धिबला शरीरबलाधार समाना सर्वत्रोद्योगशीलताया वृद्धि, समृद्धता च देशे न तु व्यक्तौ। सामाजिकविषमतानां शोषणस्य च विनाश। उत्पादनधोपयोगाय।

शिक्षालयेष्वध्यापनं सायं प्रातर्द्विर्भवेच्छिल्पशिक्षणञ्च। अध्ययनायाध्यापनाय शिल्पशिक्षणाय मनोरञ्जनशारीरक्रियायै चाहोरात्रपञ्चमांशः। शयनकालश्चाहोरात्रस्य तृतीयांश आद्यायां शेषासु च चतुर्थांशः। प्रवेशसमये मूलप्रवृत्तिविभागे मासं छात्र आवास्यः। तदनुमोदनानुसारं विभागे प्रवेशो भवेत्। कक्षास्तिस्रः। आद्यायां वर्षषट्कम्। मध्यमायाञ्च वर्षत्रयम्। उत्तमाया वर्षद्वयम्। विभागीयाचार्यपरीक्षां प्रविविक्षुर्वर्षमेकमधीत्य योग्यतापरीक्षां प्रविष्टः प्रतिशत प्राप्तपञ्चाधिकाङ्कः प्रवेष्टुमधिकृतः। तस्यां वर्षचतुष्टयम्। प्रतिग्राममाद्यकक्षायाः पाठशाला। जनपदे च मध्यमाया जनपदच्छात्रावासश्च। अस्याद्यौ व्ययो जनपदसर्वाभ्युदयसमाजेन देयोऽर्द्धश्चाभिभावकेन। भागीयनगरेपूत्तमायाध्यापनं भवेत्। छात्रावासश्च पूर्ववत्। एतेऽधीयानाः शासनसेवां कुर्युः। केन्द्रनगरे च विभागीयाचार्यपरीक्षार्थे महाविद्यालयश्छात्रावासश्च। छात्रावासव्ययश्च केन्द्रेण सोढव्यः। अध्यापकेभ्यः सपरिच्छद आवासः सर्वाभ्युदयसमाजेन देयो वेतनञ्च।

भारतस्य चत्वारो भागाः स्युः। पूर्वनगरम्, दक्षिणनगरम्, पश्चिमनगरम्, उत्तरनगरमिति भागीयनगराणि। केन्द्रश्च केवलं शासनपरः प्रदेशरहितस्तिष्ठेत्।

केन्द्रनगरे प्रजाया वसतिर्न स्यात्। अधिकारिणां गृहाणि, सर्वोच्चविद्यालयः, सर्वोच्चचिकित्सालयः, विभागानां कार्यालयाः, पुरातत्त्वविभागोऽनुसन्धानविभागः, राजदूतावासाः, सेनासन्निवेशः, अतिथिनिवासः समाजेन व्यवस्थापिता विपणयो भोजनालयश्च स्युः। पञ्चविंशतिवयाः पुमान् स्त्री च मन्तव्यं प्रकाशयितुं निर्वाच्यतां प्राप्तुं च शक्नुयात्। समस्मिन् राष्ट्रे एका लिपिः संस्कृता च भाषा स्यात्। एषु भागेष्वेकलक्षनिर्वाचकजनः प्रदेशो जनपदशब्देन बोद्धव्यः। प्रतिजनपदं सर्वाभ्युदयसमाजस्य सङ्ग्रथनं ग्रामसर्वाभ्युदयसङ्ग्रथनसापेक्षं भवेत्। उपसहस्रनिर्वाचका ग्रामगणेशं निर्वृयुः। स च स्वशेने पञ्चगणान् स्वेच्छया निर्वृयात्। गणेशशतैर्जनपदग्रामाजं प्रकल्प्य तन्मध्यत एवैक जनपदगणेशं मन्त्रिगणञ्च निश्चित्य कार्यं प्रचाल्येत। सर्वत्र तृतीयभागस्य निर्वचनं वार्षिकं भवेत्। अधिकारिणाञ्च योग्यतासापेक्षम्। गणेशे चैषा योग्यता शास्त्रकारैः प्रतिपादितेति द्वादशविशेषणोपेत एव प्रजाभिर्निर्वाच्यः।

सुमुखः–सर्वदा प्रसन्नमुखः।

एकदन्तः–स्मिते निःसृतैकदन्तो मन्दस्मितः। केनापि वृत्तेनाविस्मितो गम्भीरः।

अतोऽस्माभिर्निष्कामभावेनास्मिन् योक्तव्यम्। एवं कुर्वतां विधिरस्माकं सहयोगि। "स्वयमेव हि वातोऽग्नेः सारथ्यं प्रतिपद्यते"।

मम मानसे भावनैकास्ति यत् प्रत्येको ग्रामो नागरिककृत्रिमताविरहित एककुटुम्बवद् व्यवस्थितः सरस्वतीविहारभूमिर्निर्मलेन ज्ञानालोकेन स्वाभाविकेन सौन्दर्येण विकसितः पुष्पोपवनसमृद्धो धान्यपूर्णकुसूलो गोदुग्धधाराभिरभिषिक्तो नवनीतनवीनाननरो विद्युत्प्रभविद्वद्बालः स्वर्गतुल्यो दीप्येत। सुखसलिला नद्यः सर्वतः प्रसृता राजपथाश्च देशं पोषयेयुः। उदम्भांसि सरांसि हंसकलवैमनो मोदयेयुः। प्रत्येकं गृहेषु लास्येन वीणाविरावेण बालानां काकल्या च मुखरितं भवेत्। नाकालमृत्युः स्यात्। पितरि स्थिते नात्मजनिधनं न च विधवावैक्लव्यं क्वापि भवेत्। सर्वे स्वस्वधर्मे कर्मणि च स्थिताः परस्परेण सह युञ्जीत। वस्तुतो यतोऽभ्युदयो निःश्रेयससिद्धिश्च स धर्मः। दुर्भिक्षस्य कथैव न श्रूयेत। न विग्रहो न चौर्यं न व्यभिचारो न च लोकव्यवस्थापकानां सैनिकानामावश्यकता भवेत्। जनानां सुपुष्टं मस्तिष्कं नवाविष्काराय सज्जं तिष्ठेत। समाजस्य सेवा, धारणा, वृद्धि, समृद्धिः सर्वाभ्युदये व्यवस्थिता स्यात्। बुद्धिबलं शरीरबलश्चात्र समानाः, सर्वेषोद्योगशीलताया वृद्धिः, समृद्धता च देशे न तु व्यक्तौ। सामाजिकविषमताना शोषणस्य च विनाशः। उत्पादनञ्चोपयोगाय।

ग्रामाणामवस्थानं पञ्चसहस्रजनसङ्ख्यातो नाधिकं भवेत्, यत्र सर्वे परस्परं जानीयुः। ग्रामीणाः स्वावश्यकतानुसारि सर्वं स्वयमुत्पादयेयुः। क्रयस्यावश्यकतैव न भवेत् स्वल्पा वा। एषु ग्रामेषु एकाऽन्नविपणिरेका वासोविपणिरेका चोपयुज्यमानवस्तुविपणि, बालानां प्रौढानां महिलानाञ्च कृते निःशुल्का नवीनसाधनसम्पन्ना पाठशाला आरोग्यशाला, उपयोगिपुस्तकान्वितः आकाशवाणियुक्तो वाचनालय, विविधविषयप्रदर्शकपट्टः मनोरञ्जनव्यायामादिव्यवस्थं जनोद्यानञ्च सर्वाभ्युदयेन सञ्चालितं तिष्ठेत्। न कश्चनानक्षरस्तिष्ठेत्। रुग्ण आरोग्यशालायामेव चिकित्सितो भवेत्। आरोग्याध्यक्ष कस्मिंश्चिन्मृतेऽनास्वदयमीके तस्य विवरणाय प्रष्टव्योऽक्षमोत्तरो दण्डभाक्, चौर्ये चारक्षकः। परं पतनविरसेष्वसारेषु श्रीविकारेष्ववुद्धे षु सर्वाभ्युदये च व्यवस्थिते न चौर्यं सम्भाव्यते। व्यवस्थायै न परेषामावश्यकता, ग्राम्या स्वयं व्यवस्थापयेरन्। ग्रामाद् बहिर्यन्त्राणामवस्थितिर्भवेत्। यत्राहोरात्रस्य तृतीयांशे कार्यं भवेद्दशवर्षाणि यावत्, ततश्चतुर्थांशे।

शिक्षालयेष्वध्यापनं सायं प्रातर्द्विर्भवेच्छिल्पशिक्षणञ्च। अध्ययनायाध्यापनाय शिल्पशिक्षणाय मनोरञ्जनशारीरक्रियायै चाहोरात्रपञ्चमांशः। शयनकालश्चाहोरात्रस्य तृतीयांश आद्यायां शेषासु च चतुर्थांशः। प्रवेशसमये मूलप्रवृत्तिविभागे मासं छात्र आवास्यः। तदनुमोदनानुसारं विभागे प्रवेशो भवेत्। कक्षास्तिस्रः। आद्यायां वर्षषट्कम्। मध्यमायाञ्च वर्षत्रयम्। उत्तमायां वर्षद्वयम्। विभागीयाचार्यपरीक्षां प्रविविक्षुर्वर्षमेकमधीत्य योग्यतापरीक्षां प्रविष्टः प्रतिशतं प्राप्तषष्टिपञ्चकाङ्कः प्रवेष्टुमधिकृतः। तस्यां वर्षचतुष्टयम्। प्रतिग्राममाद्यकक्षायाः पाठशाला। जनपदे च मध्यमाया जनपदच्छात्रावासश्च। अस्यार्द्धो व्ययो जनपदसर्वाभ्युदयसमाजेन देयोऽर्द्धश्चाभिभावकेन। भागीयनगरेषूत्तमायाध्यापनं भवेत्। छात्रावासश्च पूर्ववत्। एतेऽधीयानाः शासनसेवां कुर्युः। केन्द्रनगरे च विभागीयाचार्यपरीक्षायै महाविद्यालयश्छात्रावासश्च। छात्रावासव्ययश्च केन्द्रेण सोढव्यः। अध्यापकेभ्यः सपरिच्छद आवासः सर्वाभ्युदयसमाजेन देयो वेतनञ्च।

भारतस्य चत्वारो भागाः स्युः। पूर्वनगरम्, दक्षिणनगरम्, पश्चिमनगरम्, उत्तरनगरमिति विभागीयनगराणि। केन्द्रञ्च केवलं शासनस्य प्रदेशाद्बहिस्तिष्ठेत्।

केन्द्रनगरे प्रजाया वसतिर्न स्यात्। अधिकारिणां गृहाणि, सर्वोच्चविद्यालयः, सर्वोच्चचिकित्सालयः, विभागानां कार्यालयाः, पुरातत्त्वविभागोऽनुसन्धानविभागः, राजदूतावासाः, सेनासन्निवेशः, अतिथिनिवासः समाजेन व्यवस्थापितौ विपण्यौ भोजनालयश्च स्युः। पञ्चविंशतिवयाः पुमान् स्त्री च मन्तव्यं प्रकाशयितुं निर्वाच्यतां प्राप्तुं च शक्नुयात्। समस्मिन् राष्ट्रे एका लिपिः संस्कृता च भाषा स्यात्। एषु भागेष्वेकलक्षनिर्वाचकजनः प्रदेशो जनपदशब्देन बोद्धव्यः। प्रतिजनपदं सर्वाभ्युदयसमाजस्य सङ्ग्रथनं ग्रामसर्वाभ्युदयसङ्ग्रथनसापेक्षं भवेत्। जनपदस्य निर्वाचका ग्रामगणेशं निर्वृणुः। स च स्वक्षेत्रे पञ्चगणान् स्वेच्छया निर्दिशेत्। गणेशशतैर्जनपदसमाजं प्रकल्प्य तन्मध्यत एवैकं जनपदगणेशं सन्निर्णयं निरूप्य कार्यं प्रचाल्येत। सर्वत्र तृतीयभागस्य निर्वचनं वार्षिकं भवेत्। अधिकारिणाञ्च योग्यतासापेक्षम्। गणेशे यथा योग्यता शास्त्रकारैः प्रतिपादितेति द्वादशविशेषणोपेत एव प्रजाभिर्निर्वाच्यः।

सुमुखः – सर्वदा प्रसन्नमुखः।

एकदन्तः – स्मिते निम्नैकदन्तो मन्दस्मितः। केनापि वृत्तेनाविस्मितो गम्भीरः।

कपिलः – कपीनपि लाति – आदत्ते = गृह्णाति=कार्येषु योजयति सः = अयोग्यपुरुषा-नपि कार्यप्रवर्त्तनार्हान् कर्तुं निपुणः इति भावः। अथवा साङ्ख्याचार्यः कपिल इवाना-सक्तः, कर्म कुर्वाणोऽपि निर्लिप्तः।

गजकर्णः = सूक्ष्मतमश्रावी। तेन प्रदेशभवकर्मणां सौक्ष्म्येण श्रोता।

लम्बोदरः = अत्रोदरशब्दो न पाकस्थल्या नवोदरगुहाया वाचक, अपि तु मध्यमात्रस्य। प्रदेशवृत्तं श्रुत्वाप्यक्षुब्धः। अविकारिरिक्त केनाप्यविज्ञात तिष्ठेदवसरोपयोगाय।

विकटः = कर्त्तव्ये निष्पक्षो दृढव्रती। न यत्र प्रेम्णो वैरस्य वा प्रभावस्तिष्ठेत्।

विघ्ननाशः = प्रान्तहितव्याघातकानां तत्त्वानां नाशक।

विनायकः = सर्वाभ्युदये न कोऽपि नायकः सर्वेषां समानाधिकारत्वात्, व्यवहार प्रचलनाय नियमनाय च तस्यावश्यकतास्त्येव। अतोऽयं न नायको नचानायकः, अपि तु विलक्षणो नायकः। अहम्भावे विगतनायकत्वाभिमानः कार्ये च विशिष्ट इति वा।

धूमकेतुः = आकाशे उत्पातविशेषद्योतक नक्षत्रम्। तन्न कस्यापि दुःखदात् पर तस्य दर्शनाज्जना बिभ्यति, भवन्ति चातङ्किता.। तद्वदेनं दृष्ट्वा सर्वे साशङ्काः सम्भ्रान्ता वा भवेयुर्यद्यप्यसौ न कस्यापि दुःखदः।

गणाध्यक्षः – स्वगणानां कर्मणामधीक्षकः। येन कर्मकरेषु शैथिल्यमुत्कोच पक्षपातो वा नोपेयात्।

भालचन्द्रः = भालश्चन्द्र इव (आह्लादकः) यस्य सः – तेजस्विशान्तमुखमण्डलः।

गजाननः = गम्भीरमुखमुद्रः। वस्तुजात निवेद्य न कोऽपि निवेदको निवेदनस्य भाव ज्ञातुं प्रभवेत्।

अस्माक राष्ट्रे सर्वत्रैतादृशा गणेशा आसन्। कार्यारम्भे निर्विघ्न परिसमापनार्थं सत्कार एतेषामावश्यक आसीत्। अत एवैष शिवस्य = कल्याणस्य पुनः = फलम्। परमधुना साम्राज्यवादपुञ्जवादमधुना वीतविवेके जगति तादृशपुरुषरत्नानामुत्पत्तिरेव विलुप्ता। पर गतानुगतिका मुग्धा गणेशं नाम्नैव पूजयन्ति सर्पेऽपसृते तस्य रेखामिव।

निर्वचने प्रचारणि आजीवन निर्वचने निर्वाचने च नाधिकृताः स्युः। प्रजाः कानपि योग्यान् स्वेच्छया सानुरोधं निव्र्युरयमस्माकप्रतिनिधिः। तेषां बहुत्वे कादाचित्के

कच्चिदेके पुनर्गणना भवेन्नान्यथा। एवं परस्परं परिचिन्वन्तोऽभयं दास्यन्ति मतम्, नैवं मतं कर्तुं शक्यम्, न च लघुटिना भवादृशेष्टोऽयोग्यो निर्वक्तुं शक्यते।

जनपदसर्वाभ्युदयसमाजस्यैकवर्षानुभवः पश्चादस्तैनैव निरुक्तो भागीयसर्वाभ्युदयसमाजं प्रतिनिधित्वेन गच्छेत्। तन्मध्यतो भागपालस्य मन्त्रिपदस्य निर्वचनं भवेत्। मन्त्री च भागपालेनामन्त्र्य राष्ट्रियवरिष्ठसमानेन च विमृश्य विभिन्नपदेषु मन्त्रिणो नियुञ्जीत। भागस्यैकसूत्रतापादनाय सर्वोच्चसर्वाभ्युदयसमाजकार्ये साहाय्याय च यतेत। जलवरेचनादिव्यवस्था सुगमा साधारणव्यवस्थाश्च कुर्वीत।

भागीयसर्वाभ्युदयसमाजस्य द्विवर्षानुभवो दशमोंऽशः सर्वोच्चसर्वाभ्युदयसमाजं प्रकल्प्य तन्मध्यतो वरिष्ठसमाजमेकनिर्वाचनेन प्रकल्पयेत्। तन्मध्यत एव भागीयसमाजसदस्यानां सर्वथा बहुमतेन वरिष्ठसमाजस्यैकमत्येन च राज्ञो मन्त्रिपदस्य निर्वचनं भवेत्। मन्त्री च राज्ञाऽऽमन्त्र्य विभागीयमन्त्रिणो नियुञ्जीत। सर्वोच्चसर्वाभ्युदयसमाजो वरिष्ठसमाजेन राष्ट्रस्य सर्वकार्यसम्पादने साधिकारस्तिष्ठेत्।

निम्नतमकर्मचारिणो वेतनात्सार्धं वेतनं गणपस्य, तस्मात्सार्धं जनपदमन्त्रिणः, तस्मात्सार्धं जनपदगणेश्वरस्य, तस्मात् सार्धं भागीयमन्त्रिणः, तस्मात्सार्धं भागपालस्य सर्वोच्चसर्वाभ्युदयसमाजमन्त्रिणश्च, तस्मात्सार्धं प्रधानमन्त्रिणः, तस्मात्सार्धं च राज्ञः। एभ्यः सपरिच्छद आवासो राष्ट्रेण देयो यानं च। कर्मकरा आषष्टिवर्षसमाप्तेः सेवां कुर्वन्तोऽवकाशकाले यावद्वर्षं तावन्मासं वेतनं लभेरन्। निरन्तरं पञ्चवर्षं कृषकाः क्षेत्रस्य, निरन्तरं दशकं शुल्केन गृहवासिनो गृहस्य च स्वतः स्वामिनः स्युः, एककालं दशवर्षं शुल्कदातारश्चापि। अन्येषु शिल्पिषु निरन्तरं दशवर्षाणि कर्म कुर्वाणाः स्वतो भागभाजः स्युः। सर्वेन कर्मकराणां भोजनाच्छादनजीवनस्तरश्चाधिष्ठितः स्यात्।

सर्वोच्चसर्वाभ्युदयसमाजानुमतिमनन्या आचरन् भागीयसर्वाभ्युदयसमाजो युद्धम्, शिक्षाम्, सामरिकीम्, शासनव्यवस्थाम्, यातायातव्यवस्थामन्यां च सर्वभागसम्बन्धिनीं व्यवस्थां विहाय सर्वकार्ये स्वतन्त्रः। स एव स्वकेन्द्रे योग्यान् कर्मकरान्नियुञ्जीत अपाकुर्वीत। करस्य पञ्चांशं राष्ट्रियसमाजाय दद्यात्। जगद्वन्द्यो भवता सहयोगेन दशभिर्वर्षैरेतल्लब्धुं शक्यते। "किं दुरापादनं तेषां पुंसामुद्दामचेतसाम्।" भागवते। एवञ्च क्लेशनाशकं राष्ट्रमधुनापि सर्वस्य सुकरमिदमनेन।

नात्युच्चशिखरो मेरुर्नातिनीचं रसातलम् ।
व्यवसायद्वितीयानां नाप्यपारो महोदधिः ॥

स चायमाद्यो विचारः। यथा श्रीमद्भागवते नृणां त्रिंशल्लक्षणवति धर्मे भगवान् व्यास —

अन्नाद्यादेः संविभागो भूतेभ्यश्च यथार्हतः ।
तेष्वात्मदेवताबुद्धिः सुतरां नृषु पाण्डव ! ॥७।११।१०

नायं नवः सम्प्रदायो वादो वा किन्त्वस्माकं पूर्वजानां प्रणाली, मानवस्याद्यः सत्त्वः स्वभावः। सर्वाभ्युदयिना विचारेऽप्यनाग्रहवता भवितव्यम्। साग्रहो विचारो वादरूपतामवगाहते। यो हिंसाप्रधानत्वादधर्मः। विचारश्चापौरुषेयो बुद्धेर्लक्षणम्। विचारस्य ज्ञानस्य न कश्चन निर्माता, केवलमभिव्यञ्जक एव। अत एव ज्ञानमात्रस्यापौरुषेयत्वम्। कर्णपरम्परया श्रूयमाणत्वाच्च तदेव श्रुतिः।

अस्मिन् कार्ये लग्नानां प्रारम्भिकः सहयोग आधारशिलेव भविष्यति। आधारशिलां न कोऽपि पश्यति, पश्यति केवलं गगनस्पर्शिनं सौधम्। परं हर्म्यस्याधारो जनेनानीक्ष्यो विवेकिगम्यो वास्तविकः। अनासक्तवृत्त्या कर्म कर्तुं श्रेष्ठा बुद्धिर्धृतिश्चापेक्ष्यते। उप्त्वा शीघ्रमेव फलेप्सया भूमिमवगाहमाना बालाः श्रमेण सह बीजमपि विनाशयन्ति। "धैर्यं धामवतां धनम्" इत्येव वयम्। लोकानां कटुसमालोचनया नास्माकं भीतिः।

अस्मानवेहि कलमानलमाहतानां येषां प्रचण्डमुसलैरवदाततैव ।
स्नेहं विमुच्य सहसा खलतां प्रयान्ति ये स्वल्पपीडनवशान्न वयं तिलास्ते ॥

अतो वयं लौकैकनिष्ठया बुद्ध्या धैर्येण च युक्ता अखिन्नाः साधने यतिष्यामहे। "उत्साहैकधने हि वीरहृदये नाप्नोति खेदोऽन्तरम्"। चिन्तयतस्तदनुकूलं व्यवहरतश्च वृत्तिपरिवर्त्तनम्। यथा यथा वृत्तिः परिवर्त्तते, पूर्वाभ्यासः शैथिल्यं नवीनश्च दार्ढ्यमुपैति। अतः प्रगल्भवृत्त्या प्रचारिणं मनःकरिणं गरीयस्या निष्ठारज्ज्वा दृढमाबध्य प्रजरोद्यमेन राष्ट्रस्य करणेषूद्यमं प्रपूर्य प्राणेष्वभिनवामक्षय्यां स्फूर्त्तिं प्रतिपलमेधमानमुत्साहं क्रियाशीलतां समभावनां सद्भावनया सहोद्दीप्य सर्वतः प्रसृतमज्ञानं दारिद्र्यं दुःखं कलहं च विनाश्य प्रयतिष्यामहे। अयमस्माकं भूयांसि श्रेयांसि घटयतु विभुः। अस्माकं प्राक्कालिक

इतिहासो विशदोज्ज्वल उत्साहवर्द्धकः। कर्त्तव्यारूढा अनेके मानवा अविचलिता मृत्युं सहर्षमालिङ्गय विधुशेखरस्यानुरागतामुपगताः। सर्वां भूमिं ददतोऽप्यविचलिताः। सत्यम्,—

किंयती पञ्चसहस्री कियती लक्षापि कोटिरपि कियती।
औदार्योन्नतमनसा रत्नवती वसुमती कियती॥

येषां नाम स्मरन्तो वयं धन्याः। येषां कीर्तिगीतिं गायन्तश्चारणा राष्ट्रं राष्ट्रम्, नगरं नगरम्, ग्रामं ग्रामम्, वनं वनं मुखरयन्तः शाब्दिकं कीर्तिस्तम्भमुच्छ्राययन्ति। येषां महिम्ना वयं मूर्धानं साभिमानमुच्चैः कर्त्तुं शक्ताः। "अपि स्वदेहात्किमुतेन्द्रियार्थाद् यशोधनानां हि यशो गरीयः"॥ अस्माकमयं प्राचीनो निधिर्महार्हः पवित्रश्च। तदिदमतीतं गौरवं यस्मद्भिस्तस्याक्षुण्णमर्यादायै यतितव्यम्।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन!
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥
बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद् योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥
नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥

एतदसामान्य रेखाचित्रं मम शरत्माशस्य श्रीमतां समक्षमुपस्थापि, परतश्च समये सर्वे समाजाः सम्मिल्य वैशद्येनाधिकाधिकमुपयोगिनो नियमान् विधास्यन्ति। अस्मत्पूर्वजैः पुत्रवत्प्रपाल्या विश्वसुखं विचारितं भवेत्, पामनया दुःखम्, दारिद्र्यम्, कलहं, भयं चेति। आगच्छन्तु वयं प्रगतिविरोधिनामानन्दशत्रूणां व्यूहं विचूर्ण्य विश्वं प्रकाशयामः। एष मामकीनः प्रस्तावः परतश्च श्रीचरणाः प्रमाणम्।

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत।

पुनश्च, अस्माकं राज्यसमयपर्यन्तं कुलक्रमागतमासीद्, विचार्यैवं जिद्गनि। अतोऽद्य लोकस्य न्यास्य लोकाय प्रत्यर्प्य प्रसीदामितराम्। सम्भाव्यते केचन मां भ्रान्तं मन्येरन्, परमत्र मनः सौख्यस्य शान्तिरानन्दस्य निधिश्च।

एतस्मिन् प्राचीनार्चितेऽपि नवीनवद् भासमाने भुवनमार्गे पथि विचरतां कदाचन स्खलनमपि चेद् विश्वसिमि यद् भगवानस्मान् स्वयं रक्षिष्यति। चलनमारभमाणः शिशुर्मात्रो-पेक्षितोऽप्यन्वीक्षित एव सा सदा तं पतनाद् वारयत्येव। जाग्रद्दशायां रक्षायै सावधाना:, यद्यप्यकिञ्चित्करं तत्, परं स्वप्ने यस्य शक्तौ विश्वसन्तो जीवामः सोऽस्मान् रक्षिष्यति।

विश्वस्य यः स्थितिलयोद्भवहेतुराद्यो योगेश्वरैरपि दुरत्यययोगमायः।
क्षेमं विधास्यति स नो भगवांस्त्र्यधीशस्तत्रास्मदीयविमृशेन कियानिहार्थः
जीर्णा तरिः सरिदियं च गभीरनीरा नक्राकुला वहति वायुरतिप्रचण्डः।
तार्याः स्त्रियश्च शिशवश्च तथैव वृद्धास्तत्कर्णधारभुजयोर्बलमाश्रयामः॥

"सह नाववतु, सह नौ भुनक्तु, सह वीर्यं करवावहै, तेजस्वि नावधीतमस्तु, मा विद्विषावहै।" 'सङ्गच्छध्वम्, संवदध्वम्, सं वो मनांसि जानताम्।' 'मा मा प्रापत् प्रतीचिका'

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥१॥
ये ते पन्थाः सवितः पूर्व्यासोऽरेणवः सुकृता अन्तरीक्षे।
तेभिर्नो अद्य पथिभिः सुगेभी रक्षा च नो अधि च ब्रूहि देव॥२॥

यत्=मनो मनुष्यान्नेनीयते=अत्यर्थमितस्ततो नयति। मन प्रेरिता एव प्राणिनः प्रवर्त्तन्ते। मनुष्यशब्दः प्राणिमात्रोपलक्षकः। सुसारथि=शोभनो यन्ता यथा अभीशुभिः=प्रग्रहैरश्वान्नेनीयते, रश्मिभिर्नयति नियच्छति च। एवं मनोऽपि मानवान् प्रवर्त्तयति नियच्छति च। यच्च मनः हृत्प्रतिष्ठम्=हृदि प्रतिष्ठा यस्य तत्। यच्च मन:, अजिरम्=जरारहितम्, बाल्युवस्थविरेष मनसः समानावस्थता। यच्च जविष्ठम्=अतिजववद्वेगवत्, तन्मे मनः शिवसङ्कल्पम्, शिव:=कल्याणपूर्णः सङ्कल्पो यस्य तादृशमस्तु॥१॥

हे सवितः! देव!=जगतः प्रसवाधिष्ठातः तेजोऽधिष्ठातश्च! ये ते पन्थाः=पन्थानो=मार्गाः अन्तरिक्षे सुकृताः साधुकृताः वर्त्तन्ते। कीदृशास्ते? पूर्व्यासः=पूर्वेषु कालेषु भवाः पूर्व्याः। अरेणवः=नास्ति रेणुर्यत्र=अपांसुला:, तेभिः=तैः पथिभिः=मार्गैरस्मान्नय।

भग एव भगवाँ अस्तु देवास्तेन वयं भगवन्तः स्याम ।
तं त्वा भग सर्व इज्जोहवीति स नो भग पुर एता भवेह ॥३॥
ब्रह्मणस्पते त्वमस्य यन्ता सूक्तस्य बोधि तनयं च जिन्व ।
विश्वं तद् भद्रं यदवन्ति देवा बृहद्वदेम विदथे सुवीराः ॥४॥
स्वस्त्यस्तु विश्वस्य खलः प्रसीदतां ध्यायन्तु भूतानि शिवं मिथो धिया ।
मनश्च भद्रं भजतादधोक्षजे आवेशयतां नो मतिरप्यहैतुकी ॥
शिवमस्तु सर्वजगतः परहितनिरता भवन्तु भूतगणाः ।
दोषाः प्रयान्तु शान्तिं सर्वत्र सुखी भवतु लोकः ॥
पश्येम शरदः शतम्, जीवेम शरदः शतम् ।
नन्दाम शरदः शतम्, मोदाम शरदः शतम् ।

पुनश्च गच्छतोऽस्मान् रक्ष = पालय । अविन्दु हि च अपि अतीन्द्रिय नु हि एते मदीया इति । यद्वा अविन्दु हि = उपदिश यदस्माकं हितं पथ्यञ्च तत् । किम्भूतैः पथिभिः । सुगेभिः = सुगैः । सुखेन गम्यते येषु ते तैः प्रभूतान्नपानैः । व्याधिविघ्नरहितैः ॥२॥

हे देवाः = सत्त्वप्रधानाः, भग एव भगवानस्तु । भगः = ऐश्वर्यम् । "भग श्रीकाम-माहात्म्यवीर्ययत्नार्ककीर्तिषु" इत्यमरः । "ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः । ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा ॥" तेन भगेन वयं भगवन्तः = समस्तैश्वर्यसम्पन्नाः स्याम । हे भग ! सर्व इत् = सर्व एव जनः, त प्रसिद्धं त्वा = त्वां जोहवीति = पुनः पुनरतिशयेन च आह्वयति इष्टसिद्धये । हे भग ! विश्वविदितवीर्य ! स त्वमिह नः = अस्माकं कर्मणि पुर एता = अग्रगामी भव । अग्रेसरो भूत्वा सर्वकार्याणि साधय ॥३॥

हे ब्रह्मणस्पते ! त्वमस्य जगतो यन्ता = नियन्ता । सूक्तस्य = अस्मदुक्तस्य चाटुवचनस्य (कर्मणि षष्ठी) सूक्तं बोधि = बुध्यस्व । अस्मदुक्ता स्तुतिर्भवता ज्ञायतामिति भावः । तनयञ्च जिन्व = अस्मदपत्यानि प्रीणीहि, त्वत्प्रसादाद्देवा यद्भद्रम् = कल्याण-मवन्ति = पालयन्ति तद् विश्वम् = सर्वम्, भद्रमस्माकमस्तु । किञ्च सुवीराः = कल्याणपुत्राः सन्तो वयं विदथे = यज्ञे बृहत् = महद्वचनम्, वदेम = दीयतां भुज्यतामित्यादिवाक्येन ॥४॥

रामवद्राज्यं प्रशासद् द्वेपणान् दमयन् दृढम् ।
श्रीनिवासं शं नमन् सम्पुष्पितं भवतात् क्षितौ ॥४॥

निश्वास एष नवमो गतश्चन्द्रमहीपतौ ।
तौहिने नलिनोपत्रे जगत्पत्रे विलासिनि ॥१॥

निरर्थकपदान्यासे मञ्जलङ्कारशोभिनि ।
निचिते श्रीनिवासेन पण्डितेन्द्राज्ञनिञ्जुपा ॥२॥ खड्गबन्धः।

कमला तरुणयुवाना कान्त्या हरता कदापि नो चेतः ।
किन्तु समाहितशास्त्रं मानसमधिवसतु हंसीव ॥३॥

न्यासि कचन कचन प्रोत्यं विदुषा मया नु काठिन्यम् ।
नीरजमृदुला तन्वी, कुचयोः कठिनेव सम्भाति ॥४॥

किमिह कृतं प्रसभं सकटाक्षं भाषिणो बुधा बहवः ।
किन्तु समाजे विदुषा विरलाः प्रतिभान्ति कर्त्तारः ॥५॥

भवाम शरदः शतम्, शृणवाम शरदः शतम् ।
प्रब्रवाम शरदः शतम्, अजिताः स्याम शरदः शतम् ॥ तैत्तिरीयआरण्यके ।

तस्य मुखहिमवतो निर्गच्छन्ती हितमितं च्योतन्ती मकरन्दमरी शब्दनिर्झरिणी घटीसप्तकमविरलभावेन श्रावकान् वचनामृतेनाप्लाव्य व्यरमत् । लम्बीं गुर्वर्थगम्भीरां स्थिरतडिल्लेखाभास्वरां सरसां सुवर्णां लोकद्वयश्रेयस्करीमार्यहृद्यां नानापुराणनिगमागमसम्मता क्वचिदन्यतश्चाप्युपलब्धां विधूतान्तर्ध्वान्तां वाचमाकर्ण्य साधुवादस्य गगनव्यापिना हर्षघोषेण सह प्रस्तावानुमोदनपुरस्सर स्वस्वराज्यमहमहमिकया सर्वाभ्युदयाय स्वीचकार वचश्चमत्कारप्रभावित प्रसन्नमानस नरेन्द्रमण्डलम् ।

* * *

उद्घोषितो निर्वचनसमयः सम्प्राप्तः । गृहेषु सद्बुद्धयः सह्रीभूय शान्तचेतसा शासनसामर्थ्यं समाजप्रचालनयोग्यताञ्च विचार्य स्वप्रतिनिधीन् निश्चिक्युः । ग्रामगणेशाना निर्वचनं समस्ते भारते शान्त्या प्रेम्णा सौहार्देन जातम् । निरुक्ताश्चापरदिने दर्भपाणयः प्राङ्मुखाः प्रातर्देशस्य भूत्यै प्रतिजज्ञिरे । तस्माज्जनपदसमाजं गत्वा समाजं व्यवस्थापयामासुः, तस्माच्च गता भागीयसमाज ततश्च राष्ट्रियसमाजम् । एव विना व्ययं सर्वत्र निर्वचनमभूत् । राष्ट्रियसमाजश्च देशस्य सर्वां व्यवस्थां सम्पादयितुं स्वमध्यत एकत्रिंशन्मानवाना वरिष्ठसभां निरुवाच । सबहुमान सर्वैरागृहीतो गुणगरीयान्नियोजितदशशक्तिधरो मन्त्रित्वे, जातश्चायं चन्द्रो महीपतिः पट्टराज्ञी कमला च । बहिश्चैका गजला गीतिर्मृदङ्गवाद्येन सहाश्रूयत—

अम्बिका भवतु प्रसन्ना राज्ञि चन्द्रे भूपतौ (स्थायी)
मारमिव यं वीक्ष्य वध्वो जालमार्गकृतेक्षणाः
विस्मृतालङ्कारवस्त्रा मूर्च्छिताः पतिताः क्षितौ ॥१॥
यस्य चलत्करकर्म मर्मत्रोटिनो भृशदुःसहम् ।
श्रुत्वा मृतं विज्ञाय दग्धाः शत्रुकामिन्यश्चितौ ॥२॥
यस्य धिषणां नीतिनिपुणा वीक्ष्य नीतिविचक्षणैः ।
तत्यजे गर्वो मनीषिभिराहितः स्वस्या मतौ ॥३॥

रामचन्द्राज्यं प्रशासद् द्वेषणान् दमयन् दृढम् ।
श्रीनिवासं शं नमन् सम्पुष्पितं भववान् क्षितौ ।।४।।

निश्वास एष नवमो गतश्चन्द्रमहीपतौ ।
दौहित्रे नलिनोपत्रे जगत्पत्रे विलासिनि ।।१।।

निरर्थकपदान्यासे मञ्चलङ्कारशोभिनि ।
निचिते श्रीनिवासेन पण्डितेन्द्रान्जनिम्नुपा ।।२।। खड्गबन्धः ।

कमला तरुणवुधाना कान्त्या हरता कदापि नो चेतः ।
किन्तु समाहितशास्त्रं मानसमधिवसतु हंसीव ।।३।।

न्यासि क्वचन क्वचन प्रोत्यै विदुषा मया नु काठिन्यम् ।
नीरजमृदुला तन्वी, कुचयोः कठिनेव सम्भाति ।।४।।

किमिह कृतं प्रत्यग्रं सच्छ्दार्थं भाषिणो बुधा बहवः ।
किन्तु समाजे विदुषा विरलाः प्रतिभान्ति कर्त्तारः ।।५।।

न्यङ्काङ्केन्दु (१९९१) मितेऽब्दे ज्येष्ठे शुक्ले रवौ दिवसे ।
एकादश्यामेष प्रारम्भि श्रीनिवासेन ।।६।।

तातावृत्रिपद्मयुगले सम्पीतशेषशास्त्रमकरन्दः ।
परमरञ्जनविनोदी प्रलयसितगुरुकुलक्लेशः ।।७।।

विद्वन्मण्डलकोर्त्तितकीर्त्तिः प्रेम्णा मुदे कवीशानाम् ।
श्रावणकृष्णतृतीयारविदिवसे ऽपूरयत्स इमम् ।।८।।

रविदिनविहितारम्भो, रविदिनपूर्णो मनोहरन्यासः ।
सुखयेत्कवी ँश्चिरायासौ चन्द्रः पञ्चसप्ताहः ।।९।।

यस्याभिजनो लाम्बी ह्यधिवसता राजदुर्गमक्लेशम् ।
चक्रे विंशे वयसि स्थित्यै भूत्यै च कीर्त्यै वा ॥१०॥

विद्वद्वीक्ष्य उपास्य आस्यरचनै रस्य प्रशस्य समै
सल्लोकव्यवहारशास्त्रविधिभि सम्पूरिताभ्यन्तर ।
रम्यश्चन्द्रमहीपति सुकृतिभि सेव्य सुखाकाङ्क्षिभि-
र्विन्यस्त कमलानिवासकविना हृद्योऽनवद्यश्चिरम् ॥११॥

वित्तो व्याकरणेषु काव्यनिपुण पौराणिकेष्वग्रणी-
र्गण्यो दर्शनवेदिना व्यवहृतौ सम्प्राप्तसम्पाटव ।
आयुर्ज्योतिरधीतिना सुकुशलो विज्ञानविज्ञो व्रती
राष्ट्राचारविदा वरो वरमति स्वयादिद पुस्तकम् ॥१२॥

वेदेन्द्वभ्रविलोचनेऽ (२०१४) नुसमय सस्कृत्य पौषेऽल्पशा
काङ्क्ष्यश्चन्द्रमहीपतिर्मतिमता मोदाय मुद्रापित ।
यस्या निर्भरसेवया बहुविधे व्यस्तेन कार्यक्रमे
स्तौम्यम्बा च पतञ्जलेस्तनुमतीं सेवा क्षमा पार्वतीम् ॥१३॥

— ० —

पार्वतीविवृतावुद्धृतेतराणामप्रसिद्धानां शब्दानां कोषः

पुष्पाङ्किता शब्दा नवनिर्मिता

अवकर = कूड़ा
अपश्चिम = पूर्व
अनुपेया = अनुपानम्
अवगुण्ठन = घूंघट
*अष्टकेलि = अठखेली
*अवचूर्णन = पाउडर
अन्तर्हसन्ती दिवाल की सिगड़ी
*अवस्तारकिङ्किणी = भालरी की घण्टी
*अयोमञ्जूषा = तिजोरी
अध्याढक = सेर से अधिक
अभ्यवहार = भोजन
अश्रुताभियोग = मुकद्दमे की सुनवाई के बिना
आयति = परिणाम
आरण्यका = वनके छाणें
आमनस्य प्रसवकष्ट
*आवास = कम्पार्टमेन्ट
*आशुशुक्षणितरणि अगनबोट
आक्रोड = बाग
आश्वीन = अश्वसे एक दिन में जाने योग्य मार्ग
आप्रपदीन = अचकन
आवी = प्रसवव्यथा
इला = पृथ्वी
*उष्णीष = साफा
*उत्त्वरा = उतावली
उपबर्ह = मसड
उदन्यत् = पिपासु
उत्कोच रिश्वत
उष्णीषिका = टोपी, पगड़ी
एषम = इस वर्ष (एसकै)
और्ण = ऊनी

क

कणहत्य = आतृप्ति
*कञ्चुककोश = नेबका धन
*करकर्पट } रुमाल
*करवास }
कविका = घोड़के मुंह का कड़ा
करटी गज
कशेरुका = पृष्ठास्थि
करोटि = शिरोस्थि
कारण्डव = पक्षिभेद
कान्दविक = कन्दोई, मिठाइवाले
कासर = महिष
कंसार ह्रद
कीकसम् = अस्थि
कुणिन्द = वन्यजाति
*कुचमादी = कुचानां स्तन्य पीत्वा माद्यति स = बाल ।
कुणि = वक्रकर

प्रवात = बवण्डर (साईक्लोन)
प्रावरण = ओढ़नेका वस्त्र
*प्राभातिकः = परभाती राग
पाथ = जालम्
पात्रेसमिताः = भोजनकाले एव सङ्गता
पारितथ्या = सोमन्तव्यस्वर्णपट्टिका (खाचा)
पारिहार्य = (कङ्कन)
पिच्चित = पिचगये
पिचुमन्द = निम्ब
पेरुः = सूर्यः
प्रोञ्छ्य = पोंछता हुआ
*पौरप्रतिष्ठान = सिटी कार्पोरेशन

फ

*फुल्लझरी = फूलझड़ी

व

वालखिनः = उदयन् सूर्यः

भ

*भूमिदारः = ज़मीन्दार

म

*मरुत्तर = मोटर
*मञ्चनटी = स्टेज एक्ट्रेस
*मार्गलाघव = शोर्टकट
माधवती = इन्द्र की
मुद्रा = मुद्दा (वाउचर)

र

*रसगुल्ल = रसगुल्ला
राजिका = राई
रोमन्थ = जुगाली

व

वल्मीक = सर्पबिल (बाम्बी)
वृषस्यन्ती = गर्भाधानार्थं वृषेच्छु गौ।
बबस्तु = बाम्बी
वटक = बड़े
व्यथाः = वेधे
वितान = तम्बू, आसमाना
वायुध्वनि = ह्रासल
वाशित = पक्षिशब्द
विस्फूर्जथुः = वज्रनिर्घोषः
*वृन्दवाद्य = बैण्ड
*विपद्विवरण = डायरी देना
वीध्रम् = विमलम्

ल

लम्बन्तिका = हारः
*लिङ्गादः = लङ्गोट (लिङ्गमत्तीति)
लुलायः = महिषः
*लोकपथः = राजमार्गः

श

*शकृच्छोधनजीवी = महतर
शामाल्म् = शमी का भस्म
शिरोत्नम् = शिरोभूषण, बोर
शुन्ध्युः = अग्निः (३०७ उणादिः।)
*शुल्कावास = होटल।

स

समासप्तकनीक = सत्तरवर्ष से बूटा
सपर्वादम् = पैतरे के साथ
सिकतापवतः = बालू के टीले
*सेब = (एपल)
संचरण = राजमार्ग
सज्जः = प्रस्तुत, सन्नो वाद्यो वा

कृष्णाप = खिजाव
केकरः = विकृतनेत्रः (ऐंचा)
*केशनिर्मोकमोची—वालकी खाल खींचने वाला
कौलेयकः = श्वा
क्षीरस्यन् = दूध पीने की इच्छा से

ग

गुल्फालङ्करणम् = पाजेव
गोफणा = गोफिया
गगाधररस. = अतिसाररोधकौषध ।

च

*चलचित्र = सिनेमा
*चषकः = प्याला

ज

*जम्बीरचूषिका = लेमनचूस
जीवातु. = जीवनौषधम् ।
जैवातृकः = चन्द्र.
*ज्योतिःशलाका = रगशलाई

त

*तरलमञ्च = स्प्रिगदार मचाण
ताम्बूलवीटिका = पान बीड़ा

द

दाधिरयम् = दही से सस्कृत
दीपशलाका = दियासलाई ।

ध

*धूमशकटीपथिकावासः = मुसाफिरखाना

न

निशान्तम् = गृहम्
*निवेशकः = तम्बू गाड़ने वाले
निष्य. — चाण्डाल
निर्बन्धः = आग्रह
नीविः — अण्टी
नीशार = रजाई = सोड
नेमाक्रान्त = आधे दबाये हुए
नैकटिकः = भिक्षु

प

परारि — गतवर्ष
पल्ली = छिपकली, छोटा गाव, ढाणी ।
*पक्षकोटर = पोकेट
*परिवरण = चौखटा, फ्रेम
*परिष्करण = पालिश
पत्रपाश्या = ललाटाभरण = मागटीका
*पटत्कार = पटाखे
पत्ररथ = पक्षी
*पथिकावास = पेसेञ्जरट्रेन का डिब्बा
*परजीवी = ⎫ दूसरों पर जीने वाले
*परैधित = ⎭ (पैरासाइट)
*पदपद्या = फुटपाथ
*प्रतानिनी = झालरी
प्रसृति. = चुल्लू
*प्रतीक्षाभवन = वेटिङ्ग रूम
*प्रतिपरीक्षण = जिरह

प्रवात = बवडर (साईक्लोन)
प्रावरण = ओढनेका वस्त्र
*प्राभातिकः = परभाती राग
प्रासः = भालम्
प्रेमसिता. = मोचनकके एव सक्तता
पारितथ्या = सीमन्तस्थस्वर्णपट्टिका (खाचा)
परिहार्यः = (कङ्कन)
पिचित = पिचगये
पिचुमन्द = निम्ब
पेरुः = सूर्यः
प्रोञ्छन् = पौंछता हुआ
*पौरप्रतिष्ठान = सिटी कार्पोरेशन

फ

*फूत्कारी = फूलझड़ी

ब

बालमित्रः = उदयन् सूर्यः

भ

*भूमिहार. = जमीन्दार

म

*मरुत्तर = मोटर
*मञ्चनटो = स्टेज एक्ट्रेस
*मार्गलाघव = शोर्टकट
माघवती = इन्द्र की
मुद्रा = मुद्दा (बादाम)

र

*रसगुल्म = रसगुल्ला
राजिका = राई
रोमन्थ = जुगाली

व

वल्मीक = सर्पबिल (बाम्बी)

वृषस्यन्ती = गर्भाधानार्थ वृषेच्छु गौ।
वचक्नु = वाग्मी
वटक = बड़े
व्यस्ताः = वेस्रो
वितान = तम्बू, आसमाना
वायुध्वनि = हासल
वादित = परिशब्द
विस्फूर्जथुः = वज्रनिर्घोषः
*इन्दवाय = बैण्ड
*विपद्विवरण - डायरी देना
वीध्रम् = विमलम्

ल

ललन्तिका = हारः
*लिङ्गाट = लङ्गोट (लिङ्गमटतीति)
लुलायः = महिष
*लोकपथः = राजमार्गः

श

*शकृच्छोधनजीवी = महतर
शामीलम् = शमी का भस्म
शिरोत्रम् = शिरोभूषण, वीर
शुन्ध्युः = अग्निः (३०७ उणादिः।)
*शुल्कावास = होटल।

स

समासप्तसमीक = सत्तरवर्ष से बूढा
समर्यादम् = पैंतरे के साथ
सिकतापतवः = बालू के टीबे
*सेव = (एपल)
सञ्चरण = राजमार्ग
सज्जः = प्रस्तुत, सजो वातो वा

शुद्धिपत्रम्

उपर नीचे को मात्रायें, रेफ टूट गये, भ म, व ब, अनुस्वार म्, आश्चर्यबोधक, सम्बोधन, प्रश्नबोधक, चिह्नों का विपर्यय, ओ, ई की मात्रायें ठीक न लगीं, ये अशुद्धिया पाठक स्वय शुद्ध करें। विशेष अशुद्धियों की शुद्धि दी जाती है।—प्रकाशक

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१७	४	आधारो	आधारी
१८	२१	हासप्रिय	उपहासप्रिय
२१	५	वार्द्धक्यभावा	वार्द्धका
२३	२	तदनु	तमनु
२५	२४	प्रार्थयामि	प्रार्थये
२९	११	स्त्व	स्तात्वा
३१	१५	ह्यमान	ह्यमानम
३२	१३	०यत्या	०यतिया
३४	५	चक्षते	चक्षते
३४	६	,,	,,
३७	१४	स्वीय	स्वकीय
४२	२२	नानत्रात	त्रायध्वम् नायध्वम्
५०	६	माने	जाने
५०	६	दस्था मुग्ध	विदग्धमुग्ध
५२	२०	दूरयन्तौ	दवयन्तो
५४	११	विधास्माम	विधास्याम
६३	१	एलायितु	पलायितु
६५	१२	वेत्त	वेत्त
६७	२५	परद्यो	पर द्यो
७१	६	सद्दन्त	सहमाना
७१	७	स्मिकार्ये	स्मिन् कार्ये
७२	१३	प्रत्यैत	प्रत्यैयत
७३	२४	वार्द्धक्य	वार्द्धक
७४	२३	प्रत्यैद्	प्रत्यैयत
७५	२०	मुदविजीत्	मुदवजयत्
७५	२६	नाक्षिणौ	नाक्षणि
७५	१४	लिह्न्	लिहान
७९	२३	मपानैवान्	मपानैषु
८३	२	प्रत्यैत	प्रत्यैयत
९६	२२	गृहीदर्वौ	गृहीतदर्वौ
११२	२२	द्वावेव च महोल्कौ	= महोल्क प्रत्यैयत
१०७	२१	रुद्धरिप्मतिरुद्धत्तं	शक्यते
१२४	१७	सरोजिनी नितरा	मनोरमा नितरा
१२६	१९	समाकृष्टकामिना	समाकृष्ट कामिनीना
१२८	१	हात	हीन
१३३	१७	प्रकृतिको	प्रकृतिक
१३९	१९	मपेत	मुपेत
१४०	१९	नृताभोग	वृताभोगम
१४०	१८	इयन्त महान्तम	इयन्सद्दद

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१६१	२	दर्सितान्	दर्शिते	२०३	२	दृश्येव	दृष्टीन
१६४	२	मुक्तार	मुक्तारत्नाङ्कित०	२०८	२२	जगदस्मि	जगतोऽस्मि
१६५	१५	चवमदन्त	चानमदन्तः	२२४	१५	निवन्तो	निर्वन्धो।
१६६	८	प्रौड	प्रौढो	२२६	६	विस्कार्य	विस्फार्य स
१७२	४	धारा० स	धारास्वे	,,	२१	कौचन्चेन	कौचन्चेन
१७२	१५	द्वितावास	द्वितानास	२२८	३	अविसाभव	अविसापदै
१७८	६	सहर्तोद्दीप	सहर्से ह्रीन				

गीतिपरिचयः

पृष्ठे

२६ कुब्जा दत्तविच्छर्वि नगरश्विनियाल्लिताः।

२८६ अस्वि मवतु प्रथवा रात्रि चन्द्रे भूपतौ।

१७३ हा [व० कामौ प्रियो मे कृष्णवर्णैः शोभितः

एतालिके गजलश्वाख्या०।

१७२ न्यो हूँ लि नावः वास्ते मे (स्थायी)

खम्भ थाट, ताल कहरवा।

धु स सु ग०० गमम० गम रेगस०

सुमाभ्म०—(अन्तरा

घ स स घ स सा, सरिरि ग० सरिस गमम ग० रे ग स०

— ० —

१७१ प्रियवर। प्रनेनयोः। राजस्थानी माड

———

अन्तरा

		ग रे सा नि	सारे ग ग ऽ
		शो — तः	सा — न्त्रो —
— रम' प म	रे म ग ऽ	प नि नि नि	पनि सानि ध ऽ
रा — यु —	वां — ति —	वि — द्यु न	प — — त्वा --
ऽमम ग म	म पप प —	प ग रें ग	सा रें सा —
सह चा —	न ति	प्रो — षि त	प ति का —
नि — सा —	सरें सानि ध प	ध ध ध —	ध ध नि नि
मु — ग्धा —	त — रु — णी	घ न घो —	र न दी —
— पध सां नि	ध ऽ प ऽ	सां सानि ध ऽ	प पम ग म
— — प —	स्यं तो	दृ श मे	त ट त टू
रेग मप धप मग	रेम सानि ध प		
नि ज ते —	— - — —		

—.—